864/H

ई कि शराब खून के

ाग को नुकसान प

ी मौत का कारण

जरिए

Rs 20/=
Ved Mandir Library
No. 864-H
Date 24/11/1982
JAMMU.

मानस-चिन्तन

(३)

लेखक

रामकिंकर उपाध्याय

प्रकाशक :

तुलसी तत्त्वानुसन्धान केन्द्र

४।२७३, बलभद्रप्रसाद तिवारी रोड

कानपुर (उत्तरप्रदेश)

प्रथम संस्करण अगस्त १९७३
मानस चतुःशती के अवसर पर

सर्वाधिकार सुरक्षित लेखक द्वारा

मूल्य २० रु०

पुस्तक मिलने का पता
तुलसी तत्त्वानुसन्धान केन्द्र
४।२७३, बलभद्रप्रसाद तिवारी रोड
कानपुर (उ० प्र०)

मुद्रक— भार्गव ऑफसेट्स
मच्छोदरी, वाराणसी

Ved Mandir Library
No. 864-H
Date 24/11/1982
JAMMU.

दो शब्द

श्री रामः शरणं मम

मानसचिन्तन के तृतीय खण्ड का प्रथम संस्करण श्री केशवप्रसादजी गोयनका की श्रद्धा भावना से प्रकाशित हुआ था। कई वर्षों से यह अनुपलब्ध था। प्रेमियों की ओर से बार-बार इसके पुनर्प्रकाशन की माँग की जा रही थी। प्रभु-कृपा से इसका द्वितीय संस्करण तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र के द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

इसके प्रथम संस्करण व द्वितीय संस्करण की समग्रता में कई लोगों की सेवा सम्मिलित है। श्रीमती शीला कोचर, श्री उमाशंकर शर्मा, श्री गोविन्दप्रसाद दुबे तथा श्री मैथिलीशरण शर्मा (सुरेश शर्मा) को मैं हार्दिक आशिष देता हूँ।

रामकिंकर

विषय-सूची

१.	रावण का जीवन-दर्शन	४—११
२.	दसमुख और दशरथ	१२—१४
३.	महाराज श्रीदशरथ	१५—४१
४.	शोभा, शील और तेज	४२—४५
५.	अवतार की मङ्गलमयी बेला	४६—५०
६.	नौमी तिथि	५१—८०
७.	कौशल्यानंदवर्द्धन श्रीराम	८१—८९
८.	बिप्र धेनु सुर सन्त हित	९०—९९
९.	एक साम्प्रदायिक प्रश्न ?	१००—१११
१०.	ब्रह्म का रुदन	११२—१२१
११.	मास दिवस कर दिवस भा	१२२—१३०
१२.	नामकरन कर अवसरु जानी	१३१—१९७
१३.	अद्भुत रूप अखंड	१९८—२२०
१४.	बाल-क्रीड़ा और आध्यात्म तत्त्व	२२१—२२७
१५.	शास्त्र और शस्त्र	२२८—२३७
१६.	ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और महामुनि विश्वामित्र ..	२३८—२६१
१७.	पुरुषसिंह श्रीराम	२६२—२७५
१८.	ताड़का वध	२७६—२९१
१९.	यज्ञ-संरक्षण	२९२—३०६

श्री रामः शरणं मम

श्री गणेशाय नमः

भगवान राम के अवतार की पृष्ठभूमि समझने के लिए रावण के व्यक्तित्व और उसकी विचारधारा को समझ लेना आवश्यक है। मानस में रावण का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह अनेक समालोचकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, विशेष रूप से उन अध्येताओं को जो वाल्मीकि रामायण में वर्णित रावण से इसकी तुलना करते हैं। कुछ आलोचकों ने गोस्वामी जी के इस कार्य को राम के प्रति उनके पक्षपात के रूप में देखा है। एक इतिहास लेखक से जिस निष्पक्षता की आशा की जाती है, उनको तुलसीदास में इसका अभाव दिखाई देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाल्मीकि रामायण और अन्य ग्रन्थों में रावण के व्यक्तित्व का जो विराट रूप देखने को मिलता है उसकी तुलना में मानस का रावण, हीन और दुर्गुणों का पुञ्ज ही प्रतीत होता है।

किन्तु इसे समझ पाना तब अत्यन्त सरल हो जाता है जब हम इस तथ्य पर विचार करते हुए गोस्वामी जी के उद्देश्यवादी दृष्टिकोण को हृदयङ्गम कर लेते हैं। उनका काव्य, मात्र कला के लिए न होकर एक विशेष आदर्श के लिए समर्पित है। उनके लिए मुख्य प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि वास्तविकता क्या है? न तो उनकी यह महत्वाकांक्षा ही थी कि वर्तमान या भविष्य में उनको यथार्थवादी या निष्पक्ष कवि-कलाकार के रूप में सम्मान प्राप्त हो। वे एक भक्त थे और भक्त निष्पक्ष नहीं होता यह उनकी खुली घोषणा है।

भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने यथार्थ का परित्याग कर असत्य का आश्रय लिया हो। फिर भी उनका सत्य सम्बन्धी दृष्टि-कोण प्रचलित धारणाओं से भिन्न है। एक योग्य चिकित्सक

रोगी से व्यवहार करते हुए केवल रोग सम्बन्धी तथ्यों का विस्तृत विवरण उपस्थित करना आवश्यक नहीं समझता। वह रोगी के सामने केवल उतना ही कुछ कहता है जितना उसकी स्वस्थता के लिए आवश्यक है। क्योंकि वह जानता है कि रोग का विश्लेषण और तथ्य स्वयं उद्देश्य न होकर आरोग्य का साधन मात्र हैं। तुलसीदास अपने महान ग्रन्थ का प्रणयन करते हुए इसी दृष्टि-कोण को सामने रखते हैं। वर्तमान युग-संदर्भ को दृष्टि-गत रखकर विचार करने पर गोस्वामी जी का कार्य सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है। जिन कवियों अथवा लेखकों ने अपने लेखन का मुख्य उद्देश्य यथार्थ का नग्न रूप प्रस्तुत करना मान लिया उनको यथार्थवादी कलाकार के रूप में व्यक्तिगत प्रतिष्ठा भले ही प्राप्त हुई हो, पर समाज पर उनका घातक प्रभाव पड़ा। नग्नता का अपना आकर्षण तो होता ही है; पर उस नग्न-चित्र से साधारण दर्शक पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। भले ही पाश्चात्त्य देशों में कला अथवा काव्य के प्रति यथार्थवादी दृष्टि-कोण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया हो परन्तु भारतीय दृष्टि-कोण इस विषय में सर्वथा भिन्न है।

बुराई का ऐसा चित्रण जो लोगों के अन्तःकरण पर ऐसी छाप छोड़े कि एक बार बुरा बनने को मन मचल उठे, समाज के लिए किसी भी प्रकार कल्याणकारी नहीं हो सकता। बुराई और पाप को एक स्वादिष्ट व्यञ्जन के रूप में लोगों के सामने नहीं प्रस्तुत किया जाना चाहिए। क्योंकि उसका चटपटापन ऐसे व्यक्तियों को जिनके अन्तःकरण में पहिले से ही बुराई के प्रति आकर्षण विद्यमान है, कुपथ्य की ओर प्रेरित करता है। इसी मनोवृत्ति की झाँकी हमें उन जन-श्रुतियों से मिल जाती है जो डाकू और लुटेरों के विषय में प्रचलित हो जाती हैं। प्रत्येक बुरे व्यक्ति के साथ कुछ ऐसी घटनाएँ जोड़ दी जाती हैं जिसमें यह बताया जाता है कि वह डाकू या लुटेरा होता हुआ भी कितना सच्चरित्र, उदार या पुजारी है। ऐसी धारणाएँ इस प्रकार के लोगों के लिए सुरक्षा-कवच का कार्य करती हैं। इसके द्वारा वे जन सहानुभूति प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। और

जव खल-नायक को नायक जैसी या उससे भी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाए तव लोगों के मन में खल-नायक वनने की वृत्ति का उदय स्वाभाविक है।

इतिहास में ऐसे पात्रों का अभाव नहीं है जो खल-नायक होते हुए भी नायक से कम लोकप्रियता नहीं प्राप्त करते। ऐसे ही पात्रों में एक महारथी कर्ण के गौरव की गाथा जिस रूप में प्रस्तुत की गई है वह अधिकांश पाठकों के मन में अद्भुत श्रद्धा का सृजन करती है। उसका शौर्य, धैर्य और दानशीलता सभी कुछ अद्वितीय जान पड़ती हैं और ऐसा लगने लगता है कि जैसे महाभारत के उदात्त नायक अर्जुन की अपेक्षा कर्ण का चरित्र महा श्रेष्ठ है। फिर भी भगवान श्रीकृष्ण कर्ण के नहीं अर्जुन के साथ हैं। और वे अर्जुन को कर्ण के वध के लिए प्रेरित करते हैं। उनका हृदय कर्ण की उन विशेषताओं से द्रवित नहीं होता जिसे पढ़कर अधिकांश व्यक्ति भावाभिभूत हो जाते हैं। युद्धक्षेत्र में वे ऐसे समय कर्ण पर प्रहार का आदेश देते हैं जब उसके रथ का पहिया कीचड़ में फँस चुका था और वह धनुषवाण रखकर रथ-चक्र को निकालने का प्रयास कर रहा था। अर्जुन हिचकिचाता है पर श्रीकृष्ण निर्मम भाव से प्रहार का आदेश देते हैं।

कृष्ण में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। वे जानते हैं; कर्ण कितना भी आकर्षक क्यों न हो, वह अपने समस्त सद्गुणों के साथ दुर्योधन के प्रति समर्पित है। उसकी विजय स्वयं उसकी विजय न होकर दुर्योधन की विजय है। रोग के कीटाणु कितने भी आकर्षक क्यों न हों, मृत्यु के संदेशवाहक हैं। उन पर पूरी निर्ममता से प्रहार किया जाना चाहिए। बुराई के प्रति यही वह दृष्टिकोण है जिसे गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य में स्वीकार किया है। वे संक्षेप में रावण के व्यक्तित्व के सभी अङ्गों पर प्रकाश डालते हैं; फिर भी वे रावण को जनमानस के किसी कोने में प्रतिष्ठित नहीं देखना चाहते।

"रावण का जीवन-दर्शन"

रावण के पाण्डित्य को प्रदर्शित करने वाली अनेक गाथाएँ पुराण, काव्य और जनश्रुतियों में प्रचलित हैं। इनमें से एक गाथा वह है जिसमें यह बताया गया है कि रामेश्वर स्थापना के प्रसङ्ग में भगवान राम ने रावण को आचार्य के रूप में वरण किया था। दूसरी गाथा वह है जिसमें यह बताया गया है कि रावण के अन्तिम समय में भगवान राम ने लक्ष्मण को राजनीति की शिक्षा लेने के लिए रावण के सन्निकट भेजा था। रामचरित मानस इनमें से किसी भी घटना को स्वीकार नहीं करता; फिर भी वे रावण के पाण्डित्य को अस्वीकार नहीं करते। रावण के घर में वेद-पाठ के लिए स्वयं लोक पितामह ब्रह्मा आते हैं। ऐसा उन्होंने कवितावली रामायण में स्वीकार किया है।

"वेद पढ़ैं विधि सम्भु सभीत पुजावन रावन सों घर आवैं"

त्रिभुवन गुरु शिव से दीक्षा प्राप्त करने वाला रावण महान् पण्डित था, यह असंदिग्ध है। पर रावण का यह पाण्डित्य ही उसके लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। क्योंकि अपने पाण्डित्य के बल पर उसने अपनी दुर्बलताओं को ही दर्शन का रूप दे दिया। दुर्बलताएँ अनेक व्यक्तियों में होती हैं। पर ऐसा व्यक्ति अपने कार्य के अनौचित्य को बुद्धि से समझता और स्वीकार करता है। यह बौद्धिक स्वीकृति ही उसे भविष्य में बुराइयों से विमुख बना सकती है। किन्तु जहाँ मन की दुर्बलताओं को बौद्धिक तर्कों का आश्रय लेकर सिद्धान्त के नाम पर प्रतिष्ठापित किया जाय वहाँ बुराई का छूटना सर्वथा असम्भव हो जाता है। रावण की स्थिति ठीक इसी प्रकार की थी। उसमें पाण्डित्य और पुरुषार्थ का अद्भुत समन्वय था। महत्वाकांक्षा उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। अपनी कामनाओं को पूरा करने के लिए वह देवाराधन से लेकर निम्न कोटि के छल तक सभी साधनों का प्रयोग करता है। इन विविध साधनों के द्वारा उसने ऐसी सफलताएँ प्राप्त कीं जो असम्भव प्राय थीं। पौराणिक परम्परा में इस धरा को मृत्युलोक की संज्ञा दी गई है। यहाँ जो कुछ है वह नश्वर है।

जन्म और मृत्यु का चक्र अपरिहार्य है। सारी पौराणिक परम्परा में इसी मान्यता का वर्णन और उसकी पुष्टि की गई है। पुराणों में जिस अमृतत्व का वर्णन किया गया है वह शारीरिक न होकर आत्मिक है। रावण इसे अपरिहार्य सत्य के रूप में मानने को प्रस्तुत नहीं होता। उसने मृत्यु के सम्भावित कारणों पर विचार किया और उनमें से प्रत्येक द्वार को वन्द करने के लिए अभूतपूर्व पुरुषार्थ का आश्रय लिया। और ऐसा लगा कि जैसे उसने मृत्यु के सारे मार्ग अवरुद्ध कर दिये हैं। रावण के जीवन और आयु सम्बन्धी आँकड़े इतने लम्बे हैं कि उन पर विश्वास करना ही कठिन है। उसने चिर्‌यौवन और दीर्घ-जीवन दोनों स्वप्नों को साकार कर दिखाया।

रावण की दृष्टि में सृष्टि की रचना के पीछे शक्ति और प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया कार्य कर रही है। प्रकृति की शक्तियों और देवताओं की क्षमताओं पर विश्वास रखता हुआ भी वह किसी ऐसे ईश्वर को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था जो सारी प्रकृति और देव-शक्तियों का निर्विवाद स्वामी हो। उसकी दृष्टि में देवत्व भी विकास की प्रक्रिया का ही एक परिणाम था। वह महादेव अथवा विष्णु को विशिष्ट क्षमतासम्पन्न देवता के रूप में तो स्वीकार करता है, पर वे वस्तुतः ईश्वर हैं उसने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यता थी कि शक्ति और प्रकृति पर अधिकार कर लेना ही ईश्वरत्व का परिचायक है। प्रत्येक शक्ति-सम्पन्न अपनी सीमाओं में ईश्वर है। इसलिए वह स्वयं को भी शक्ति के स्वामी के रूप में ईश्वर मानने में नहीं हिचकिचाता। उसकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा पर यत्किञ्चित् प्रकाश 'कवितावली' रामायण के एक प्रसङ्ग से पड़ता है। सारी लङ्का जल रही थी। रावण ने मेघों को आदेश दिया कि वे अपने जल-वर्षण से अग्नि को बुझा दें। मेघों ने उसकी आज्ञा का पालन किया; किन्तु भीषण वर्षा से भी अग्नि शान्त होने के स्थान पर अधिकाधिक प्रज्वलित होती गई। वयोवृद्ध मन्त्री माल्यवान को ऐसा लगा कि यह ईश्वर की प्रतिकूलता का परिचायक है। वे अपना आश्चर्य प्रगट किए विना न रह सके।

इहाँ ज्वाल जरे जात, उहाँ ग्लानि गरे गात,
सूखे सकुचात सब कहत पुकार हैं।
जुग षट भानु देखे, प्रलय कृसानु देखे,
सेष मुख अनल विलोके वार वार हैं।
तुलसी सुन्यो न कान सलिलु सर्पी समान
अति अचिरिजु कियो केसरी कुमार हैं।
बारिद वचन सुनि धुने सीस सचिबन्ह
कहैं दससीस **ईस बामता बिकार हैं।**

रावण इस युक्ति पर झुंझला उठता है और वह क्रुद्ध स्वर में माल्यवान से पूछता है—कौन है यह ईश्वर? जो मेरे विरुद्ध चलने की चेष्टा कर रहा है। सारी प्रकृति मेरे अधीन है। काल मेरी इच्छा के अनुकूल आचरण करता है। शङ्कर मेरे अनुकूल हैं। विष्णु मुझसे सदा सशङ्क रहते हैं। तपस्या के द्वारा मैंने ब्रह्मा को मोल ले लिया है। कौन सृष्टि में मेरी तुलना कर सकता है? फिर तुम पागलों की तरह किस ईश्वर की चर्चा करते हो?

पावकु, पवनु, पानी, भानु, हिमवानु, जमु,
कालु, लोकपाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।
साहेबु महेश, सदा संकित रमेसु मोहि,
महातप साहस बिरंचि लीन्हे मोल हैं।
'तुलसी' तिलोकु आजु दूजो न विराजै राजु,
बाजे-बाजे राजनि के बेटा बेटी ओल हैं।
को है ईस नाम, जो वाम होत मोहू से, को
मालवान रावरे के वावरे से बोल हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रावण, ब्रह्मा-विष्णु-शिव की विशिष्टता को स्वीकार करता हुआ भी उन्हें ईश्वर के रूप में नहीं मानता। उसने शिव को अनुकूल बनाने की चेष्टा की क्योंकि शिव उसकी दृष्टि में काल के देवता हैं। ब्रह्मा को वह तप के द्वारा क्रीत वस्तु के रूप में देखता है। विष्णु के प्रति उसके मन में प्रतिद्वन्द्विता की भावना है। पर वह किसी अद्वितीय ईश्वर की कल्पना से झुंझला उठता है। रावण के लिए न तो उपनिषदों के ब्रह्म में कोई

आकर्षण था और न ही भक्तों के ईश्वर में। उपनिषदों का ब्रह्म निर्गुण, निराकार, कूटस्थ और द्रष्टा मात्र है। आत्म-तत्त्व के बोध के लिए जिस वैराग्य की अपेक्षा है वह रावण के आसक्तिमूलक स्वभाव से थोड़ा भी मेल नहीं खाता। उसे वह समाधि भी अभीष्ट नहीं है जिसमें आत्म-तत्त्व को छोड़कर और कुछ अवशिष्ट नहीं रहता है। भक्ति-सिद्धान्त का ईश्वर तो उसे किसी भी प्रकार अभीष्ट हो ही नहीं सकता था क्योंकि वह किसी के प्रति समर्पित होने की तो कल्पना भी नहीं कर सकता।

पर-वस जीव स्व-बस भगवंता।
जीव अनेक एक श्रीकंता।।

इस पँक्ति में जीव में जिस पारतन्त्र्य की कल्पना की गई है वह रावण जैसे अभिमानी व्यक्ति के लिए सर्वथा असह्य है। अपने को शून्य और समर्पित कर पाना उसके लिए सर्वथा असम्भव था। उसके लिए यदि कोई ईश्वर हो भी तो वह उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन मात्र होना चाहिए।

ऐसी स्थिति में रावण के लिए वैदिक और भक्ति-परम्परा की दोनों ही मान्यताएँ अनुकूल नहीं थीं। उसे आकृष्ट किया था तन्त्र की बामाचार-पद्धति ने, क्योंकि तन्त्र-ग्रन्थों में स्वयं ही शिवत्व और ईश्वरता आरोपित की गई है। वैसे तो औपनिषदिक परम्परा भी जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती है पर तन्त्र और उपनिषद् की विचारधारा में वहुत अन्तर है। उपनिषद का ब्रह्म शक्ति से सम्बद्ध नहीं है जबकि तन्त्र-परम्परा शक्ति की गौरव गाथाओं से ओत-प्रोत है। वहाँ प्रत्येक नारी में शक्ति का दर्शन है। स्वयं साधक शिव रूप है। मद्य, मांस आदि पूजा के उपकरण हैं। शिव शक्ति के विहार आनन्द की अभिव्यक्ति का साधन है। रावण की भोगवादी मनोवृत्ति के लिए कौल-तन्त्र में वह आकर्षण विद्यमान थे जो उसे जीवन में अभीष्ट थे। वह स्वयं को शक्ति के पुत्र के रूप में नहीं, अपितु शक्ति के स्वामी के रूप में देखना चाहता था। मानस में कौलाचार और बामपन्थ को इसीलिए अत्यन्त हेय सिद्ध किया गया है क्योंकि वह भक्ति-परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है। रामायण

में जीवित रहते हुए भी शव के समान जिन व्यक्तियों की कल्पना की गई है उनमें सबसे पहिले कौलों का ही नाम लिया गया है। रावण निश्चित रूप से कौल मतानुयायी है यद्यपि वह इस सिद्धान्त का भी दुरुपयोग ही करता है। तान्त्रिक विचार-सरणी अपने मूल रूप में अध्यात्मवादी होते हुए भी वहिरङ्ग रूप में आधुनिक भौतिकवादी विचारधारा से मेल खाती है। आधुनिक विज्ञान और रावण का कौल मत दोनों ही शक्ति को अपनी साधना का केन्द्र मानते हैं। शक्ति के प्राकट्य की पद्धति में भेद होते हुए भी दोनों की मनोवृत्ति में समानता है। आधुनिक विज्ञान वस्तु में निहित शक्ति को विविध उपायों से अभिव्यक्त करता है और उस शक्ति का अपनी इच्छा के अनुकूल प्रयोग करता है। प्रकृति की शक्ति तथा उसके क्रिया-कलापों पर अधिकार पा लेना उसे अभीष्ट है। कौल-तन्त्र भी शक्ति की असीम क्षमताओं को स्वीकार करता हुआ अभिव्यक्ति के लिए मन्त्र और उपासना के उपयोग की पद्धति स्वीकार करता है। इसलिए शक्ति के जो विविध चमत्कार आविष्कारों के रूप में विश्व के सामने प्रगट हैं वे ही चमत्कार रावण ने अपनी उपासना-पद्धति से प्रगट कर लिए थे। प्रकृति के समस्त अङ्गों का वह स्वामी वन बैठा। अग्नि, वायु, जल सभी उसकी इच्छा के अनुकूल आचरण करते हैं। इस तरह शक्ति के स्वामी के रूप में वह स्वयं को प्रति-ष्ठापित करता है।

रवि ससि पवन वरुन घन धारी।
अगिनि काल जम सब अधिकारी।।
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा।
हठि सबहीं के पंथहिं लागा।।
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी।
दसमुख वसबर्ती नरनारी।।
आयसु करहिं सकल भयभीता।
नवहिं आइ नित चरन बिनीता।।
भुज वल विस्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र।।

उसने जीवन में जो कुछ चाहा उसे पा लिया और अपनी सफलताओं के कारण उसे अपने मार्ग के औचित्य में कोई सन्देह नहीं रहा। वह प्रत्येक दिशा में अबाध गति से बढ़ता जा रहा था और इसके साथ ही उसकी महत्वाकांक्षाएँ भी बढ़ती जा रही थीं।

सुख संपति सुत सेन सहाई।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई।
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।।

अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसने प्रत्येक साधन का सहारा लिया। भोगवादी होते हुए भी वह तपस्वी बना। और अपनी कठिन तपस्या के द्वारा भगवान शिव और लोक-पितामह ब्रह्मा को प्रसन्न करने में सफल रहा। अहङ्कारी होते हुए भी वह शिव के उपासक और पुजारी के रूप में प्रसिद्ध हो गया। वह चतुर स्वार्थ-परायण था। इसलिए वह अपनी सफलता के लिए प्रत्येक साधन का आश्रय लेते हुए भी **अन्तर्मन** में किसी को कोई महत्त्व नहीं देता था। इसलिए वह एक ओर तो शिव का गुरु रूप में वरण करता है, दूसरी ओर उन्हें हल्का सिद्ध करने के लिए शिव-पार्वती को कैलाश पर्वत सहित उठा लेता है।

कौतुक ही कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहु बल चला अमित सुख पाइ।।

वस्तुतः अहङ्कार ही उसका सच्चा देवता था और भोग ही उसकी वास्तविक पूजा। कहने को उसने अपना सिर काटकर शङ्कर को चढ़ा दिया पर यह बुद्धि का समर्पण न होकर चतुराई का चक्र-वृद्धि ब्याज था। वह शङ्कर अथवा ब्रह्मा को स्वार्थसिद्धि के लिए अपनी अपेक्षा शक्तिशाली मानता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं मानता था। उसकी यह धारणा थी कि वह अपनी चतुराई के द्वारा इन देवताओं से सब कुछ प्राप्त कर सकता था, जिसे वे लोग सीधे देने में असमर्थता प्रगट कर सकते थे।

वह राजनीति का पण्डित था। इसलिए उसने अपने चिर-शत्रु देवताओं से बदला लेने के लिए नीति और रण-कौशल का परिचय

दिया। भगवान शङ्कर से दीक्षा लेकर उसने उन्हें देवताओं की सहायता करने से रोकने में सफलता प्राप्त कर ली। ब्रह्मा रावण को वरदान देकर वचनवद्धता से बाध्य हो गए। अतः देवराज इन्द्र को इस संघर्ष में अकेले पड़ जाना पड़ा। इन्द्र भोगवादी भले ही न हो पर वह भोगासक्त तो था ही। अतः पुरानी पुण्य की पूँजी से स्वर्ग के सिंहासन पर आरूढ़ होने वाला इन्द्र इस नवीन पुरुषार्थ-परायण महत्वाकांक्षी रावण के समक्ष कैसे टिक सकता था। अतः उसे हार माननी ही पड़ी। रावण ने पराजित देवताओं को अपनी सभा में खड़ा रखकर, उन्हें अपने अतुल-प्रताप और ऐश्वर्य का विज्ञापक वना लिया।

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता।
भृकुटि बिलोकहिं सकल सभीता।।

एक ओर वह अपने सैनिकों को देवताओं पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित करता था तो दूसरी ओर यज्ञ, हवन आदि को रोक कर उन्हें दुर्बल वना रहा था। बन्दी बनाकर देवताओं के लाए जाने पर वह उदारता का अभिनय करता हुआ उन्हें मुक्त करने का आदेश दे देता था। वह सच्चे अर्थों में दसमुख था और उसका प्रत्येक मुख स्वयं को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रदर्शित करता हुआ समाज को आश्चर्य चकित वना रहा था।

रावण के जीवन में पराजय के भी क्षण आए। पर उसकी सफलताओं के सामने वे सर्वथा नगण्य थे। बालि अथवा सहस्रार्जुन ने उसे शारीरिक बल में भले ही परास्त कर दिया हो, पर रावण के समग्र ऐश्वर्य, प्रभाव और चमत्कारों के समक्ष उनकी कोई तुलना नहीं हो सकती। विजेता वालि को तो उसने मित्रता के सूत्र में ही आवद्ध कर लिया और इस तरह भारत में उसने एक सबल मित्र पा लिया जो उसके बड़े काम का हो सकता था।

आध्यात्मिक दृष्टि से रावण सभी प्राणियों के अन्तःकरण में विद्यमान है। भले ही हम रूढ़ि अथवा वाणी से ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारते हों पर मन के अन्तराल में उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करना चाहते। पारतन्त्र्य-बोध व्यक्ति को प्रिय नहीं है। वह

वड़ी ही लाचारी से उसे स्वीकार करने के लिए वाध्य होता है। भले ही हम रावण के समान इसका खुला उद्‌घोष न कर सकें पर अपने क्रिया-कलाप और जीवन से हम रावणत्व का ही समर्थन करते हैं। धर्म, तपस्या, ज्ञान और उपासना को लेकर वहुधा अनेक प्रकार की आलोचनाएँ की जाती हैं। पर इसका वास्तविक कारण इन सिद्धान्तों की त्रुटि न होकर उन व्यक्तियों की भूल है जिन पर इन्हें क्रियान्वित करने का भार है। तथाकथित धार्मिक, जव एक दूसरे का सिर काटने के लिए उतारू हो जाते हैं तव इसका दोष धर्म को दिया जाता है। मिथ्या ज्ञानियों के अहङ्कार को ज्ञान की त्रुटि माना जाने लगता है। ज्ञान, धर्म अथवा भक्ति का सच्चा रूप विरले व्यक्तियों के जीवन में ही अभिव्यक्त होता है। रावण के ही समान व्यक्ति अथवा समाज में इन वस्तुओं का प्रयोग अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति अथवा प्रवञ्चना के लिए किया जाता है। देवराज इन्द्र, देवता तथा उस समय के धर्मपरायण व्यक्ति भी यदि रावण के समक्ष परास्त हो जाते हैं तो इसका कारण क्या है? वस्तुत: इन सव लोगों के मन के अन्तराल में भी रावणत्व का कोई न कोई अंश विद्यमान था। जव वाहरी शत्रुओं के साथ-साथ भीतरी शत्रु भी सक्रिय होकर आक्रमण कर रहे हों तव हम विजय की आशा कैसे कर सकते हैं? अवतारवाद की पृष्ठ-भूमि भी यही है। पूर्ण एक मात्र ईश्वर ही है। इसलिए दुर्गुणों के समग्र विनाश के लिए उसी का प्राकट्य अपेक्षित है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस संघर्ष में व्यक्ति की स्वतः कोई भूमिका नहीं है। या उसे केवल इस पराजय को जीवन का अमिट सत्य मानकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना है। वह रावण के विरुद्ध स्वतः संघर्ष भले ही न कर सके पर उसके विजेता को प्रगट करने के लिए प्रयास करना उसके लिए शक्य और अनिवार्य दोनों है। इसे हम यों कह सकते हैं कि महाराज श्री दशरथ दसमुख को भले ही परास्त न कर सके हों पर श्रीराम को प्रगट करने का श्रेय तो उन्हें है ही।

"दसमुख और दशरथ"

महाराज श्रीदशरथ ग्रौर महा प्रतापी लंकेश्वर दसमुख के नाम में कितना साम्य है? नाम का पूर्वार्ध तो सर्वथा एक ही है। दोनों के नाम के साथ जुड़ा हुग्रा दस किसी साम्य की ग्रोर इङ्गित करता हुग्रा भी नाम के उत्तरार्ध में भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न दिशाग्रों में चलते दिखाई देते हैं। यह नाम की समानता संयोग मात्र न होकर किसी गंभीर ग्रर्थ का संकेत करती है। दस की यह समानता तो सारी मानव जाति में विद्यमान है। व्यक्ति की शरीर-रचना दस इन्द्रियों का समूह ही तो है। किन्तु शारीरिक दृष्टि से समानता होते हुए भी भावना ग्रौर विचार की दृष्टि से पग-पग पर भेद परिलक्षित होता है। इस भेद के विभाजन को ही 'मुख' ग्रौर 'रथ' के ग्रलगाव के द्वारा प्रगट किया गया है। मुख के द्वारा व्यक्ति स्वाद लेता है। ग्रौर रथ वह माध्यम है जो शीघ्रता से व्यक्ति को ग्रभीष्ट स्थान तक पहुँचा देता है। जीवन का कोई उद्देश्य है ग्रथवा नहीं? कुछ लोगों की मान्यता है कि जीवन केवल भोग के लिए है। पर ग्राध्यात्मिक विचारध. रा जीवन को एक विशेष उद्देश्य की उपलब्धि के लिए साधन मानती है। रावण की भोगवादी मनोवृत्ति का परिचायक है उसका 'दसमुख' नाम ग्रौर उद्देश्यवादी जीवनदर्शन के प्रतीक हैं महाराज श्रीदशरथ। इन दोनों विचारधाराग्रों का संघर्ष भी शाश्वत है।

महाराज श्रीदशरथ का प्रादुर्भाव यदि सूर्यवंश में होता है तो रावण निशाचर बंश में जन्म लेता है। इस तरह ग्रंधकार ग्रौर प्रकाश का शाश्वत संघर्ष इस प्रतीक से भी परिलक्षित होता है। दोनों ही चक्रवर्ती ग्रौर मण्डलीकमणि के रूप में सारे विश्व के स्वामित्व के दावेदार के रूप में सामने ग्राते हैं।

ससुर चक्कवई कोसल राऊ।
भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ।।

*   *   *

भुज वल विस्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र।।

यह वड़ा विरोधाभासी सा तथ्य प्रतीत होता है कि एक ही समय में विश्व के दो सम्राट हों। किन्तु इसे हम यों देख सकते हैं कि जहाँ सूर्यवंश के राजाओं के प्रति विश्व के लोगों में हार्दिक समादर की भावना थी वहाँ रावण अपने आतंक के द्वारा लोगों को नमन करने के लिए बाध्य करता है। जहाँ तक उन दोनों का सम्बन्ध है एक दूसरे से सीधे संघर्ष से कतराते हैं। दोनों ही संघर्ष में विजय के प्रति आश्वस्त नहीं प्रतीत होते। पौराणिक मान्यता के अनुकूल रावण के काल में सूर्यवंश के अनेक राजाओं का राज्य हुआ और समाप्त हुआ। सूर्यवंश के राजाओं की अपेक्षा रावण की आयु वहुत लम्बी थी। अतः पौराणिक संकेतों के अनुकूल जहाँ रावण महाराज रघु से परास्त हो जाता है; वहाँ उसी वंश के अनरण्य का वध करने में वह सफल होता है। इस तरह बल का सन्तुलन परिवर्तित होता रहता था। व्यावहारिक रूप में महाराज श्रीदशरथ का काल रावण के चरम उत्कर्ष का समय था। रावण स्वच्छन्दता पूर्वक न केवल विश्व में अपितु भारतवर्ष में भी ऋषिमुनियों पर अत्याचार कर रहा था। लगता है महाराज श्रीदशरथ वृद्धावस्था के कारण रावण के इस अन्याय को रोकने में असमर्थ थे अथवा यह भी सम्भव है कि उस समय की राज्य सम्बन्धी व्यवस्थाओं के कारण सीधे हस्तक्षेप कर सकना उनके लिए सम्भव न रहा हो। भारत के विभिन्न भागों पर अलग-अलग वंशों का शासन था। वे राजा केवल विशिष्ट अवसरों पर चक्रवर्ती सम्राट के प्रति अपनी अधीनता की स्वीकृति देते थे। पर वैसे वे अपने राज्यों का शासन करने में स्वतन्त्र थे। जिन भागों पर रावण का अत्याचार चल रहा था वहाँ के राजाओं ने महाराज श्रीदशरथ से सहायता का अनुरोध करने के स्थान पर यही उपयुक्त समझा होगा कि वे रावण के प्रति भी अधीनता का भाव स्वीकार कर लें। इसी में उनको अपनी पूर्ण सुरक्षा का भान हुआ होगा।

आध्यात्मिक अर्थों में महाराज श्रीदशरथ और लंकेश्वर दसमुख का दुहरा शासन, जीवन का ऐसा यथार्थ है जिसे व्यक्ति प्रतिक्षण अनुभव करता रहता है। कभी इन्द्रियों के द्वारा पवित्र कार्य सम्पन्न होते हैं, नियंत्रण और साधना की वृत्ति जीवन में जागरूक होती है,

उस समय हमारे जीवन पर, हमारी इन्द्रियों पर, दशरथ का शासन होता है। और दूसरे ही क्षण इन्द्रियाँ पाप-प्रवृत्ति में पड़कर उच्छृंखल हो जाती हैं। जीवन तब रावण के नियन्त्रण में चला जाता है। इस तरह दशमुख और दशरथ का यह द्वैत जीवन में चलता ही रहता है। विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने इस द्वैत का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

दीनबन्धु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिविध जुर, करत फिरत बौराई ।।१।।
कबहुँ जोग रत, भोग निरत सठ हठ बियोग बस कोई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ।।२।।
कबहुँ दीन मति हीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत, कबहुँ धर्मरत ग्यानी ।।३।।
कबहुँ देव ! जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति संनिपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै ।।४।।
संजम, जप, तप, नेम, धरम, व्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेम हीन नहिं जाई ।।५।।

महाराज श्रीदशरथ का राज्य रावण के राज्य का प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है पर उसमें रावण के अत्याचार से समाज को मुक्त करने की क्षमता नहीं है। पाप और पुण्य के, प्रकाश और अन्धकार के सहअस्तित्व के स्थान पर रामराज्य ही समस्या का वास्तविक समाधान है। महाराज श्रीदशरथ में ईश्वर की उपलब्धि की सच्ची आकांक्षा का उदय हो जाना ही उनके जीवन की चरम सार्थकता है। इस पृष्टभूमि का गोस्वामी जी वड़ा ही मार्मिक और प्रेरक चित्र उपस्थित करते हैं।

"महाराज श्रीदशरथ"

महाराज श्रीदशरथ और उनकी रानियों का परिचय गोस्वामी जी इन पँक्तियों में देते हैं—

अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ। वेद विदित तेहि दशरथ नाऊँ।।
धरम धुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदयँ भगति मति सारँग पानी।।
कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल विनीत।।

उपर्युक्त पँक्तियों में दशरथ का परिचय देते हुए नाम को "वेद विदित" कहकर गौरवान्वित करते हैं। अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि वेदों में महाराज श्रीदशरथ का नाम नहीं आया है। और इसी के आधार पर वे यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ने वेदों का अध्ययन नहीं किया था। किन्तु तुलसीदास जी का दावा इससे भिन्न है। वे रामचरित मानस को "नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्" कहकर उसका परिचय देते हैं। तब इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि आज सम्भवतः वेद की वे संहिताएँ उपलब्ध न हों जिनमें दशरथ के नाम का उल्लेख किया गया हो। व्यास शब्द का अर्थ ही है—विस्तार करने वाला। लोक के प्रति करुणा की भावना से प्रेरित होकर वेदों का ही विस्तृत रूप पुराणों में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए गोस्वामी जी पुराणों में प्रतिपादित सिद्धान्त और व्यक्तियों को यदि वेद में ही उल्लिखित मानें तो इसमें सिद्धान्ततः कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पर प्रश्न तो यह है कि गोस्वामी जी महाराज श्रीदशरथ की महिमा के लिए उनके नाम का वेदों में होना आवश्यक क्यों मानते हैं? वस्तुतः गोस्वामी जी का उद्देश्य किसी राजा का इतिहास लिखना मात्र नहीं है। वे तो इतिहास के माध्यम से सारे समाज को वह सिद्धान्त-सूत्र देना चाहते हैं जो उसकी शाश्वत समस्याओं का समाधान दे सके। हमारी समस्त साधना-प्रणाली का मूल आधार वेद हैं। इसलिए प्राचीन परम्परा को मानने वाले व्यक्ति श्रुति-सम्मत सिद्धान्तों को ही समादर देते हैं। गोस्वामी जी भी उन मतों

और पन्थों की आलोचना करते हैं जो वैदिक परम्परा के विरुद्ध मनमाने ढंग से वनाए गए हैं।

स्रुति संमत हरि भगति पथ, संजुत विरति विबेक।
तें न चलहिं नर मोह वस, कल्पहिं पंथ अनेक।।

तुलसीदास का वेदों के प्रति इतना आग्रह अनेक लोगों को संकीर्णता-मूलक और दुराग्रह पूर्ण जान पड़ता है। कुछ विचारकों का ऐसा मत है कि किसी पुस्तक को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लेना, सत्य के साक्षात्कार में सवसे वड़ी वाधा है। उन लोगों की दृष्टि में यह स्वतन्त्र-विचार-चेतना के लिए अत्यन्त घातक है। वहिरङ्ग-दृष्टि से यह तर्क सुसंगत और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। पर अन्तरङ्ग-दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह तर्क मिथ्या भय पर आधारित है। किसी भी समाज की व्यवस्था कुछ निर्धारित नियमों को स्वीकार किए विना नहीं चल सकती। एक राष्ट्र के शासन को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए संविधान की रचना की जाती है। संविधान को लिखित रूप में संहिता-वद्ध किया जाता है। पर इससे विचार-स्वातन्त्र्य सर्वथा समाप्त नहीं हो जाता है। क्योंकि संविधान भले ही एक हो पर उसकी व्याख्या को लेकर पृथक्-पृथक् मत तो होते ही हैं। इससे सामाजिक सुव्यवस्था के साथ-साथ विचार-स्वातन्त्र्य की सुविधा भी प्राप्त हो जाती है। भारतीय मनीषियों ने वेद को केन्द्र-विन्दु मानकर, सामाजिक सुव्यवस्था और विचार-स्वातन्त्र्य दोनों की सुरक्षा का मार्ग ढूँढ़ लिया। यदि ऐसा न होता तो विभिन्न प्रकार के दर्शनों के व्याख्याता वेद-मन्त्रों से ही अपने मत की सिद्धि कर लेते। अन्ततोगत्वा विभाजित समाज और व्यक्ति के मिलन का कोई केन्द्र-विन्दु तो चाहिए ही। इसके लिए वेद से वढ़कर और कोई उपयुक्त केन्द्र नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक रचना के साथ उसके कृतिकार का नाम जुड़ा हुआ होता है। लेखक और कृतिकार का भी अपना विशिष्ट पक्ष होता है। और उसकी कृति की व्याख्या करते हुए हमें उसकी विचार-सारणी का ध्यान रखना होगा। फिर यदि वह ग्रन्थ किसी देश, जाति अथवा सम्प्रदाय से सम्वद्ध हुआ तो उससे भिन्न देश, जाति अथवा सम्प्रदाय के लिए मान्य हो पाना सम्भव

न हो। वेद को लेकर ऐसी कोई समस्या नहीं है। आस्तिक हिन्दू उसे किसी व्यक्ति की कृति नहीं मानते। इसीलिए वेदों को "अपौ रुषेय" कहकर कृतिकार के संस्कारों से युक्त स्वीकार किया गया है। ऋषि वेद मन्त्रों के लेखक नहीं अपितु द्रष्टा हैं। वे ऋषि भी एक न होकर अनेक हैं। अनेक महर्षियों ने सत्य का जिस रूप में साक्षात्कार किया वही विविध मन्त्रों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसलिए वहाँ कोई विशिष्ट पक्ष नहीं है। देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं से उठकर वह परम सत्य की ओर इङ्गित करता है। गोस्वामी जी भी इसी परम्परा का समादर करते हैं। इसीलिए वे बार-बार यह दोहराते रहते हैं कि वे जो कुछ लिख रहे हैं वह वैदिक परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

महाराज श्रीदशरथ के नाम को वैदिक परम्परा से सम्बद्ध करते हुए वस्तुत: वे एक व्यक्ति का ही नहीं, अपितु सारी संस्कृति और उसकी मनोधारा का चित्र प्रस्तुत करते हैं। दशरथ इतिहास के एक पात्र होते हुए भी वैदिक-दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। महाराज श्रीदशरथ की विशेषताओं की ओर इङ्गित करते हुए वे जिन गुणों की चर्चा करते हैं उनमें भी वेदों की समन्वयात्मक पद्धति का सङ्केत प्राप्त होता है। "महाराज श्रीदशरथ धर्म-धुरन्धर और गुणों के भण्डार हैं। वे परम विवेकी तो हैं ही, शार्ङ्गपाणि (नारायण) के चरणों में उनकी प्रगाढ़ भक्ति भी है।" इस तरह उनमें धर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति और समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिए हृदय, मस्तिष्क और शरीर तीनों ही को स्वस्थ होना चाहिए। हृदय के निर्माण के लिए भक्ति, मस्तिष्क के लिए ज्ञान और शरीर के लिए धर्म की आवश्यकता है। इनमें से किसी एक का भी अभाव व्यक्ति और समाज को असन्तुलित बना देता है। रावण के चरित्र में यही असन्तुलन विद्यमान है। दस सिर और बीस भुजाओं के माध्यम से उसकी बुद्धिमत्ता और बलवत्ता का तो सङ्केत प्राप्त होता है किन्तु हृदय की क्षुद्रता के कारण वह समाज के लिए अभिशाप बन जाता है।

महाराजश्री की प्रशंसा करते हुए कवि महारानियों का परिचय इन शब्दों में देता है।

कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत ।।

दशरथ की अनेक रानियाँ हैं। कुछ लोग उनकी संख्या तीन सौ साठ बताते हैं। गोस्वामी जी तो गीतावली रामायण में इस संख्या को सात सौ लिखते हैं। विवाह के पश्चात् महारानी कौशल्या नव वधुओं को सभी सासुओं को प्रणाम करना सिखाती हैं।

मुदित मन आरती करै माता।
कनक वसन मनि वारि-वारि करि पुलक प्रफुल्लित गाता ।।
पालागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत साता।
देहिं असीस ते वरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता ।।
राम सीय छवि देखि जुबति जन करहिं परसपर वाता।
अब जान्यो साँचहू सुनहु सखि ! को विद बड़ो विधाता ।।
मंगलगान निसान नगर नभ, आनन्द कह्यो न जाता।
चिरजीवहु अवधेस-सुवन सब तुलसिदास—सुख दाता ।।

रानियों का यह संख्या-बाहुल्य आश्चर्य और कौतूहल की सृष्टि करता है। पर इससे तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। वहु विवाह की प्रथा तो उन दिनों प्रचलित थी ही, पर लगता है महाराज श्रीदशरथ के चरित्र में यह केवल परम्परा की पूर्ति मात्र नहीं थी और न तो केवल यह उनकी विषय-परायणता का ही परिचायक है। लगता है इसका मुख्य उद्देश्य राज्य के लिए एक उपयुक्त उत्तराधिकारी प्राप्त करना था। यहाँ दसमुख रावण से उनकी तुलना की जा सकती है। महाराज श्रीदशरथ के समान ही रावण के जीवन में भी बहु विवाह की परम्परा का पालन दिखाई देता है। देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर व मनुष्य जाति की अनेक कन्याओं से उसने विवाह किया।

देव जच्छ गंधर्ब नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि ।।

पर इन विवाहों में उद्देश्य की भिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई देती

है। रावण के बहु विवाह के मुख्य दो ही उद्देश्य हैं—विषय-परायणता श्रौर श्रहङ्कार की तृप्ति। क्योंकि वहाँ सन्तान की समस्या नहीं थी। उसके पुत्र श्रौर पौत्रों की इतनी श्रधिक संख्या थी कि उसकी गणना को गोस्वामी जी एक कठिन कार्य मानते हैं।

"सुत समूह जन परिजन नाती, गनइ को पार निसाचर जाती"

श्रतः इतने पुत्र-पौत्रों के होते हुए भी नित्य नूतन विवाह की श्राकांक्षा उसकी वासना-वृत्ति का ही परिचायक था। साथ ही इसके द्वारा वह श्रपने पौरुष का प्रदर्शन करना चाहता है। रावण यह दिखा देना चाहता था कि वह जिस वस्तु को चाहता है—पा लेता है। इस तरह विवाहों के माध्यम से उसे श्रपने श्रहङ्कार के प्रदर्शन का सुयोग भी प्राप्त होता था। इसीलिए इच्छा के विरुद्ध विवाह करने में भी उसे किसी प्रकार के संकोच का श्रनुभव नहीं होता। महाराज श्रीदशरथ के जीवन में इस प्रकार की प्रवृत्तियों का श्रभाव है। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनमें विषयासक्ति का सर्वथा श्रभाव है। यह दुर्बलता उनमें थी इसीलिए वे रावण के प्रतिद्वन्द्वी हो सकते थे उसके विकल्प नहीं। रावण विकल्प के रूप में एक-पत्नी-व्रती भगवान राम का चरित्र ही सम्भव था।

महाराजश्री इतने विवाहों के पश्चात् भी पिता बनने का सौभाग्य न प्राप्त कर सके। महाराज श्रीदशरथ की पत्नियाँ भी पतिपरायणा थीं। स्नेह श्रौर भक्ति से उनका हृदय प्लावित था। इसलिए श्रीदशरथ का गार्हस्थ्य जीवन सुखी श्रौर शान्त था। पर समय बीतने के साथ-साथ उनकी चिन्ता बढ़ती गई श्रौर श्रन्त में वह पुत्र न होने की ग्लानि के रूप में परिणत हो गई। सामाजिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष ऐसे क्षण श्राते हैं जब वह स्वयं में ग्लानि का श्रनुभव करता है। पर उस ग्लानि को बहुत कम सही दिशा प्राप्त होती है। ग्लानि में व्यक्ति गलने लगता है। उसमें क्षुद्रता की भावना का उदय होता है। श्रौर जब व्यक्ति श्रपनी ही दृष्टि में छोटा हो जाए तब उससे किसी महान् संकल्प की पूर्ति की श्राशा नहीं की जा सकती। पर ग्लानि के समुचित दिशा प्राप्त होने पर वह व्यक्ति के उत्त्थान का कारण भी बन सकती है।

ग्लानि का जन्म असफलता से होता है। और इसमें अभाव की अनुभूति असफलता और पश्चात्ताप के मिले जुले भाव होते हैं। यह ग्लानि मनुष्य को निराश और निष्क्रिय भी बना सकती है। और आत्मनिरीक्षण की प्रेरणा देकर पुरुषार्थ-परायणता की ओर भी ले जा सकती है। ग्लानि की सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्ति का स्वयं पर से विश्वास उठ जाता है। उसे लगता है या तो मेरा भाग्य ही प्रतिकूल है अथवा मुझमें ही ऐसी कोई कमी है जिससे मैं सफल हो ही नहीं सकता। पर असफलता से सर्वदा ग्लानि का जन्म हो यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी असफल होने पर व्यक्ति में रोष का उदय होता है; क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का स्वयं के प्रति विश्वास इतना अहङ्कार से भरा हुआ होता है कि स्वयं की असफलता को भी दूसरे के माथे मढ़कर वे स्वयं के अहं की तुष्टि कर लेते हैं। असफलता से जिन दो भावों का जन्म होता है वे परस्पर-विरोधी होते हुए भी मानव मन के लिए घातक हैं। पर यदि इन दोनों अपरिहार्य बुराइयों में चुनाव की बात हो तो रोष की अपेक्षा ग्लानि को ही हम अधिक अभीष्ट रूप में ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि रोष हमारे अहं की मिथ्या तुष्टि करके समस्या के मूल तक पहुँचने से रोकता है। दूसरी ओर ग्लानि से हमें अपनी त्रुटियों का ज्ञान होता है और यदि व्यक्ति प्रबुद्ध हो तो उन्हें दूर भी कर सकता है।

ग्लानि को झेलने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है उसे किसी के सामने प्रगट कर देना। क्योंकि ग्लानि का उदय ही आत्मविश्वास की कमी से होता है और व्यक्ति जितना चिन्तन करेगा उसकी आत्मग्लानि बढ़ती ही जायगी। ग्लानि सबसे अधिक पीड़ादायक तब होती है जब व्यक्ति संकोच के कारण उसे किसी के सामने प्रगट करने में कठिनाई का अनुभव करे। ऐसी समस्या रामचरित मानस में सती और कैकेयी के जीवन में आती है। सती अपनी पीड़ा नहीं प्रगट कर पाती हैं और कैकेयी की भी स्थिति यही है।

निज अघ समुझि न कछु कहि जाई।
तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।।

* * *

गरइ गलानि कुटिल कैकेयी।
काहि कहै केहि दूषन देई।।

इसीलिए इन दोनों को पीड़ा का अत्यधिक बोझ ढोना पड़ा। ग्लानि एक प्रकार का बोझ है जो दूसरे को बाँटकर ही हल्का किया जा सकता है। किन्तु ग्लानि की वृत्ति को प्रकट कर देना ही यथेष्ट नहीं है। हमें यह भी देख लेना होगा कि सामने वाला उस बोझ को उठा पाने में समर्थ भी है या नहीं। यदि अपना बोझ हम किसी अल्प-प्राण व्यक्ति पर लाद देना चाहें तो वह सहायता के स्थान पर स्वयं भी उस भार से पिस जायगा। ग्लानि को प्रगट करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति वह है जो निराश व्यक्ति के खोए हुए आत्मविश्वास को लौटा सके। इसका तात्पर्य है कि वह ऐसा महापुरुष हो जो अदम्य विश्वास से भरा हुआ हो। जिसकी वाणी में ओज हो और साथ ही इतनी सामर्थ्य भी कि वह अपनी क्षमता से उसकी ग्लानि को दूर कर सके।

महाराज श्रीदशरथ ने मन में जिस ग्लानि का अनुभव किया उसके पीछे यह भावना भी थी कि मैंने बिना सोचे समझे पुत्र की उपलब्धि के लिए इतने विवाह कर डाले। आज सारी रानियाँ पुत्र के अभाव का दुख भोग रही हैं। और तब विलम्ब से ही सही, वंश परम्परा के अनुकूल उन्होंने गुरु वशिष्ठ के चरणों का आश्रय लिया। अपने मन की सारी व्यथा उन्होंने गुरुदेव के समक्ष प्रगट कर दी।

एक बार भूपति मन माहीं।
भै गलानि मोरें सुत नाहीं।।
गुर गृह गयउ तुरत महिपाला।
चरन लागि करि विनय बिसाला।।
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ।
कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायउ।।
धरहु धीर होइहहिं सुतचारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी।।

आध्यात्मिक अर्थों में साधन मार्ग में गुरु की गरिमा का गौरव इस प्रसंग के माध्यम से प्रगट किया गया है। महाराज श्रीदशरथ

की तुलना हम उस साधक से कर सकते हैं जो संयमी है और परमार्थ तत्त्व की उपलब्धि ही जिसके जीवन का लक्ष्य है। उसे पाने के लिए वह छोटी साधनाओं से लेकर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट साधनाओं का आश्रय लेता है। सात सौ प्रकार की साधनाओं का आश्रय लेकर भी वह परमार्थ तत्त्व को प्रगट नहीं कर पाता है। दूसरी ओर रावण मोह की साकार प्रतिमा है—जो विविध प्रकार की वासनाओं के आश्रय से स्वयं को सुखी बनाना चाहता है और परिणामस्वरूप वासनाओं से नित्य नए-नए दुर्गुणों का जन्म होता है।

सुत समूह जन परिजन नाती।
गनइ को पार निसाचर जाती।।

किन्तु महाराज श्रीदशरथ की असफलता ही उनके लिए वरदान है। साधक, जब अपनी इच्छा से साधन-पथ का चुनाव करता है तब यह भय बना ही रहता है कि विफलता में वह निराश और सफलता में अहङ्कारी हो जाय। गुरु के द्वारा साधन-पथ का निर्धारण होने पर साधक दोनों समस्या से मुक्त हो जाता है।

मानस के दो भिन्न प्रसङ्गों में ज्ञान के सन्दर्भ में दो विरोधी वाक्य उपलब्ध होते हैं। एक ओर तो यह कहा गया कि ज्ञान में मान का लेश भी नहीं होता।

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समाज सब माहीं।।

दूसरी ओर वेद-स्तुति के प्रसङ्ग में उन लोगों के निश्चित पतन की घोषणा की गई है जो ज्ञान के मद में अभिमानी होकर भक्ति की अवहेलना करते हैं।

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।।

वस्तुतः इसका तात्पर्य भी यही है कि जहाँ ज्ञान स्वयं के पुरुषार्थ का परिणाम होगा वहाँ अभिमान भी आवश्यक है। वही ज्ञान जब गुरु कृपा से प्राप्त होता है तब व्यक्ति मान मुक्त हो जाता है।

बिनु गुरु होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान, सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।

आध्यात्मिक जगत् में गुरु को जो गौरव-पूर्ण स्थान दिया गया है—वह निरर्थक नहीं है। साधारण व्यक्ति की दृष्टि में साधना परम्परा और क्रिया का पुञ्ज मात्र है। वह सोचता है मन्त्र अथवा साधना के लिए गुरु की क्या अपेक्षा है? मन्त्र अथवा साधना की सारी प्रणालियों को ग्रन्थ के माध्यम से जाना जा सकता है। वस्तुत: इस प्रकार की धारणा स्वतन्त्र चेतना के इस युग में बलवती होती जा रही है। यद्यपि इस प्रकार की धारणा के लिए वे तथाकथित गुरु भी कम जिम्मेदार नहीं हैं जो स्वयं ज्ञान-भक्ति-शून्य होते हुए भी शिष्य के रूप में भोले-भाले लोगों को मूर्ख बनाकर उनका शोषण करते हैं। इस प्रकार साधना-प्रणाली पर दोनों ओर से ही तीव्र प्रहार होता है; अहङ्कार और स्वार्थ से ऊपर उठकर ही साधना के सच्चे तत्त्व को हृदयङ्गम किया जा सकता है। व्यावहारिक विश्व में भी केवल ग्रन्थ का आश्रय लेकर ही किसी विषय के प्रयोग का अधिकार प्राप्त नहीं होता। उसके लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है। शल्य-चिकित्सा के समस्त ग्रन्थों को पढ़कर यदि कोई व्यक्ति स्वयं ही अपने व्रण का अथवा किसी दूसरे रोगी की शल्य-चिकित्सा करने के लिए प्रस्तुत हो जाय, तो ऐसा व्यक्ति अपराधी ही माना जा सकता है। शल्य-चिकित्सक के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ शरीर रचना का प्रत्यक्ष ज्ञान भी आवश्यक है। और वह प्रत्यक्ष ज्ञान भी किसी अनुभवी चिकित्सक की देख-रेख में प्राप्त करता है। ठीक इसी तरह साधना-प्रणाली के समुचित सदुपयोग के लिए मानव-मन का ठीक-ठीक परिज्ञान आवश्यक है। व्यक्ति की मानसिक रचना इतनी जटिल है कि शरीर रचना से उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। जहाँ अधिकांश व्यक्तियों की शारीरिक रचना का ढाँचा मिलता-जुलता है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति का मन एक दूसरे व्यक्ति से इतना भिन्न है कि उसे ठीक-ठीक समझ पाना बिरले महापुरुषों के लिए ही सम्भव है। व्यक्ति की मानसिक रचना का ठीक ज्ञान प्राप्त किए बिना उसके लिए समुचित साधना-प्रणाली का निर्देश असम्भव है। इसलिए साधना-प्रणाली में गुरु को इतना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

गुरु विन भवनिधि तरै न कोई।
जौं विरंचि संकर सम होई।।

यह केवल स्तुतिपरक वाक्य नहीं है। ब्रह्मा का स्थान कितना भी गौरवपूर्ण क्यों न हो, भले ही वे सृष्टि के रचयिता हों; पर वे सँस्कारों से सर्वथा शून्य नहीं हैं। व्यवहार काल में उनके अन्त:करण में भी भ्रान्ति का उदय होता है। मानस में इसका सङ्केत भगवान राम के विवाह-प्रसङ्ग में किया गया है। जहाँ चकित ब्रह्मा जनकपुर में अपनी निर्मित कोई वस्तु न देखकर भ्रान्त हो जाते हैं, वहाँ शिव गुरु के रूप में उनका उद्‌बोधन करते हैं।

सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु।
हृदयँ बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु।।

एक न्यायाधीश भी चाहे वह कितना भी निष्पक्ष क्यों न हो—अपने अभियोग का स्वयं निर्णायक नहीं होता। व्यक्ति स्वभावत: स्वयं के प्रति पक्षपाती होता है। पर यदि वह निष्पक्षता का आग्रह प्रदर्शित करे तव वह लोगों की दृष्टि में निष्पक्ष कहलाने के लिए स्वयं के प्रति अत्यधिक कठोरता का प्रदर्शन करेगा। अपने प्रति दया या अपने प्रति कठोरता दोनों ही औचित्य की सीमा से वाहर हैं। अत: साधक को सही न्याय पाने के लिए गुरु के न्यायालय में स्वयं को उपस्थित करना चाहिए। भगवान राम ने अपने समग्र चरित्र में इसी मर्यादा का निर्वाह किया है। महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर की यात्रा में प्रभु ने जिस पारतन्त्र्य का परिचय दिया है वह अपने आप में अनुपम है। उठना, बैठना, सोना, पुष्प लाना और सन्ध्या करने जैसे कार्यों से लेकर धनुर्भङ्ग जैसे कार्य तक प्रतिक्षण वे गुरु के आज्ञानुवर्ती हैं।

उठे सकल जव रघुपति आए।
बिश्वामित्र तव निकट बैठाए।।

उठहु राम भंजहु भवचापा।
मेटहु तात जनक परितापा।।
बिगत दिवस गुर आयसु पाई।
संध्या करन चले दोउ भाई।।

करि गुरु चरन सरोज प्रनामा।
आयसु पाइ किए विश्रामा।।

गुरु पद बंदि सहित अनुरागा।
राम मुनिन सन आयसु माँगा।।

साधक का जीवन अनुशासित होता है। परतन्त्रता जैसी प्रतीत होने पर भी पारतन्त्र्य और अनुशासन में अन्तर है। परतन्त्रता ऊपर से थोपी जाती है और उसे अस्वीकार करने में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं होता। पर अनुशासन स्वयं स्वीकार किया हुआ वन्धन है और यह स्वयं अपने निर्माण के लिए ही अपेक्षित है। जो लोग यह कहते हैं कि स्वतन्त्र चेतना का विकास होना चाहिए; वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार की चेतना के विकास के लिए भी व्यक्ति को निर्माणकाल में स्वयं की सीमाओं को निर्धारित करना पड़ता है। शिष्य जब स्वेच्छा से गुरु का वरण करता है तब इसका तात्पर्य ही यही है कि उसने स्वयं के लिए एक बन्धन की सृष्टि की है। गुरु शिष्य को मुक्त बनाता है; पर इस मुक्ति के लिए भी बन्धन की आवश्यकता है। वह अनेक वन्धनों से बाध्यता के कारण जकड़ा हुआ है। जो उस पर बलात् लादे गए हैं। स्वेच्छा से वन्धन स्वीकार कर वह वस्तुतः उन बन्धनों से मुक्त हो जाता है। एक व्यक्ति को पुलिस का सिपाही डराता था। उसने पुलिस के सर्वोच्च अधिकारी के यहाँ नौकरी कर ली। सेवा से अधिकारी के निकट पहुँच गया। अब सिपाही को कौन कहे, छोटे मोटे अधिकारी भी उससे डरने लगे। यही स्थिति जीवन की भी है। छोटी परतन्त्रताओं से मुक्त होने के लिए हमें बड़े की परतन्त्रता स्वीकार कर लेनी चाहिए। छोटे व्यक्तियों को दूसरों को परतन्त्र बनाकर पीड़ा पहुँचाने में आनन्द का अनुभव होता है; क्योंकि वे स्वयं किसी न किसी की परतन्त्रता में दुःख पा रहे होते हैं। अतः वे अपना वदला दूसरों से लेते हैं। पर जो सर्वोच्च है—वह स्वतन्त्र है। इसलिए वह किसी को पराधीन बनाकर उत्पीड़न की प्रकृति से पीड़ित नहीं करता। इसलिए ऐसी परतन्त्रता नाम मात्र की ही होती है। ईश्वर और सच्चे गुरु की परतन्त्रता ठीक इसी श्रेणी में आती है।

फिर भी ईश्वर की परतन्त्रता की अपेक्षा गुरु के शासन की जीवन में अधिक आवश्यकता है। क्योंकि ईश्वर की परतन्त्रता प्रत्यक्ष नहीं होती––वह स्वयं कोई आदेश नहीं देता; इसलिए यह भय बना रहता है कि साधक ईश्वर की इच्छा के नाम पर अपनी वासनाओं की आकांक्षा पूर्ति न कर रहा हो। इसलिए ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में जब साधक गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा होता है, तब वह जीवन निर्माण की सही दिशा की ओर पग बढ़ाता है।

महाराज श्रीदशरथ को वंश-परम्परा से ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जैसा गुरु प्राप्त था। फिर भी वे पुत्र की उपलब्धि के लिए उनसे कोई आदेश न लेकर स्वेच्छा से विवाह करते जा रहे थे; इससे उनके अन्त:करण में छिपे हुए वासना के संस्कारों का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने पुत्र की उपलब्धि के लिए ऐसे मार्ग का चुनाव किया––जिसमें धर्म और वासना दोनों की प्राप्ति हो सके। साधक के जीवन में भी यही समस्या होती है। जब वह स्वेच्छा से साधना-प्रणाली का चुनाव करता है तब उसके मन की छिपी हुई वासनाएँ साधना में भी स्वयं की आकांक्षा की पूर्ति का मार्ग निकाल लेती हैं। और एक बार जहाँ वासनाओं ने साधक को अपनी इच्छा के अनुकूल चलाना प्रारम्भ किया त्यों ही कुछ दिनों के बाद वह विकारों का यन्त्र मात्र बन जाता है।

महाराज श्रीदशरथ ने प्रारम्भिक भूल के बाद अपनी इस दुर्बलता का अनुभव किया। ईश्वर की उपलब्धि में अत्यधिक विलम्ब भी उनकी इसी त्रुटि का परिणाम था। गुरु वशिष्ठ का दीर्घ मौन भी उनके मन:शास्त्र के ज्ञान का परिचायक है। वे यदि चाहते तो इससे भी पहिले महाराज श्रीदशरथ को आदेश देकर बहु-विवाह से विरत बना सकते थे। पर इससे वह आदेश बलात् लादा गया पारतन्त्र्य बन जाता। यदि साधक के मन पर गुरु अपनी ओर से बलात् कोई आदेश लादने की चेष्टा करे तो इसकी बहुत अधिक सम्भावना है कि साधक का मन विद्रोही हो उठे। और ऐसी स्थिति में वह साधना और गुरु दोनों से ही विरक्त हो सकता है। इसलिए चतुर गुरु साधक के मन को ढील देकर उसके मन में स्वयं बुराई के प्रति वितृष्णा पैदा करना चाहता है। ऐसी स्थिति में पहुँचकर साधक स्वयं गुरु के प्रति शरणा-

पन्न होता है। मानो जब साधक का मन मूल-धातु की कठोरता के समान दु:ख या पश्चात्ताप की आँच पाकर द्रवित हो जाता है तभी गुरु उसमें अभीष्ट आकृति प्रदान करता है। महाराज श्रीदशरथ की मन:स्थिति भी ठीक उस भूमिका में थी जब गुरु वशिष्ठ उसमें अपनी इच्छित आकृति प्रदान कर सकते थे और यही उन्होंने किया भी।

उन्होंने महाराज श्रीदशरथ को आश्वासन प्रदान किया और उन्हें पुत्रेष्टि-यज्ञ करने का आदेश दिया। यज्ञ के लिए उन्होंने शृङ्गी ऋषि को आमन्त्रित किया। ऋषि के आचार्यत्व में यज्ञ भली भाँति सम्पन्न हुआ। साक्षात् अग्निदेव चरु-पात्र लेकर यज्ञ-कुण्ड से प्रगट हो गए। उन्होंने महाराज श्रीदशरथ को चरु-पात्र देकर आदेश दिया कि इसका यथायोग्य वितरण करें। 'आपकी कामना पूर्ण होगी' ऐसा आशीर्वाद देकर अग्निदेव अन्तर्धान हो गए। महाराज श्रीदशरथ ने हर्षित हृदय से रानियों का आवाहन किया। महारानी कौशल्या को चरु का आधा भाग प्रदान किया गया। अवशिष्ट पायस के दो भाग किए गए और उसमें से एक भाग महारानी कैकेयी को दे दिया गया। शेष पायस को दो भागों में बाँटकर उसे कौशल्या और कैकेयी के हाथ में देकर अनुरोध किया गया कि वे यह भाग देवी सुमित्रा को प्रदान करें। इस तरह अद्भुत रीति से यज्ञ-कार्य सम्पन्न हुआ।

गुरु गृह गयउ तुरत महिपाला।
चरन लागि करि बिनय बिसाला।।
निज दुख सुख सब गुरहिं सुनायउ।
कहि बसिष्ठ बहुबिधि समझायउ।।
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी।।
सृंगी रिषिहिं बसिष्ठ बोलावा।
पुत्र काम सुभ जग्य करावा।।
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें।।
जो बसिष्ठ कछु हृदयँ बिचारा।
सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा।।

यह हबि बाँटि देहु नृप जाई।
जथा जोग जेहि भाग बनाई।।
तब अदृस्य भए पावक, सकल सभहि समुझाइ।
परमानंद मगन नृप, हरष न हृदयँ समाइ।।
तबहि रायँ प्रिय नारि बोलाईं।
कौसल्यादि तहाँ चलि आईं।।
अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा।
उभय भाग आधे कर कीन्हा।।
कैकेई कहँ नृप सो दयऊ।
रह्यो सो उभय भाग पुनि भयऊ।।
कौसल्या कैकेई हाथ धरि।
दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि।।
एहि बिधि गर्भ सहित सब नारी।
भईं हृदयँ हरषित सुख भारी।।

महाराज श्रीदशरथ के जीवन में पुत्र प्राप्ति की बलवती आकांक्षा है। यह आकांक्षा ऐसी नहीं है कि जिसमें स्वतः कोई विशेषता हो। समाज में बिरले ही व्यक्ति ऐसे होंगे कि जिनमें पिता बनने की आकांक्षा न हो। अमरता के अभाव में व्यक्ति अपना एक प्रतिरूप संसार में छोड़ जाना चाहता है। इससे वह अपनी वस्तुओं पर भी अपने ही अधिकार की कल्पना करके सन्तुष्ट होता है। महाराज श्रीदशरथ भी इसके अपवाद नहीं थे। पुत्र शब्द का व्युत्पत्ति जन्य अर्थ है—"पुन् नाम के नर्क से रक्षा करने वाला"। अतः पिता यह आशा करता है कि पुत्र न केवल उसके लौकिक, अपितु पारलौकिक सुख का भी केन्द्र है। पुत्र की आकांक्षा का अभाव दो ही प्रकार की मनःस्थितियों में सम्भव है। या तो एक पूर्ण तत्त्वज्ञ जिसे आत्मा के अमरत्व का बोध है—जो देह को "मैं" मानने की भ्रान्ति से मुक्त हो चुका है और जो स्वर्ग नरकादि के प्रलोभन और भय से मुक्त होकर अपने सहज स्वरूप में स्थित है। ऐसे व्यक्ति के लिए पुत्र होना अथवा न होने का कोई महत्त्व नहीं है। दूसरे प्रकार का व्यक्ति वह हो सकता है जो स्वयं पर किसी प्रकार का भार स्वीकार नहीं करना चाहता।

अपने शरीर की तृप्ति को छोड़कर जिसके जीवन का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है और जिसकी दृष्टि में कोई भविष्य अथवा परलोक नहीं है। ऐसा व्यक्ति स्वभावत: पुत्रोपलब्धि को एक झंझट समझता है। इससे स्वयं पर उसे नियंत्रण और दायित्व की भावना का अनुभव करने की कठिन समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है। महाराज श्रीदशरथ इन दोनों में नहीं हैं। वे एक धार्मिक व्यक्ति हैं। इसलिए वे मानसिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से पुत्र की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

वैसे प्राचीन मनीषियों ने मानव-मन में तीन सहज आकांक्षाओं का उल्लेख किया है—पुत्र की आकांक्षा, धन संग्रह की अभिलाषा और यश की अभीप्सा। ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है। जीव उसका अंश है। अत: वह भी सच्चिदानन्द रूप ही है, किन्तु स्वरूप विस्मृति के कारण वह स्वयं को मिथ्या जड़ और दुख-ग्रस्त समझता है। और तब वह इन तीनों के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ सच्चिदानन्दत्व को किसी न किसी रूप में पाना चाहता है। इन तीनों आकांक्षाओं की पूर्ति में वह सच्चिदानन्दत्व का ही प्रतिविम्ब देखता है। पुत्र के रूप में अपनी सत्ता को स्वीकार करता हुआ वह किसी अंश में सत् की अनुभूति कर लेता है। अपने यश के प्रसार में उसको अपने व्यापक चैतन्य की क्षणिक अनुभूति होती है। धन के द्वारा दु:ख पर विजय प्राप्त कर वह स्वयं को आनन्दित देखना चाहता है। तीनों आकांक्षाएँ एक सीमा तक व्यक्ति में सद्गुणों का विकास करती हैं; पर वह सीमा इतनी संक्षिप्त है कि उसमें नियन्त्रित रह पाना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता। और तब यह तीनों आकांक्षाएँ व्यक्ति और समाज के जीवन में संघर्ष, उत्पीड़न की सृष्टि करती हैं। पुत्र की आकांक्षा से व्यक्ति को समाज के प्रति व अपने प्रति;—अपने दायित्व का भान होता है। इससे वह शरीर के घेरे से कुछ ऊपर उठ पाता है। उसका स्वार्थ उसे वितरण की प्रेरणा देता है। व्यक्ति वहुधा कष्ट उठाकर भी पुत्र को योग्य अथवा उन्नतिशील वनाना चाहता है। धनोपार्जन के लिए तमोगुण और आलस्य से ऊपर उठकर पुरुषार्थ में प्रवृत्त होना पड़ता है। दूसरों के प्रति सहिष्णु

श्रौर व्यवहार-कुशल बनना श्रावश्यक हो जाता है। श्रौर यश की श्राकांक्षा के लिए तो व्यक्ति को श्रनेक सद्‌गुणों का श्राश्रय लेना पड़ता है। समाज-सेवा, परोपकार, दान श्रादि के द्वारा ही व्यक्ति यशस्वी बन पाता है। ऐसी स्थिति में यह तीनों श्राकांक्षाएँ व्यक्ति के जीवन में प्रेरक-शक्ति का कार्य करती हैं।

किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है। श्रौर सत्य तो यह है कि प्रथम पक्ष की श्रपेक्षा द्वितीय पक्ष ही समाज में व्यापक रूप में दिखाई देता है। द्वितीय पक्ष यह है कि उपरोक्त तीनों श्राकांक्षाएँ व्यक्ति की बुद्धि को मलिन बना देती हैं।

सुत बित लोक ईषना तीनी।
किन कर मति इन कृत न मलीनी।।

पुत्र की श्राकांक्षा से व्यक्ति में दायित्व की श्रपेक्षा राग श्रौर पक्षपात का ही श्रधिक उदय होता है। व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण श्रपने पुत्र का श्रभ्युत्त्थान चाहता है श्रौर तब वह श्रन्य लोगों के पुत्रों के प्रति उपेक्षा श्रौर घृणा की भावना से प्रेरित होकर कार्य करने लगता है। ठीक कैकेयी जी की भाँति जो श्रपने पुत्र को राजा श्रौर कौशल्या के पुत्र को बनवासी के रूप में देखना चाहती हैं। इस प्रकार का पक्षपात समाज में श्रन्याय श्रौर संघर्ष की सृष्टि करता है। एक बार धन की श्राकांक्षा का उदय हो जाने पर, मनुष्य श्रौचित्य-श्रनौचित्य का विचार किए विना किसी भी प्रकार धन-संग्रह कर लेना चाहता है। क्योंकि धन की प्यास श्रसीम है श्रौर इस प्यास की पूर्ति के लिए वह दूसरों के रक्त का शोषण करने में संकोच का श्रनुभव नहीं करता। श्रधिकांश लोगों के श्रभाव श्रौर दारिद्रय को श्राधार भूमि बनाकर व्यक्ति श्रपने ऐश्वर्य की श्रट्टालिका खड़ी कर लेना चाहता है। इसीलिए महाभारत में यह स्पष्ट किया गया है कि दूसरे को उत्पीड़ित किए बिना व्यक्ति महती-श्री का श्रधिकारी नहीं बन सकता।

नाछित्त्वा पर मर्माणि नाकृत्त्वा कर्म दुष्करम्।
न हत्त्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महती श्रियम्।।

श्रर्थात् दूसरों के श्रन्तःकरण को पीड़ा पहुँचाए बिना, श्रनुचित

कर्म किए विना और मत्स्य-घाती (मछली मारने वाले) के समान आचरण किए विना कोई महती-श्री का अधिकारी नहीं वन सकता। ठीक इसी तरह यश की आकांक्षा से प्रेरित होकर व्यक्ति सत्कर्म का आश्रय तो लेता है, किन्तु उसका यह सत्कर्म दिखावे मात्र के लिए होता है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के जीवन में अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग की एकता नहीं देखी जाती। साथ ही यशस्वी व्यक्ति भी परस्पर ईर्ष्या-ग्रस्त होकर एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा में लगे रहते हैं। इस तरह ईर्ष्या और मात्सर्य से ग्रस्त व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी को किसी भी तरह अपने मार्ग से हटा देना चाहता है। पुराणों में कथा आती है कि सारे समाज के द्वारा विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि की उपाधि प्रदान कर दी गई किन्तु वशिष्ठ उन्हें राजर्षि ही पुकारते रहे। क्रुद्ध विश्वामित्र ने वशिष्ठ को अपने मार्ग से हटाने के लिए उनके वध का संकल्प वना लिया। किन्तु वध करने के लिए छिपे हुए विश्वामित्र ने जव वशिष्ठ को एकान्त क्षणों में अपनी (विश्वामित्र की) प्रशंसा करते हुए सुना तव वे लज्जित हो उठे। तलवार का परित्याग कर वशिष्ठ के चरणों में गिर पड़े। दोनों महापुरुषों का मिलन हुआ। किन्तु इस कथा का निष्कर्ष यही है कि वड़े से वड़े व्यक्ति भी लोकैषणा की वृत्ति से प्रेरित होकर कितने नीचे उतर सकते हैं।

यह तीनों इच्छाएँ कितनी भी अनिष्टकारी क्यों न हों, किन्तु वे मानव-मन में सहज रूप से विद्यमान देखी जाती हैं। निन्दा मात्र से इनका निराकरण सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में इनके नियन्त्रण और सदुपयोग की ही चेष्टा की जानी चाहिए। गुरु वशिष्ठ ने इसी पद्धति का आश्रय लिया। महाराज श्रीदशरथ को पुत्र की उपलब्धि के लिए उन्होंने पुत्रेष्टि-यज्ञ करने का आदेश दिया। यों यदि देखें तो इसकी कोई विशेष आवश्यकता न थी क्योंकि भगवान राम महाराज श्रीदशरथ को, जव वे मनु रूप में थे, उनके पुत्र वनने का वरदान दे चुके हैं। त्रि-कालदर्शी वशिष्ठ को यह ज्ञात है। दशरथ को पूर्व जन्म की कोई स्मृति शेष नहीं है। स्वयं दशरथ के अन्तःकरण में उत्कण्ठा और व्याकुलता के लिए यह आवश्यक भी था। गुरु वशिष्ठ

ने भी वरदान की स्मृति न दिलाकर शृङ्गी ऋषि के ग्राचार्यत्व में यज्ञ करने का उपदेश दिया। यज्ञ, कामना पूर्ति का साधन तो है ही पर साथ ही वह वितरण की प्रक्रिया से जुड़ा हुग्रा है। यज्ञ जिन मुनियों ग्रौर देवताग्रों के सहयोग से सम्पन्न होता है, उनका भी यज्ञ द्वारा उपलब्ध वस्तु पर ग्रधिकार है। ग्रतः व्यक्ति प्राप्त पदार्थ पर केवल ग्रपना ग्रधिकार नहीं सिद्ध कर सकता। वशिष्ठ की दूरदर्शी दृष्टि इस सत्य को भली प्रकार देख पाती है। इसीलिए ग्रागे चलकर महर्षि विश्वामित्र द्वारा यज्ञ-रक्षा के लिए राम ग्रौर लक्ष्मण की याचना किए जाने पर महाराज श्रीदशरथ का ममत्व हिचकिचाता है; तब गुरु वशिष्ठ उन्हें स्मरण दिला देते हैं—"यज्ञ द्वारा प्राप्त पुत्र को तुम यज्ञ-रक्षा के लिए देना कैसे ग्रस्वीकार कर सकते हो?" इस तरह पुत्र व्यक्ति का होते हुए भी लोक-कल्याण के लिए यज्ञ-भावना से समर्पित कर दिया जाता है।

यज्ञ के ग्राचार्यत्व के लिए शृङ्गी ऋषि को ग्रामन्त्रित करना भी गुरु वशिष्ठ की निरभिमानता का परिचायक है। यद्यपि वे स्वयं भी पुत्रेष्टि-यज्ञ कर सकते थे किन्तु इसके लिए उन्होंने ऐसे महापुरुष का चुनाव किया जो इस यज्ञ का विशेषज्ञ था। यज्ञ में प्राप्त चरु के वितरण की प्रक्रिया बड़ी विलक्षण ग्रौर रहस्यपूर्ण थी। साधारण व्यवहार-सङ्गत-प्रक्रिया तो यही होती कि रानियों में समान रूप से चरू का वितरण कर दिया जाता। इसके स्थान पर जो जटिल प्रक्रिया ग्रपनाई गई उसका रहस्य समझ लेना ग्रावश्यक है। इसके लिए पहले हमें तीनों रानियों का स्वरूप हृदयङ्गम करना होगा। इन्हें हम ज्ञान, क्रिया ग्रौर उपासना के रूप में देख सकते हैं। कौशल्या ज्ञान-शक्ति हैं, कैकेयी क्रिया-शक्ति ग्रौर सुमित्रा हैं उपासना-शक्ति। मानस के समन्वयी दर्शन के ग्रनुरूप ही महाराज श्रीदशरथ के जीवन में ज्ञान, क्रिया ग्रौर उपासना के समन्वय का सङ्केत किया गया है। ब्रह्म के प्राकट्य के लिए जीवन में ज्ञान, क्रिया ग्रौर उपासना तीनों की ग्रावश्यकता है। तीनों के माध्यम से ईश्वर स्वयं को ग्रभिव्यक्त करता है। पर प्रश्न तो यह है कि जीवन में इन्हें किस क्रम से स्थापित किया जाय। यदि चरु-वितरण की प्रक्रिया

को साधारण दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे सबसे अधिक महत्त्व ज्ञान को दिया गया, उससे कम क्रिया को और उससे भी कम उपासना को। किन्तु इस क्रम की स्वीकृति से तो गोस्वामी जी की सारी मान्यताएँ ही खण्डित हो जाएँगी।

प्रारंभ में हमें ज्ञान और क्रिया के सम्बन्धों पर विचार कर लेना चाहिए। मनुष्य के जीवन में प्रत्यक्ष रूप से क्रिया का भाग सर्वाधिक है। समग्र जीवन में व्यक्ति को प्रतिक्षण सक्रिय रहना पड़ता है। यह क्रिया आवश्यकता ही नहीं बाध्यता भी है। जीवित रहने के लिए व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त होना ही पड़ेगा; उससे भागने की चेष्टा हास्यास्पद है। उससे भागा ही नहीं जा सकता। किन्तु दूसरी ओर क्रिया के साथ अनेक समस्याएँ भी हैं; क्रिया है तो उसके साथ परिणाम भी है। यह तो कभी सम्भव ही नहीं है कि व्यक्ति क्रिया करें और उसमें कोई त्रुटि ही न हो। ऐसी स्थिति में वह क्रिया के परिणाम के रूप में सुख-दुख, स्वर्ग-नरक के ऐसे चक्र में उलझ जाता है, जिससे मुक्ति सम्भव नहीं है। फिर क्रिया की यह बाध्यता व्यक्ति के अन्तःकरण को उसके विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा देती है। अद्भुत समस्या है—क्रिया बिना हम रह नहीं सकते। पर हमारे पास क्रिया के परिचालन के लिए जो यन्त्र हैं, उनकी क्षमताएँ इतनी सीमित हैं कि उनसे पूर्णता की आशा ही नहीं की जा सकती। यह उस व्यापारी की जैसी दशा है कि जिसे घाटा लगते रहने पर भी व्यापार करने के लिए बाध्य किया जाय।

दूसरी ओर विचार है, जो हमें देह की सीमाओं से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। वह स्थूल सृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म तत्त्व को अधिक महत्त्व देता है। स्वातन्त्र्य उसका स्वभाव है। वह बाध्यता नहीं मुक्ति का सन्देशवाहक है। क्रिया हमें कार्य की ओर ले जाती है और विचार कारण की ओर। यदि क्रिया और ज्ञान परस्पर-विरोधी बन जाँय, तब स्वभावतः व्यक्ति का व्यक्तित्व दो भागों में विभक्त होकर इधर-उधर कहीं का नहीं रह जाता। इसीलिए क्रिया और ज्ञान में किसी न किसी प्रकार का ताल-मेल बैठाना आवश्यक है।

ज्ञान कामना के दोषों को जानता है; इसलिए वह निष्कामता की ओर ले जाना चाहता है।

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।।

दूसरी ओर क्रिया कामना के द्वारा ही संचालित होती है। कामना न हो तो क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती। इस संदर्भ में उस पौराणिक कथा की ओर ध्यान जाता है जिसे इस मनोवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त कहा जा सकता है। महाराज श्रीदशरथ ने जहाँ भी विवाह करना चाहा, सभी लोगों ने सहज भाव से अपनी कन्याएँ अर्पित कीं। किन्तु महारानी कैकेयी के पिता इसके अपवाद सिद्ध हुए। उन्होंने अपनी कन्या अर्पित करने की स्वीकृति तभी दी जब महाराज श्रीदशरथ ने यह वचन दिया कि कैकेयी से उत्पन्न होने वाले पुत्र को ही राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त होगा। क्रिया-परायण व्यक्ति सर्वदा अपने लाभ की ही बात सोचता है, भले ही इससे दूसरों के अधिकार का हनन होता हो, इससे उसे क्या लेना-देना है। उसे अपनी क्रिया का अधिकाधिक लाभ चाहिए। आगे चलकर यही वचन अनेक समस्याओं का कारण बन जाता है। इसका सीधा तात्पर्य तो यह है कि कैकेयी के पुत्र श्रीभरत को ही राज्य दिया जाना चाहिए था। और यदि महाराज श्री ने श्रीराम को राज्य देने का निर्णय किया तो यह अपने पूर्व वचनों का उल्लङ्घन था। किन्तु बात इतनी सीधी सी नहीं थी। महाराज श्रीदशरथ ने जब कैकेय-नरेश को यह वचन दिया था तब वे यह मानकर चले थे कि महारानी कौशल्या के माध्यम से पुत्र प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है और कैकेय-नरेश की पुत्री अयोध्या-राज्य को उत्तराधिकारी दे सकेंगीं। उस समय इसमें जटिलता की कोई सम्भावना नहीं थी। कौशल्या के पुत्र के अभाव में कैकेयी के पुत्र को राज्य प्राप्त होना स्वाभाविक था; किन्तु जब महारानी कैकेयी भी पुत्र को जन्म न दे सकीं, तब महाराज श्री को अन्य विवाह करने पड़े। अंत में जब पुत्रों का जन्म भी हुआ तो इसमें महारानियों की कोई विशेषता नहीं, पुत्रेष्टि-यज्ञ के प्रभाव से पुत्र हुए। ऐसी परिस्थिति में

महाराज कैकेय को जो वचन दिया गया था वह अब भी प्रभावी था या नहीं? गुरु वशिष्ठ और महाराज श्रीदशरथ की भावना यह थी कि जब महारानी कैकेयी भी अन्य रानियों की भाँति राज्य को उत्तराधिकारी प्रदान करने में असमर्थ रहीं, तब वह वचन भी अपने आप समाप्त हो गया। अब पुत्रेष्टि-यज्ञ के प्रभाव से जब सभी रानियों को पुत्र प्राप्त हुए हैं, तब सहज उत्तराधिकार के क्रम से महारानी श्रीकौशल्या का पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी हो सकता है। इतना होते हुए भी जब महाराज कैकेय को यह सूचना नहीं दी गई, तब उसके पीछे यही भय कार्य कर रहा था कि सम्भव है, कैकेय-नरेश इस व्याख्या को स्वीकार न करें और वे अब भी पहिले दिये गए वचन को ही क्रियान्वित करने का आग्रह करें। यह क्रिया-शक्ति और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की जटिल समस्याओं का एक सांकेतिक प्रतीक मात्र है।

व्यावहारिक दृष्टि से महारानी कौशल्या पट्टमहिषी' और बड़ी रानी हैं, इसलिए उन्हें सर्वाधिक सम्मान दिया जाना चाहिए। किन्तु इसके बाद यदि महारानी सुमित्रा और महारानी कैकेयी को समान भाग प्रदान किया जाय तो इससे कैकेयी जी को उनकी रजोगुण-मिश्रित प्रकृति के कारण आघात पहुँचेगा। उन्हें समान व्यवहार के स्थान पर अत्यधिक सम्मान की भूख है। इसी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन अयोध्या काण्ड में तब होता है जब वे श्रीराम की प्रशंसा करते हुए मंथरा से कहती हैं—"राम अपनी सभी माताओं को बराबर चाहते हैं, किन्तु उनका सर्वाधिक अनुराग मेरे प्रति है, यह मैंने परीक्षा लेकर देख लिया है।

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी।।
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी।
मैं कर प्रीति परीच्छा देखी।।

इस स्वीकृति का मनोवैज्ञानिक तात्पर्य ही यही है कि उन्हें समानता से संतोष न होकर विशिष्टता की चाह है। जहाँ कौशल्या के प्रति किया गया सम्मान मर्यादा और परम्परा के अनुकूल है वहाँ

कैकेयी के प्रति किया गया विशिष्ट व्यवहार महाराज श्रीदशरथ की उनके प्रति आसक्ति और कैकेयी की प्रकृति का परिणाम है। आध्यात्मिक अर्थों में सर्वाधिक महत्त्व ज्ञान-शक्ति को दिया जाना चाहिए, क्योंकि ज्ञान-विहीन क्रिया अभिमान और वन्धन का हेतु वन जायेगी। न केवल ज्ञान-युक्त क्रिया की अपेक्षा है, अपितु क्रिया की अपेक्षा विचार को ही अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। तभी क्रिया के दुष्परिणामों से व्यक्ति वच सकता है। क्रिया-वाहुल्य के स्थान पर विचार-युक्त सत्कर्म ही जीवन के लिए आवश्यक है। सत्य तो यह है कि मन की सहज आसक्ति क्रिया को ही प्राप्त होती है; इसलिए यदि क्रिया और विचार को समान महत्त्व देने का प्रयास करें तो परिणामस्वरूप मानसिक आसक्ति के कारण क्रिया ही जीवन पर हावी हो जायगी। इसलिए बुद्धि के द्वारा विचार को वल देकर ही, मानसिक राग के कारण उत्पन्न हुए असन्तुलन को दूर किया जा सकता है। ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि महाराज श्रीदशरथ की मानसिक आसक्ति कैकेयी जी के प्रति ही अधिक थी; किन्तु चतुर महाराज ने व्यवहार में उस आसक्ति के प्रगट न होने देने की चेष्टा की। यही मन और शरीर पर विवेक की विजय है। इसीलिए आगे चलकर महारानी कैकेयी की माँग पर इस सीमा तक तो सहमत हो जाते हैं कि उनके पुत्र भरत को अयोध्या का राजा वना दिया जाय, किन्तु कौशल्या के पुत्र श्रीराम को वन देना; उन्हें सर्वथा असह्य और अन्याय प्रतीत होता है। भले ही वे अपनी ही कुछ वाध्यताओं के कारण प्रत्यक्ष रूप से कुछ न कर पाये हों, पर इस अन्याय के विरुद्ध अपना कुछ आक्रोश प्रगट करने के लिए ही वे शरीर का परित्याग कर देते हैं। महाराज श्रीदशरथ के चरित्र की ये घटनाएँ क्रिया और ज्ञान को लेकर उत्पन्न होने वाली समस्याओं को उजागर करती हैं। चरु वितरण तक इस प्रकार की कोई समस्या यद्यपि उत्पन्न नहीं हुई थी, फिर भी वितरण की प्रक्रिया में किसी न किसी प्रकार ज्ञान और क्रिया में सन्तुलन बनाए रखने की चेष्टा की गई थी। जहाँ तक महारानी सुमित्रा का सम्वन्ध है, वे अत्यन्त सौम्य प्रकृति की थीं।

उनमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का किञ्चित् लेश भी विद्यमान नहीं था। इसलिए व्यवहार में उनके रुष्ट होने की सम्भावनाएँ नहीं थीं। उन्हें सबसे अन्त में बुलाया जाना उनकी किसी न्यूनता का परिचायक नहीं है, अपितु यह उनके उत्कृष्ट आत्म-समर्पण-मूलक भाव का परिचायक है। इसीलिए पायस-वितरण में उन्हें अन्त में भले ही बुलाया गया हो; पर उनकी सौम्य प्रकृति के प्रति समादर प्रगट करने के लिए ही उन्हें एक के स्थान पर दो भाग दिलाए गए, जिससे उन्हें दो पुत्र रत्नों की प्राप्ति हुई। आध्यात्मिक अर्थों में श्रीसुमित्रा अम्बा उपासना-शक्ति हैं। उपासना में उस होड़ की वृत्ति का सर्वथा अभाव होता है जो क्रियापरायण व्यक्तियों के जीवन में पग-पग पर परिलक्षित होती है। जहाँ ज्ञान का गौरव उसकी सर्वोत्कृष्टता में है, क्रिया को अधिकाधिक सम्मान चाहिए, वहाँ उपासना की शोभा सबसे पीछे रहने में है। जिसमें सेवा-वृत्ति का अभाव है, वह उपासक नहीं हो सकता; जहाँ क्रियापरायण व्यक्तियों में स्वामित्व प्राप्त करने की होड़ होती है वहाँ उपासना का स्वभाव सेवा में गौरवान्वित होने का है।

महारानी कौशल्या के चरित्र में पग-पग पर गम्भीरता विद्यमान है जो उनके ज्ञान के गौरव के अनुरूप है। कैकेयी अम्वा के चरित्र में क्रिया-शक्ति के अनुरूप अधिकार और औदार्य दोनों विद्यमान हैं; पर सुमित्रा अम्वा के चरित्र में समर्पण का अमृत पग-पग पर उपलब्ध होता है। कौशल्या अम्वा ने अपनी निष्कामता के अनुरूप भले ही कभी श्रीराम को युवराज पद पर अभिषिक्त होने की माँग न की हो; किन्तु जव वह सहज रूप से ही श्रीराम के लिए प्रस्तावित किया गया तव वे प्रसन्न हुई थीं। कैकेयी अम्वा ने उस पद पर अपने पुत्र को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया; किन्तु सुमित्रा अम्वा ने तो अपने पुत्रों को राज्य और राजा की महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर सेवा-धर्म में दीक्षित किया। सुमित्रा अम्वा के दो पुत्रों का तात्पर्य ही यही है कि लोक-कल्याण के लिए राजा की अपेक्षा सेवकों की अधिक अपेक्षा है, क्योंकि सत्ता के क्षेत्र में अधिक लोगों का होना संघर्ष की सृष्टि करता है। सेवावृत्ति-प्रधान व्यक्तियों की

अधिकता समाज में सुख का सञ्चार करती है। इसलिए ज्ञान और क्रिया की अपेक्षा भी समाज में उपासना-शक्ति के प्रचार की अधिक आवश्यकता है।

वितरण में एक विलक्षणता यह भी थी कि महाराज श्रीदशरथ ने एक ओर जहाँ महारानी कौशल्या और कैकेयी को अपने हाथ से पायस प्रदान किया; वहाँ दूसरी ओर स्वयं सीधे सुमित्रा को अपने हाथ से चरु न देकर कौशल्या और कैकेयी के माध्यम से दिलाया, वस्तुतः यह भी उपासना-शक्ति की भावना के अनुकूल है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भ में ही भोजन पा लेना चाहता है, बचा हुआ भोजन तो साधारण सेवकों को प्रदान किया जाता है। किन्तु उपासना में तो सारा महत्त्व ही अवशिष्ट प्रसाद का है, क्योंकि प्रभु ने उसे स्वीकार कर लिया है। इसलिए यहाँ वचा हुआ उच्छिष्ट न होकर प्रसादी है। सुमित्रा अम्बा में यदि अहं की वृत्ति होती तो वे स्वयं को अपमानित अनुभव करतीं; किन्तु वे तो शेष (लक्ष्मण) की जन्मदात्री माता हैं। ऐसी स्थिति में उनके अन्तःकरण का औदार्य भी सामने आ जाता है। उन्होंने कौशल्या और कैकेयी से जो दो भाग प्राप्त किए; उन्हें पुत्रों के रूप में पुनः दोनों महारानियों को ही समर्पित कर दिया। महारानी कौशल्या के द्वारा प्राप्त भाग से श्रीलक्ष्मण का जन्म हुआ और वे भगवान श्रीराम के अनन्य अनुगामी बने। कैकेयी के द्वारा प्राप्त भाग से शत्रुघ्न का जन्म हुआ जिन्होंने सर्वतोभावेन श्रीभरत का अनुगमन किया। ऐसी समर्पण की वृत्ति उपासना को छोड़कर अन्यत्र कहाँ सम्भव है?

इस प्रकार पायस प्राप्त कर रानियाँ हर्ष भरे हृदय से अपने-अपने भवनों में निवास करती हैं। उस समय के उल्लास का वर्णन गोस्वामी जी ने इन पँक्तियों में किया है।

एहि बिधि गर्भ सहित सब नारी।
भईं हृदयँ हरषित सुख भारी।।

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए।
सकल लोक सुख संपति छाए।।

मंदिर महँ सब राजहिं रानीं।
सोभा सील तेज की खानीं।।
सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ।
जेहिं प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ।।

कुछ लोगों की दृष्टि में ईश्वर का गर्भ में आगमन असम्भव है। इस प्रकार के लोगों की मान्यता यह है कि तीनों रानियों का गर्भ केवल वायु से पूर्ण हो गया। रानियों को यह अनुभूति होती रही कि गर्भ में बालक हैं। ठीक अवसर पर ईश्वर का प्राकट्य होता है--जन्म नहीं। इस प्रकार की मान्यता का तात्पर्य ईश्वर के गौरव की सुरक्षा जान पड़ती है। इससे यह सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर का जन्म साधारण बालकों की भाँति न होकर अलौकिक पद्धति से होता है। जिन लोगों के अन्तःकरण में इस प्रकार की मान्यता से ईश्वर के प्रति गौरव की वृद्धि होती है, वे वैसा मानने को स्वतन्त्र हैं; किन्तु गोस्वामी जी की धारणा इससे भिन्न जान पड़ती है। वे अवतरण के लिए जन्म और प्राकट्य दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं और इससे दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अपनी धारणाओं की पुष्टि कर सकते हैं; गोस्वामी जी कि दृष्टि भगवान राम के जिस औदार्य को उजागर करने की है उससे उनके गर्भ में न आने की मान्यता मेल नहीं खाती। तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर सर्वव्यापी है और तब उसका गर्भ में होना वैचारिक दृष्टि से स्वयं सिद्ध सत्य है। भावनात्मक दृष्टि से यह ईश्वर के औदार्य की पराकाष्ठा है कि वह भक्त की भावना को पूर्ण करने के लिए गर्भ-कोष जैसे कष्ट-प्रद स्थान में भी आ जाये। फिर गोस्वामी जी विनय-पत्रिका में जीव को स्मरण दिलाते हुए उससे पूछते हैं--'आज तू जिन्हें अपना सच्चा मित्र और हितैषी मानता है, वे उस दिन कहाँ थे? जब तू गर्भ में पड़ा हुआ अपार कष्ट भोग रहा था! याद कर उस कठिन स्थिति में भी श्रीहरि ही तेरे सच्चे साथी थे।"

(क)

तैं निज करम डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं।।

तातें परवस परचो अभागे। ता फल गरभ-वास-दुख आगे।।
आगे अनेक समूह संसृत उदरगत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ।।
सोनित-पुरीष जो मूत्र-मल-कृमि, कर्दमावृत सोवई।
कोमल सरीर, गँभीर बेदन, सीस धुनि-धुनि रोवई।।

(ख)

तू निज करम जाल जहँ घेरो।
श्री हरि संग तज्यो नहिं तेरो।।
वहु विधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों।
परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों।।
तोहि दियो ग्यान-बिबेक, जनम अनेक की तब सुधि भई।
तेहि ईस की हौं सरन, जाकी विषम माया गुन-मई।।
जेहि किये जीव निकाय वस, रसहीन, दिन-दिन अति नई।
सो करौ बेगि सँभारि श्रीपति विपति महँ जेहि मति दई।।

ऐसी स्थिति में जब वे प्रत्येक बालक के संरक्षण के लिए गर्भ में आते ही हैं, तब भक्त के भाव का संरक्षण करने के लिए यदि गर्भ में आ जाएँ तो इसमें आश्चर्य क्या है? गर्भ में प्रभु का आगमन भक्त के लिए सबसे बड़ा आश्वासन है कि वह भक्त की पुकार पर किसी भी देश और काल में आने के लिए प्रस्तुत हैं।

आध्यात्मिक अर्थों में यह साधक के जीवन की वह स्थिति है, जब वह भक्ति, क्रिया अथवा ज्ञान की साधना करता हुआ ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार न करता हुआ भी भावना, विचार और क्रिया में अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है। यह ब्रह्म साक्षात्कार की पूर्व भूमिका है। उसे ऐसा लगता है कि जैसे कोई अदृश्य शक्ति छिपकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका संचालन कर रही है। इसकी पूर्व भूमिका में साधक उस निराशा की स्थिति का भी अनुभव करता है, जब उसे ऐसा अनुभव होता है कि उसका सारा जीवन व्यर्थ चला गया और वह सम्भवतः कभी भी ईश्वर और उसकी कृपा का साक्षात्कार न कर सकेगा। नैराश्य की इस चरम सीमा में ही यदि वह गुरु के

प्रति सर्मपित हो जाता है, उनके आदेश का पालन करता है; तव उसे प्रकाश का दर्शन होता है (यज्ञ-कुण्ड से अग्नि देव का प्रादुर्भाव) और जीवन में स्वाद और तृप्ति (चरु) की उपलब्धि होती है और उसका अन्त:करण एक नए प्रकार के आनन्द से भर उठता है। जीवन में शोभा, शील और तेज का अनोखा समन्वय और सन्तुलन आ जाता है।

"शोभा, शील और तेज"

शोभा शब्द को वहुधा सुन्दरता के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, पर प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द से किसी न किसी अर्थ में भिन्न होता है। सौन्दर्य और शोभा शब्द भी अपने पूरे अर्थों में पर्यायवाची नहीं हैं। जब हमारे मुँह से सुन्दर शब्द निकलता है तब मानो यह आँख की भावना की अभिव्यक्ति है। किसी दृश्य या व्यक्ति को देखकर हमारे मुख से हठात् निकल पड़ता है--"सुन्दर" "वहुत सुन्दर', पर शोभा शब्द का प्रयोग हम ऐसे अवसरों पर नहीं करते। शोभा शब्द किसी वस्तु के व्यापक परिवेश को लेकर प्रयुक्त किया जाता है। रंग, वस्त्र, आभूषण आदि अनेक वस्तुओं के समष्टिगत प्रभाव को बुद्धि और आँखों से परख कर हम जो प्रमाण-पत्र देते हैं, उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त शब्द है--"शोभा"। शोभा शब्द एक कलात्मक सन्तुलन को प्रगट करता है। यदि सौन्दर्य हीरा है तो शोभा उस हीरे को उचित स्थान पर जड़ देना है।

मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।।

सौन्दर्य ईश्वरीय देन है तो शोभा में ईश्वर द्वारा प्रदत्त वस्तु में मनुष्य के द्वारा उसे और भी आकर्षक बनाने का प्रयास सम्मिलित है। मानो ईश्वर उस परीक्षक की भाँति है, जो विद्यार्थी के समक्ष आकर्षक रंग और तूलिका देकर कोरे कागज पर उसके कौशल की परीक्षा लेता है। वह देखना चाहता है कि परीक्षार्थी इन रंग-विरंगे पदार्थों को प्रयुक्त करता हुआ किस आकृति की सृष्टि करता है। सौन्दर्य ईश्वरीय देन है और व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह उस देन के द्वारा लोक-मङ्गल की सृष्टि करे। सौन्दर्य के साथ शोभा का समन्वय हमें उस महान् चित्रकार के चरणों में श्रद्धा-सुमन अर्पित करने की प्रेरणा देता है, जिसने विश्व की इतनी अलौकिक रचना की है। शोभा सुरुचि के प्रदर्शन का प्रयास है, उसमें दिखावे का

भड़कीलापन नहीं है। ईश्वर के आगमन की पूर्व-भूमिका के रूप में जिन तीन सद्गुणों को रानियों में दिखाया गया है, उनमें शोभा ही सर्वप्रथम है।

मंदिर महँ सब राजहिं रानीं।
सोभा सील तेज की खानीं।।

शील आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। बाह्य सौन्दर्य और शोभा के पीछे यदि मन की कुरूपता छिपी हुई हो; यह सौन्दर्य की सबसे बड़ी विडम्बना होगी। शोभा और सौन्दर्य व्यक्ति को सन्निकट पहुँचने की प्रेरणा देते हैं; पर वहाँ पहुँचकर व्यक्ति को यदि कटुता का आभास हो तो ऐसा सौन्दर्य लोकमानस में घृणा की ही सृष्टि कर सकता है। शील का आन्तर सौन्दर्य होने पर वाह्य कुरूपता भी सह्य बन जाती है; क्योंकि शील की मिठास जीवन की समस्त तिक्तता क़ो मधुरता में परिवर्तित कर देती है। किन्तु यदि कहीं दोनों का समन्वय हो जाय तो उसे स्वर्ण-सुगन्ध या मणि-काञ्चन योग की संज्ञा दे सकते हैं। भगवान राम का चरित्र पूर्णता की अभिव्यक्ति है, इसलिए उनके आविर्भाव की पृष्ठभूमि में सौन्दर्य, शील और तेज का समन्वय प्रस्तुत किया गया है।

सौन्दर्य और शील का संरक्षक है—तेज। सौन्दर्य और शील दोनों में सुकुमारता है। संसार ऐसे तत्त्वों का मिश्रण है जिसमें गुण और दोष दोनों विद्यमान हैं। सौन्दर्य और शील की सुकुमारता गुण होते हुए भी निष्ठुरता के आक्रमण को प्रोत्साहित कर सकती है। रावण के द्वारा श्रीसीता के अपहरण का प्रयास इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। इसीलिए वन-यात्रा की झाँकी में राघवेन्द्र का अनुगमन करने वाली श्रीसीता के संरक्षण के लिए तेजोमय श्रीलक्ष्मण की आवश्यकता है। खर-दूषण के नेतृत्व में आने वाली विशाल वाहिनी को देखकर श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि वे गिरि-कंदरा में ले जाकर श्रीसीता की रक्षा करें।

लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर।
आवा निसिचर कटक भयंकर।।

रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी।
चले सहित श्री सर धनु पानी।।

मायामृग के पीछे जाते हुए श्रीरामभद्र लक्ष्मण को सावधान करना नहीं भूलते—'वत्स लक्ष्मण! सजग रहकर सीता की रक्षा करना।"

सीता केरि करेहु रखवारी।
बुधि बिबेक बल समय बिचारी।।

सौन्दर्य और शील को निरन्तर तेज के संरक्षण की आवश्यकता है। श्रीसीता का अपहरण भी तभी सम्भव होता है जब श्रीकिशोरी जी लक्ष्मण को दूर कर देती हैं। और उनके पुनः उद्धार के प्रयास में जो महापुरुष सफल होते हैं वे हैं महावीर श्रीहनुमान। कार्य के प्रारम्भ और अन्त में गोस्वामी जी उनकी तेजोमयता का वर्णन करना नहीं भूलते। लङ्का की ओर प्रस्थान करते हुए श्रीहनुमान का यह दिव्य रूप है।

राम काज लगि तव अवतारा।
सुनतहिं भयउ पर्बताकारा।।
कनक बरन **तनु तेज बिराजा**।
मानहु अपर गिरिन कर राजा।।

लङ्का से लौटते हुए मारुति का रूप यह है।

मुख प्रसन्न **तन तेज बिराजा**।
कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा।।

लङ्का की राक्षसियों के मध्य संत्रस्त सीता के संरक्षण के लिए तेज की अपेक्षा थी। जब तक सृष्टि में अन्धकार की शक्तियाँ सक्रिय हैं, तबतक सजग रहना होगा कि आसुरी शक्तियाँ सौन्दर्य और शील जैसे सद्गुणों को चुरा न ले जांय। तेज के चमकते हुए प्रकाश में इन तस्करों का सफल होना कठिन है। और कदाचित् वे अपनी दुरभिसन्धि में कुछ काल के लिए सफल हो भी जाँय तो तेज की उज्ज्वल ज्वाला उन्हें भस्मसात् कर देगी।

सौन्दर्य, शील और तेज के इस समन्वय में ही समाज आनन्द और सुरक्षा दोनों का ही अनुभव कर सकता है। गोस्वामी जी के

पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्य में इस सन्तुलन का अभाव था। काव्य के द्वारा सौन्दर्य का जो रूप समाज में प्रस्तुत किया गया, वह विलासिता को प्रोत्साहित करने वाला था। राजतन्त्र के इस युग में चाटुकारिता ने शील का स्थान ले लिया था। शील का तात्पर्य भाट और चारणों के समान अपने आश्रयदाता की झूठी प्रशंसा करना नहीं है। शील, भय और लोभ की भावना के स्थान पर, मानव मात्र के प्रति स्नेह की भावना से संचालित होता है। वह प्रत्येक के समक्ष नमन करने की प्रेरणा देता है तो उसका एक मात्र कारण यही है कि वह सारी सृष्टि में अपने प्रभु के दर्शन का प्रयास करता है। पर यदि दर्प या अहङ्कार सामने हो तब तेज-समन्वित-शील ही उसका उचित उत्तर दे सकता है। रावण की सभा में वन्दी श्रीहनुमान इसी शील और तेज के समन्वित रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वे रावण को प्रणाम करते हैं, उनकी वाणी में नम्रता है, पर उस नम्रता के पीछे तेज का उद्दीप्त प्रकाश है; जो रावण की कठोरता का उत्तर क्षण भर में लङ्का को भस्मसात् करके देता है।

सौन्दर्य और शील से रहित तेज भी समाज के लिए घातक है; क्योंकि ऐसा तेज प्रकाश के स्थान पर, मात्र दाहकता से लोगों को जलाता रहता है। परशुराम के रूप में इसी प्रकार की तेजस्विता के दर्शन जनकपुर में होते हैं। एक ओर था उद्दीप्त तेज और दूसरी ओर सौन्दर्य, शील और तेज का पूर्ण समन्वय––राम और लक्ष्मण। पराजित परशुराम वहाँ से शील की दीक्षा लेकर लौटते हैं। वह पराजय नीचे गिराने के स्थान पर व्यक्ति को अपनी त्रुटि का भान कराती है; क्योंकि वहाँ विजेता में विजय का प्रदर्शन न होकर पराजित के प्रति सम्मान की भावना भरी हुई है। इसलिए सौन्दर्य, शील अथवा तेज की एकाङ्गता मानस का आदर्श नहीं हो सकती।

"अवतार की मङ्गलमयी बेला"

प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुईं और इस पावन पर्व का प्रादुर्भाव हुआ; जो ब्रह्म के अवतरण की बेला के रूप में युगों के लिए चिर-स्मरणीय बन गया। आज भी प्रतिवर्ष हमारा हृदय उस मङ्गलमयी बेला के स्मरण मात्र से पुलकित हो उठता है, जिसमें ब्रह्म ने कौशल्या अम्बा की गोदी को धन्य बना दिया। गोस्वामी जी ने अपने प्राण-धन प्रभु के शुभागमन की मधुमयी बेला का शब्द चित्र इस रूप में प्रस्तुत किया।

जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हरषजुत, राम जनम सुख मूल।।
नौमी तिथि मधुमास पुनीता।
सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।।
मध्य दिवस अति सीत न घामा।
पावन काल लोक बिश्रामा।।
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।
हरषित सुर संतन मन चाऊ।।
बन कुसुमित गिरि गन मनि आरा।
स्रवहिं सकल सरितामृत धारा।।
सो अवसर बिरंचि जब जाना।
चले सकल सुर साजि बिमाना।।
गगन बिमल संकुल सुर जूथा।
गावहिं गुन गंधर्ब बरूथा।।
बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी।
गहगहि गगन दुंदुभी बाजी।।
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा।
बहुबिधि लावहिं निज निज सेवा।।

प्रकृति द्वंद्वमयी है। प्रकाश-अन्धकार, दुःख-सुख आदि का चक्र इसमें चलता ही रहता है। मनीषियों ने सृष्टि के संचालन में काल को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। व्यक्ति का शरीर प्रकृति का

ही एक अङ्ग है; इसलिए उससे यह आशा करना कि वह प्रकृति-चक्र की परिचालना से पृथक् होकर स्वतन्त्र कार्य कर सकता है—व्यक्ति की सीमाओं को भुला देना है। वैसे तो नदी, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि प्रकृति में पूरी तरह परतन्त्र हैं, पर स्वतन्त्रचेता मनुष्य ने उस पारतन्त्र्य में भी स्वतन्त्रता की उपलब्धि के लिए जिन उपायों का आविष्कार किया उनमें से एक ज्योतिष-शास्त्र है। पृथ्वी विराट ब्रह्माण्ड का एक अङ्ग है। स्वयं उस पर और उसमें निवास करने वाले प्राणियों पर, ग्रह नक्षत्र आदि अपना निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं। मनुष्य की शरीर-रचना में जिन अनेक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का मिश्रण कार्य करता है; यद्यपि उनका समग्र विश्लेषण असम्भव नहीं तो कठिनतम तो है ही। शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, धर्म-शास्त्र और ज्योतिष-शास्त्र जीवन-रचना के विभिन्न भागों पर प्रकाश डालने का प्रयास करते हैं। समग्र सत्य को अभिव्यक्त कर पाना इनमें से किसी के लिए भी सम्भव नहीं। पर जैसे रोग के निराकरण के लिए जिन औषधियों का निर्माण किया जाता है वे भले ही किसी अंश में अपूर्ण हों, फिर भी चिकित्सक रोगी पर उनका प्रयोग करता है और अनेक लोग उनसे स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार विभिन्न शास्त्र हमें किसी न किसी सीमा तक लाभान्वित करते हैं। ज्योतिष-शास्त्र का कार्य मुख्यत: काल मीमांसा पर आधारित है। काल का शरीर पर पड़ने वाला स्थूल प्रभाव तो हम सबको प्रत्यक्ष दिखाई ही देता हैं। ऋतु परिवर्तन का प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है, यद्यपि वह प्रभाव देश और व्यक्ति की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रूपों में परिलक्षित होता है। ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव अधिक सूक्ष्म और प्रत्यक्ष रूप से न दिखाई देने वाला होता है। बालक के जन्म के समय ग्रह-नक्षत्र विशेष स्थिति और कोणों से अपना प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर डालते हैं। उनके बलाबल का मिश्रण अनगनित रूपों में मनुष्य के जीवन, शरीर और मन पर प्रभाव डालता है। इसको स्पष्ट करने के लिए शासनतन्त्र का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है। विभिन्न देशों में समय-समय पर शासनतन्त्र की रूप-रेखा परिवर्तित होती रहती है।

परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर किसी न किसी सीमा तक पड़ना अनिवार्य है; पर एक ही शासनतन्त्र में शासकों के परिवर्तन से भी अलग-अलग प्रभाव सामाजिक जीवन में आता ही रहता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की शरीर-रचना पर विशिष्ट ग्रहों का प्रभाव पड़ता है; किन्तु अन्य ग्रह भी अपनी-अपनी कालावधि में उसको अपनी शक्ति से प्रभावित करते हैं। शासनतन्त्र के परिवर्तन में हमें स्वयं को समयानुकूल ढालना पड़ता है। एक आरामतलब व्यक्ति भी श्रम-प्रधान-समाज और शासन-तन्त्र में अपने को परिवर्तित करने के लिए बाध्य है। इसी प्रकार या तो उसे शासकों की आकांक्षा के अनुकूल चलना होगा अथवा शासक को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करना होगा। ग्रह-नक्षत्र द्वारा पड़ने वाले प्रभाव में भी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। ग्रह-नक्षत्रों के पड़ने वाले प्रभाव से हमें जिस भविष्य का ज्ञान होता है, उसके दो ही फलितार्थ हो सकते हैं; या तो भविष्य में होने वाले परिणामों को स्वीकार करने के लिए हम स्वयं को प्रस्तुत करें अथवा ग्रहों को अनुकूल बनाने की चेष्टा करें। ज्योतिष-शास्त्र का कार्य विज्ञान की उस शाखा की भाँति है जो रोग का सही विश्लेषण प्रस्तुत कर देता है। उसके बाद यह रोगी को निर्णय करना होगा कि वह किस चिकित्सा-पद्धति का आश्रय लेकर स्वयं को स्वस्थ बनाना चाहता है। इसमें प्राकृतिक चिकित्सा जैसी प्रणाली भी हो सकती है जो रोगों को, शरीर में एकत्र अनावश्यक पदार्थों का निष्कासन मानती है और दवा देकर रोग को रोकने के स्थान पर प्रकृति के कार्य में सहायक बनने का अनुरोध करती है। और वह आयुर्वेदिक पद्धति भी हो सकती है जो औषधि, पथ्य और संयम के द्वारा रोग के निष्कासन और उस संघर्ष में शरीर को विजयी बनाने के लिए उसे शक्तिशाली बनाए रखने को आवश्यकता पर बल देती है; अथवा एलोपैथी का रोग पर चारों ओर से आक्रमण करने का शक्ति-शाली प्रयास। मानसिक-रोगों और सुख-दुःख की समस्या पर विजय प्राप्त करने के लिए मनीषियों ने अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं; जिनसे भिन्न रुचि और संस्कार वाले व्यक्ति अपनी मान्यता के अनुकूल

पद्धति का आश्रय लेकर इस समस्या का समाधान पाने की चेष्टा कर सकते हैं। कर्म सिद्धान्त की तुलना हम प्राकृतिक-चिकित्सा-पद्धति से कर सकते हैं, जिसका आग्रह है कि कर्मफल भोगकर ही उससे मुक्त हुआ जा सकता है। उसे किसी प्रयास से रोकने का परिणाम भविष्य में और भी दुःखद स्थिति की सृष्टि करना है; क्योंकि यदि किसी उपाय से हम तत्काल कर्मफल को रोकने में समर्थ भी हों तो ये रुके हुए कर्मफल कभी एक साथ जीवन पर आक्रमण करके असहनीय स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए अच्छा यही होगा कि हम उन्हें सहते ही जाँय।

कर्म प्रधान विस्व करि राखा।
जो जस करई सो तस फल चाखा।।

इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तों की तुलना भी की जा सकती है। उपासना-शास्त्र का भी इस विषय में एक दृष्टि-कोण है, जिसे इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे व्यक्ति का शरीर इस विराट ब्रह्माण्ड का एक अङ्ग है और हम प्रकृति तथा ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव से परिचालित होते हैं; उसी प्रकार स्वयं ग्रह-नक्षत्र और प्रकृति भी तो किसी के द्वारा परिचालित होती होगी? इस अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारा सौर-मण्डल ही तो सब कुछ नहीं है। कोटि-कोटि ग्रह-नक्षत्र, ब्रह्माण्ड जिसके द्वारा संचालित हो रहे हैं—वह कौन-सी शक्ति है? और तब इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसका नामकरण उपासक ईश्वर के रूप में करता है। उसकी मान्यता है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उस अनन्त महिमामय ईश्वर के द्वारा परिचालित हो रहे हैं। अपनी भावना के अनुरूप भक्तों ने उस ईश्वर के भी अनेक नाम स्वीकार किए हैं। राम भक्तों की दृष्टि में ईश्वर का नाम "श्रीराम" है। इसलिए जब वह ब्रह्म कौशल्या अम्बा को अपने रूप का दर्शन कराता है, तब उनको उस ब्रह्म के रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की उपस्थिति का भान होता है।

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड।।

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन।
वहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ।
सोउ देखा जो सुना न काऊ।।
देखी माया सव विधि गाढ़ी।
अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।।
देखा जीव नचावइ जाही।
देखी भगति जो छोरइ ताही।।

ऐसी स्थिति में भक्त केवल उस ईश्वर को अनुकूल वनाने का प्रयास करता है। भक्त की यह सुदृढ़ मान्यता है कि जव ब्रह्म हमारे जीवन अथवा वाह्य संसार में अवतरित होता है तव देश और काल की समस्त परिस्थितियाँ अपनी प्रतिकूलताओं का परित्याग कर हमारे अनुकूल हो जाती हैं। इसीलिए भगवान राम के प्राकटच्य की पूर्व भूमिका में काल और प्रकृति की अनुकूलता का वर्णन करते हैं।

जोग लगन ग्रह वार तिथि सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल।।

अतः भक्त को ग्रह, नक्षत्र, प्रकृति को अनुकूल वनाने का अलग-अलग प्रयास नहीं करना है; फिर भी उसे ईश्वर को अनुकूल वनाने की साधना तो करनी ही होगी। वह हमारे आन्तर अथवा बाह्य जीवन में अभिव्यक्त हो, इसके लिए हमें किन परिस्थितियों का निर्माण करना होगा? यह कम महत्त्व का प्रश्न नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए गोस्वामी जी ने श्रीराघवेन्द्र के प्राकटच्य के पहले मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र आदि का विस्तृत उल्लेख करना-आवश्यक समझा। बाह्य देश और काल की ही भाँति हमें आन्तर जीवन में भी इसी प्रकार के देश और काल की सृष्टि करनी होगी।

"नौमी तिथि"

गोस्वामी जी ने उस मर्यादा का अनुगमन नहीं किया है, जो परम्परा से प्रचलित है। ज्योतिष के क्रमानुसार सम्वत्, मास, पक्ष, तिथि और नक्षत्र का क्रम से उल्लेख किया जाता है। गोस्वामी जी ने इसके स्थान पर सर्वप्रथम तिथि का उल्लेख किया। मास, पक्ष और नक्षत्र का उल्लेख इसके पश्चात् किया जाता है। यह गोस्वामी जी की भावपरक दृष्टि का परिचायक है। भगवान राम के प्राकट्य के लिए जिस भाव-भूमि की अपेक्षा है, उनकी दृष्टि में उसकी सर्वश्रेष्ठ प्रतीक-स्थिति नौमी ही हो सकती है। यों तो परम्परा में भी तिथि के नाम से राम-जन्म का स्मरण किया जाता है। मास, पक्ष या नक्षत्र को सीधे राम-जन्म से सम्बद्ध न कर हम उस स्मृति को सीधे तिथि से जोड़कर राम-नवमी कहकर पुकारते हैं।

अङ्क शास्त्र में 'नौ' का एक विलक्षण स्थान है। इस विलक्षणता को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर उसकी तुलना 'शून्य' से ही की जा सकती है। ब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक या तो 'शून्य' है अथवा 'नौ'। 'शून्य' यदि निर्गुण निराकार का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है तो सगुण साकार ईश्वर की व्याख्या के लिए 'नौ' से बढ़कर कोई अन्य अङ्क उपयुक्त नहीं हो सकता। इसके अन्तराल में 'एक' से लेकर 'आठ' तक के अङ्क मानो अष्टधा प्रकृति के परिचायक हैं। शून्य का प्रचलित अर्थ है—'कुछ नहीं'। फिर भी वह है, क्योंकि उसके बिना अङ्क-शास्त्र ही अधूरा रह जाता है। बहुधा यह कहा जाता है कि शून्य के आविष्कार ने गणित में क्रान्ति कर दी। पाश्चात्य अन्वेषकों ने इसके लिए भारत का ऋण स्वीकार किया है; क्योंकि उनकी दृष्टि में इसके आविष्कारक भारतीय ही थे। शून्य को जैसे न तो "है" ही कहा जा सकता है और न तो "नहीं"। यही स्थिति निर्गुण निराकार ब्रह्म की है—'नासत्तन्नासदुच्यते'। इसके पश्चात् एक से सृष्टि का श्रीगणेश होता है—उसका निश्चित मूल्य है। इस तरह प्रकृति का विस्तार आठ के अङ्क तक होता है और इसके पश्चात् नौ के रूप में पुनः पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।।

एक से लेकर आठ तक का अङ्क प्रकृति की परिवर्तनशीलता का परिचायक है। परिवर्तन और घटना-बढ़ना उसका स्वभाव है, किन्तु नौ की पूर्णता तक पहुँचकर ब्रह्म की एकरसता का परिचय प्राप्त होता है।

दुगुनो तिगुनो चौगुनो पंच षष्ट अरु सात।
आठउ ते पुनि नौ गुनो नौ के नौ रहिजात।।

गोस्वामी जी के "राम ब्रह्म परमारथ रूपा" का परिचय देने के लिए नौ से अधिक कोई उपयुक्त अङ्क नहीं है।

उपासकों के लिए नौ के अङ्क का अपना विशिष्ट महत्त्व है। ईश्वर की उपलब्धि के लिए जिस भक्ति साधना की अपेक्षा है, वह भक्ति भी नौ रूपों में विभक्त है। अतः नौमी को प्रभु का प्राकटच नवधा भक्ति की समग्रता में ईश्वर की प्राप्ति का परिचायक है। ईश्वर के अवतार का तात्पर्य केवल भाव अथवा विचार की भूमि में ईश्वर को पाना नहीं है। अवतार का तात्पर्य है जब ब्रह्म स्वयं देहधारी होकर हमारी इन्द्रियों का विषय बन जाए। निर्गुण निराकार के रूप में वह सब का प्रकाशक तो है ही पर उस स्थिति में वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इस विचार में तो शरीर और इन्द्रियों का कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता। इन्द्रियों और शरीर की सार्थकता तो ब्रह्म के सगुण साकार बन जाने में है। इसीलिए भगवान राम का विवाह सम्पन्न होने के बाद, इन्द्रियों की सार्थकता की ओर सङ्केत करते हुए महाराज श्रीजनक ने कहा "जिस ब्रह्म को मन बुद्धि और वाणी के द्वारा नहीं जाना जा सकता, समस्त अनुमानियों के अनुमान जहाँ मिथ्या हो जाते हैं, वही ब्रह्म आज हमारे नेत्र का विषय बन कर दिव्य आनन्द की सृष्टि कर रहा है। रामभद्र! ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी अनुकूलता से समस्त असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।।

महिमा निगमु नेति कहि कहई।
जो तिहुँ काल एक रस रहई।।
नयन विषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल।।

अवतार वस्तुतः इस नवद्वार पुर (शरीर) को धन्य वनाने के लिए है। इस शरीर में जो नौ इन्द्रियाँ हैं वही मानों इस नगर के नौद्वार हैं। इस नौद्वार पुर की धन्यता नौमी में श्रीराघवेन्द्र को अभिव्यक्त कर लेने में ही है। विनय पत्रिका में गोस्वामी जी ने प्रत्येक तिथि के लिए साधक को दृढ़ निश्चय के लिए कुछ सूत्र प्रदान किये हैं।

बिनय पत्रिका पद सं. [२०३]

श्री हरि-गुरू-पद-कमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान।।१।।
परिबा प्रथम प्रेम बिनु राम-मिलन अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि।।२।।
दुइज द्वैत-मति छाड़ि चरहिं महि-मंडल धीर।
विगत मोह-माया-मद हृदय वसत रघुबीर।।३।।
तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुन्द।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द।।४।।
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि-मन-चित-अहँकार।
विमल विचार परम पद निज सुख सहज उदार।।५।।
पाँचइ पाँच परस, रस, शब्द, गंध अरू रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिए, वहुरि परब भव कूप।।६।।
छठ षट वरग करिय जय जनक-सुता-पति लागि।
रघुपति-कृपा-वारि बिनु नहि बुताइ लोभागि।।७।।
सातैं सप्त धातु-निरमित तनु करिय विचार।
तेहि तनु केर एक फल, कीजै पर-उपकार।।८।।
आठइँ आठ प्रकृति पर निरविकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय वसहिं वहु काम।।९।।

नवमीं नवद्वार-पुर वसि जेहि न श्रापु भल कीन्ह।
ते नर जोनि श्रनेक भ्रमत दारुन दुःख लीन्ह ।।१०।।

उस द्वार की सार्थकता ही क्या जिसमें ईश्वर का शुभागमन नहीं हुश्रा। नवमी हमें नवद्वार पुर को सार्थक वनाने का सन्देश देती है। नवमी ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से रिक्ता तिथि है। सांसारिक श्रर्थों में रिक्तता एक दोष है, पर यह रिक्तता ईश्वर की उपलब्धि के मार्ग में दोष न होकर गुण ही है। जहाँ रिक्तता के साथ श्रभाव की श्रनुभूति है, वहीं वस्तुतः ईश्वर की श्रावश्यकता भी है। जहाँ दोषों की भीड़भाड़ है, वहाँ ईश्वर का न श्राना तो स्वाभाविक ही है, पर जिनकी यह मान्यता है कि सद्‌गुणों की भीड़-भाड़ में ईश्वर श्रा ही जाएगा वे भी कम भ्रान्त नहीं हैं। जिन्हें गुणों में पूर्णता का श्रभिमान है वहाँ ईश्वर को पाने की सच्ची व्याकुलता का श्रनुभव कैसे हो सकता है श्रौर जहाँ इस व्याकुलता की श्रनुभूति नहीं है वहाँ ईश्वर का श्राना कठिन ही नहीं, श्रसम्भव है।

रिक्तता श्रभिशाप तव है जव उसके होते हुए भी या तो हम उस रिक्तता का श्रनुभव नहीं करते, श्रथवा श्रनुभव होने पर भी उसे प्रगट करने में संकोच का श्रनुभव करते हैं। वस्तुतः रिक्तता कहाँ नहीं है? व्यक्ति का मानसिक श्रभाव इतना व्यापक है कि उसे सृष्टि के समस्त भोग श्रौर ऐश्वर्यों से भी भरा नहीं जा सकता। महाराज मनु के हृदय में इसी रिक्तता की श्रनुभूति उन्हें वन जाने के लिए प्रेरित करती है। श्रौर दशरथ के रूप में वृद्धावस्था तक पुत्र की प्राप्ति न होना इसी रिक्तता के श्रनुभव के लिए प्रेरित वरदान था। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में वहाँ श्रभिशाप जैसा प्रतीत हो रहा था। नवमीं में श्रनेक विशेषताएँ हैं, फिर भी यदि उसे श्रपनी रिक्तता का भान हो रहा था, तो प्रभु श्रपने श्रवतरण के लिए उस मानशून्या तिथि को सौभाग्य प्रदान करें यह स्वाभाविक ही था।

मधुमास को यह गौरव प्राप्त होता है कि वह ईश्वर के प्राकट्य से स्वयं को सम्वन्धित कर सके। मधुमास ऋतुराज है श्रौर उसे साहित्य के ग्रन्थों ने श्रनङ्ग काम के सेनापति के रूप में स्वीकार किया है। रामचरितमानस में भी काम श्रौर वसन्त के मैत्री सम्वन्ध का

उल्लेख करते हुए उसे काम के सखा का पद दिया गया है। तपस्विओं को तपस्याच्युत करने के लिए कामदेव सर्वप्रथम अपने मित्र को ही आमन्त्रित करता है। वसन्त का आगमन होते ही सारा वन प्रान्त नव पल्लव और पुष्पों से सुसज्जित हो उठता है। पुष्पों के सौरभ से आकृष्ट भ्रमरावली का मृदु गुन्जन, कोयल की कुहू-कुहू---पपीहे का पी-कहाँ, पी-कहाँ, किसके अन्तःकरण को रागान्वित नहीं बना देता? काम के सुमन-सर का साज भी वसन्त के हाथों से ही होता है। ऐसे काम-सखा को श्रीराम से सम्बद्ध होने का सुअवसर प्राप्त हो यह अनोखा विरोधाभास है; क्योंकि कहा जाता है कि काम और राम एक साथ नहीं रह सकते।

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कवहुँ न रह सकहिं रवि रजनी एक ठाँव।

वसन्त राग की सृष्टि करता है और यह राग स्वयं अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं है। वह राग हमें किस दिशा में उन्मुख करता है यही उसके अच्छे अथवा बुरे होने का निर्णायक है। ज्ञानी की दृष्टि में राग सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि वह मिथ्या के प्रति आसक्ति उत्पन्न करता है; किन्तु भक्तों की मान्यता यह है कि व्यक्ति का राग, राग के लिए न होकर सुख के लिए होता है। यदि उस राग को सुखस्वरूप प्रभु की ओर मोड़ दिया जाय तो वह सुखान्वेषी राग प्रभु के श्री चरणों का परित्याग कर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। संसार में राग वार-वार अपना आलम्वन वदलता रहता है; इससे अपने आप यह सिद्ध हो जाता है कि वह व्यक्तिनिष्ठ न होकर सुख-निष्ठ है। काम सुखोपलब्धि का साधन है, ऐसा समझकर ही व्यक्ति कामोन्मुख होता है। यदि रागी व्यक्ति के समक्ष काम-सुख की निन्दा की जाय तो इतने मात्र से ही वह काम से विरत नहीं हो जाता। उसे यह आश्वासन प्राप्त होना चाहिए कि 'काम' की अपेक्षा 'राम' में अधिक सुख है। तब ऐसी परिस्थिति में काम का परित्याग करने में उसे रञ्चमात्र भी संकोच नहीं होगा। ऋतुराज वंसत को स्वयं से सम्बद्ध कर भगवान राम ने सृष्टि के सारे जीवों को अपने प्रति राग का आमन्त्रण दिया। सृष्टि में ऐसे अनेक प्रसिद्ध रागी पुरुषों का

दृष्टान्त है, जिन्होंने जितनी तीव्रता से संसार में राग का अनुभव किया उतनी ही तीव्रता से वे श्रीराम के चरणों के भी अनुरागी बने। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास का जीवन इसका ज्वलन्त दृष्टांत है।

शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष में प्रकाश और अन्धकार की मात्राएँ बराबर होते हुए भी उनमें से एक को शुक्ल (उज्ज्वल) और दूसरे को कृष्ण (अन्धकार) कहना कुछ अटपटा सा लगता है; किन्तु विचार करने पर इसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। जहाँ कृष्ण पक्ष हमें प्रकाश से अन्धकार की ओर उन्मुख करता है, अर्थात् पूर्णिमा के उज्ज्वल प्रकाश से अमावस्या के घोर अन्धकार में पहुँचा देना उसकी स्वाभाविक परिणति है; वहाँ शुक्ल पक्ष हमें सघन अमा के अन्धकार से पूर्णिमा के उज्ज्वल प्रकाश तक पहुँचाता है। प्रत्येक जीव ईश्वर का अंश है इसलिए उत्तराधिकार में उसे प्रकाश की उपलब्धि हुई है; किन्तु अन्धकार भी सृष्टि का एक अङ्ग है। ब्रह्मा की सृष्टि का यह उत्तराधिकार उसे ढोना ही होगा; किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि हम अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहे हैं अथवा प्रकाश से अन्धकार की ओर? क्या द्वितीया की संक्षिप्त कला से हम अपने जीवन को क्रमशः आत्म-तत्त्व की पूर्णता की ओर बढ़ा रहे हैं? पूर्णिमा की मधुमयी रात्रि के समान क्या हमारे जीवन में उस पूर्ण-प्रकाश का प्राकट्य हो गया है? अथवा वासना के घनीभूत अन्धकार ने क्रमशः हमारे आत्मचन्द्र को ढक लिया है। गोस्वामी जी ने इसी भाव को इङ्गित करते हुए ये पंक्तियाँ लिखीं—

सम प्रकास तम पाख दुहु नाम भेद बिधि कीन्हि।
ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्हि।।

शुक्ल-पक्ष में प्रभु का प्राकट्य हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। दिन तो दोनों ही पक्षों का उज्ज्वल होता है; क्योंकि सूर्य तो सर्वदा अपनी पूर्ण कला से ही प्रकाशित होता है; किन्तु दिन के पीछे उतनी ही लम्बी रात्रि भी तो है। हमारा जीवन भी दो भागों में विभक्त है। एक भाग वह है जो दिन के समान लोगों की आँखों के सामने है, पर उसका वह अदृश्य भाग जो लोगों की दृष्टि से ओझल है, वह दिन के हमारे उज्ज्वल चित्र

से भिन्न केवल अन्धकार से आच्छन्न है अथवा उसमें भी भावचन्द्र का उज्ज्वल प्रकाश अपनी शीतलता बिखेर रहा है। हमारा अन्तरङ्ग जीवन शीतलता और आह्लाद से पूर्ण है या उन रात्रियों में हमारे अन्तःकरण में मात्सर्य, मोह, मान आदि चोर सक्रिय हो रहे हैं। चोर को दिन तो प्रिय लगता ही नहीं, पर चाँदनी रात भी उसे अप्रिय लगती है--"चोरहिं चाँदनी रात न भावा"। जीवन की समग्रता तो इसी में है कि यदि हमारे दृश्य जीवन में ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश हो तो हमारे आन्तर जीवन में भावचन्द्र की किरणें रस की सृष्टि कर रही हों। शुक्ल पक्ष दिन और रात्रि दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण है। भगवान राम ने अपने चरित्र के माध्यम से जो आदर्श प्रस्तुत किया उसमें भी सूर्य और चन्द्र का यही समन्वय विद्यमान है। उनका चरित्र ज्ञान और प्रेम दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण है।

जन्म लेने के लिए प्रभु ने जो नक्षत्र चुना वह तो और भी विलक्षण है। अन्य नक्षत्र सत्ताइस दिनों के पश्चात् केवल एक बार आते हैं, किन्तु यह अभिजित् तो प्रतिदिन कुछ क्षणों के लिए आकर हमें प्रभु के प्राकट्य की स्मृति दिला जाता है। हमें प्रभु के शुभागमन के लिए लम्बी प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं है, वे आज ही प्रगट हो सकते हैं; क्योंकि अभिजित् तो आज भी है। अठाइस नक्षत्रों में यह विलक्षणता केवल अभिजित् में है, पर इस अभिजित् के लिए हमें जागरूक रहना होगा; क्योंकि यह केवल कुछ क्षणों के लिए आता है और ऐसा न हो वह आकर चला भी जाय और हम अपने गृहकार्यों में उलझे ही रहें। और आता भी तो यह ठीक मध्याह्न में है। प्रातःकाल और सायंकाल को भी संधि बेलाओं का मिलन होता है; किन्तु वहाँ प्रकाश और अन्धकार की सन्धि-बेला होने से उसे पहिचानना और पकड़ पाना अधिक सरल होता है। पर यह मध्य दिन की सन्धि पकड़ पाना अत्यधिक कठिन है; किन्तु चतुराई तो तब है कि जब हम इस सन्धि-बेला को पहिचान कर इसमें प्रभु के अवतरण का आनन्द लें।

हमारे शास्त्रों में सन्ध्या की बहुत बड़ी महिमा गाई गई है; यह सन्ध्या भी सन्धि शब्द से ही बनी है। सन्धि-बेला में की जाने वाली प्रार्थना और कुछ विधि-विधान ही 'सन्ध्या' के रूप में प्रसिद्ध

हैं। प्रातःकालीन सन्ध्या से सूर्य का स्वागत और सायंकालीन सन्ध्या से सूर्य की आदर पूर्वक विदाई करते हैं। सूर्य जीवन का केन्द्र-विन्दु है, जिसके अभाव में जीवन से प्रकाश और ऊष्मा (ताप) समाप्त हो जाएगी। उसके प्रति हमारा यह अभिनन्दन स्वाभाविक है; उन्हें हमारे अभिनन्दन की आवश्यकता भले ही न हो, पर यह तो प्रकाश के प्रति हमारे प्रेम और हमारी कृतज्ञता का परिचायक है। मध्याह्न में की जाने वाली सन्ध्या प्रकाश की पूर्णता का अभिनन्दन है। प्रातःकाल उदित होने वाला सूर्य मध्याह्न काल में अपने पूर्ण यौवन पर होता है; किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अन्धकार और प्रकाश की सन्धि बेला तो समझ में आ सकती है, पर मध्याह्न काल में जब केवल शुद्ध प्रकाश होता है तब उसमें सन्धि बेला की कल्पना कैसी ? तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर अन्धकार की कोई पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। अन्धकार है क्या ? प्रकाशके अभाव का नाम ही अन्धकार है और प्रकाश स्वयं भी निरपेक्ष न होकर सापेक्ष पदार्थ है। मध्याह्नकाल में प्रकाश के इस तारतम्य को पकड़ पाना अत्यधिक कठिन है। प्रकाश और अन्धकार के अन्तर को स्थूल दृष्टि वाला भी पकड़ लेता है; किन्तु ईश्वर को देख पाने के लिए वह दृष्टि चाहिए जो मध्याह्न के प्रकाश की सन्धि बेला को पकड़ सके। यह ईश्वर के स्वरूप की सूक्ष्मता की ओर सङ्केत है। अभिजित् नक्षत्र इसी सूक्ष्म बेला में प्रतिदिन आता है। ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि में विभिन्न कार्यों के लिए अलग-अलग नक्षत्र शुभ होते हैं। अतः जिन्हें भौतिक समृद्धि और सफलता की आकांक्षा है उन्हें इन नक्षत्रों का उपयोग जानना चाहिए; किन्तु अभिजित् तो मानों केवल ईश्वर की उपलब्धि के लिए है। भौतिक सुख समृद्धि देने वाला कोई भी नक्षत्र अभिजित् (अपराजेय) हो ही नहीं सकता; क्योंकि सांसारिक सफलता में कभी विफलता या पराजय न हो यह असम्भव है। ईश्वर की प्राप्ति ही व्यक्ति को सर्वथा अपराजित बना देती है और इसलिए अन्य नक्षत्रों से विभिन्न ग्रह और देवताओं का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, पर अभिजित् को तो गोस्वामी जी "हरि-प्रिय" के रूप में स्मरण करते हैं।

नौमी तिथि मधुमास पुनीता।
सुकल पच्छ अभिजित हरि-प्रीता।।

गोस्वामी जी के शब्दों में जिस समय प्रभु का प्राकट्य हुआ उस समय न तो शीताधिक्य था और न तो अत्यन्त घाम--"मध्य दिवस अति शीत न घामा"। इसी अर्द्धाली को हम मानस का जीवन दर्शन भी कह सकते हैं। इससे मिलती-जुलती अर्द्धाली किष्किन्धा काण्ड के शरद वर्णन में मिलती है--

पंक न रेनु सोह अस धरनी।
नीति निपुन नृप की जस करनी।।

वर्षा-ऋतु में मार्ग कीचड़ से भर जाता है और ग्रीष्म-ऋतु में धूल उड़ने लगती है। सन्तुलन तो केवल शरद-ऋतु में है, जब मार्ग में कीचड़ और धूल दोनों का अभाव है। कीचड़ भरे मार्ग से चलने पर वस्त्र तो मलिन होते ही हैं--फिसलकर गिरने का भय भी बना रहता है। धूल-धूसरित मार्ग पर आँखें धूल से भर जाती हैं और मार्ग का दिखाई देना कठिन हो जाता है। जीवन के लिए दोनों ही स्थितियाँ उपयुक्त नहीं हैं। राजा को प्रजा से व्यवहार करते हुए सर्वदा सजग रहना चाहिए, यदि राजा ने अत्यन्त सौम्यता का परिचय दिया तो ऐसी स्थिति में समाज उच्छृङ्खल हो जायगा। भय के अभाव में समाज की सजगता समाप्त हो जाती है और ऐसा उच्छृङ्खल समाज पतन के गर्त में गिर जाता है। दूसरी ओर शासक यदि उग्र दण्डनीति का आश्रय ले तो ऐसी स्थिति में समाज भय और आतंक से संत्रस्त हो जाता है और तब उसे मार्ग ही नहीं दिखाई देता। ऐसा शासक प्रजा की आँखों में किरकिरी बन जाता है। ऐसी स्थिति में राजा को समाज की सुव्यवस्था, सन्तोष और शान्ति के लिए ऐसी नीति का प्रयोग करना चाहिए, जो मध्यमार्गी हो; जिसमें कोमलता और दण्ड का समन्वय हो।

"मध्य दिवस अति शीत न घामा" में समन्वय और सन्तुलन को एक भिन्न प्रतीक के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। शरद-ऋतु में शीत की अधिकता से व्यक्ति का अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठिठुर जाता है और ग्रीष्म की ज्वाला में व्यक्ति का शरीर झुलस जाता है। पहला

प्रतीक जहाँ राजनीति के संदर्भ में है, वहाँ दूसरे प्रतीक को हम और भी व्यापक अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं। राजनीति, ज्ञान, धर्म, साधना आदि सभी क्षेत्रों में इस सिद्धान्त से लाभ उठाया जा सकता है। इस अर्द्धाली का पहला शब्द ही, "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का सन्देश सुनाता है। शीतलता और ऊष्मा को यदि संदर्भ से पृथक् कर विचार करें तो सम्भवतः ऐसा जान पड़ता है कि शीतलता सुखद है और ताप के द्वारा तापवर्धन के कारण ऊष्मा दुःखदायक है, पर यह व्यावहारिक यथार्थ नहीं है। शीत ऋतु में व्यक्ति को धूप प्यारी लगती है और ग्रीष्म ऋतु में वह शीतलता की खोज में व्याकुल हो जाता है। वस्तुतः सत्य यह है कि व्यक्ति के शरीर को सन्तुलित रूप में दोनों की आवश्यकता है और इस सन्तुलन में थोड़ा भी अन्तर पड़ने पर व्यक्ति उस कमी को पूरा करने के लिए व्यग्र हो जाता है। सहज स्थिति में व्यक्ति को ताप और शीत दोनों का ही अनुभव नहीं होता है; पूर्ण सन्तुलित स्थिति तो यही है। शीत और ताप के स्थान पर सहजता ही आदर्श है और शरीर का यह सत्य समग्र जीवन का भी सत्य है। वसंत को जब साहित्य में ऋतुराज की संज्ञा दी जाती है तब उसके अनेक सद्गुणों के साथ एक महत्त्वपूर्ण गुण यह भी है कि वह शीत और ताप की दृष्टि से सन्तुलित है, इसलिए वह व्यक्ति को सहज ही प्रिय लगता है।

साधना की दृष्टि से भी साधक के लिए यह महामन्त्र है। साधना का श्रीगणेश बहुधा उत्साह के अतिरेक से होता है। एक महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसे शीघ्र से शीघ्र हस्तगत करने के लिए साधक की व्यग्रता उसे आविष्ट बना देती है। यह उतावलापन एक सीमा तक लाभदायक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि जड़ता साधक के लिए मृत्यु है और यदि उसके उत्साह में शिथिलता आई तो सम्भावना यही है कि अंत में वह लक्ष्य तक पहुँचने की आकांक्षा ही खो बैठे। अतः इस प्रमाद और आलस्य को नष्ट करने के लिए उत्साह की आवश्यकता है, पर उत्साह का अतिरेक भी कम भयावह नहीं है; क्योंकि इस अति की प्रतिक्रिया भी जड़ता के रूप में हो सकती है और प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली यह जड़ता आलस्य के द्वारा

उत्पन्न होने वाली जड़ता की अपेक्षा कहीं अधिक घातक है; क्योंकि शिथिलता के द्वारा उत्पन्न होने वाली जड़ता को प्रेरक उपायों के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, किन्तु अति के बाद साधक के अन्तःकरण में जिस निराशा और संशय का जन्म होता है वह उसे समस्त साधना-पद्धति के विरुद्ध विद्रोही बना सकता है। अतः साधक को अति के सम्भावित भय से सतर्क रहना चाहिए। साधक के मन में अति की भावना का संचार कैसे होता है ? बहुधा वह पुराण और इतिहास में जिन गाथाओं को पढ़ता अथवा सुनता है, उनमें अनेक ऐसे प्रसङ्ग होते हैं जिनसे साधक को ऐसा लगता है कि उग्र तप, त्याग, तितिक्षा और बलिदान से ही किसी महान् उद्देश्य की उपलब्धि होती है। जब वह मनु की कठिन तपस्या का वर्णन पढ़ता है, तब उसे लगता है कि हमें भी इसी प्रकार तपस्वी बनकर ईश्वर का दर्शन प्राप्त करना है। मनु का तपस्या निरत दुर्बल शरीर उसे एक आदर्श के रूप में प्रतीत होता है।

अस्थि मात्र होइ रहेउ सरीरा।
तदपि मनाग मनहिं नहीं पीरा।।

उसे अर्द्धाली की आधी पंक्ति इतनी प्रिय लगती है कि पंक्ति के अन्तिम भाग का रहस्य ध्यान में ही नहीं आता। अति एक सापेक्ष शब्द है। सबके लिए यह निर्धारित करना असम्भव है कि किसे अति माना जाय। एक युवा के लिए जो अति नहीं है वही एक बालक के लिए अति बन जाती है। प्रश्न केवल इतना नहीं है कि मनु ने क्या किया अपितु मुख्य ध्यान इस पर दिया जाना चाहिए कि मनु की क्षमताएँ क्या हैं? इतनी कठिन तपस्या के बाद उन्हें किसी प्रकार की मानसिक पीड़ा का अनुभव नहीं होता। इसलिए मनु के लिए वह भले ही अतिरेक न हो पर दूसरों के लिए उसका लक्षांश भी अतिरेक बन सकता है। साधक को मनु के इतिहास से केवल इतनी ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि वास्तविक साधना तभी फलवती होती है, जब उसमें इतना उत्साह हो कि व्यक्ति साधना को एक बलात् श्रम न समझकर उसमें आनन्द और रस का अनुभव करे; क्योंकि पुराणों ने जहाँ ऐसे इतिहास प्रस्तुत किए हैं जिनमें मनु जैसी कठोर साधना है, वहाँ ऐसे अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं,

जहाँ ईश्वर की उपलब्धि अत्यन्त सरलता से हो गई। साधक इन दोनों प्रकार के दृष्टान्तों से उचित प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। त्याग, वलिदान अथवा तपस्या स्वयं साध्य न होकर केवल साधन मात्र हैं और यदि कोई व्यक्ति इन सद्गुणों का अनावश्यक प्रयोग करे तो उसे हम विवेकी नहीं कह सकते। पुत्र के अस्वस्थ होने पर यदि उसे बचाने की व्यग्रता में माँ आत्महत्या कर ले तो उसे हम वलिदान की वीरता न कहकर ममताजन्य उन्माद ही कह सकते हैं। प्राण त्याग के स्थान पर यदि माँ बालक की चिकित्सा और देखरेख का श्रम उठाले तो इतने से बालक स्वस्थ हो सकता है और ऐसी स्थिति में माँ के कार्य में किसी अलौकिकता और आश्चर्य का दर्शन न होने पर भी साध्य की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त व्यवहार है। साधक के अतिरेक के पीछे एक भिन्न मनोवैज्ञानिक तथ्य भी होता है, उसे हम छिपी हुई लोकैषणा कह सकते हैं। यदि साधक का लक्ष्य साध्य की उपलब्धि है तो उसके लिए वह ऐसी साधना-प्रणाली चुनेगा जो उसे शीघ्र से शीघ्र लक्ष्य के निकट पहुँचा दे; किन्तु यदि साधक लोगों की दृष्टि का केन्द्र-विन्दु वनना चाहे और महापुरुष के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठापित करना चाहता हो तो स्वभावतः वह ऐसी साधना-प्रणाली का चुनाव करेगा जिसमें वह अधिकाधिक लोगों की दृष्टि का केन्द्र-विन्दु बन सके। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि साध्य पर न होकर आने वाली भीड़ पर होगी। सजग साधक इस दिशा में सर्वदा जागरूक रहता है; क्योंकि विशिष्ट कहलाने और वनने का मोह ही साधक के पतन का हेतु बन जाता है।

अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु।
लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।।

इस दोहे में एक विलक्षण संकेत है। वस्तुतः तपस्या अग्नि है और व्यक्ति के पाप-तापों को नष्ट कर देती है। पर जब वही तपस्या लोकमान्यता के लिए की जाती है तव उस तपस्या को अग्नि न कहकर गोस्वामी जी जङ्गल कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं और तव उस समय लोकसम्मान ही अग्नि का रूप धारण कर साधक और उसकी तपस्या को विनष्ट कर देता है।

देवर्षि नारद के काम-विजय को भी हम इस संदर्भ में देख सकते हैं। देवर्षि नारद न केवल तपस्या में संलग्न हैं; अपितु वे काम और क्रोध जैसे दुर्गुणों को जीतने में भी सफल हो जाते हैं; किन्तु वहाँ भी यही भूल दोहराई जाती है। देवर्षि नारद के काम-विजय के उपाख्यान को पढ़कर यदि साधक के अन्तःकरण में तपस्या और काम-विजय का महत्त्व स्थापित होता है तो ऐसी समझ के परिणाम-स्वरूप, साधक न केवल सही निष्कर्ष निकालने में असफल होता है; अपितु वह सर्वथा प्रतिकूल अर्थ ले रहा होता है। जब साधक को यह उपदेश दिया जाता है कि काम से दूर रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, तब उसका वास्तविक तात्पर्य केवल ब्रह्मचर्य की प्रशंसा और काम की निन्दा से नहीं है। इस उपदेश का मुख्य उद्देश्य भगवत् प्रेम है। काम भगवत्प्रेम में बाधक है और ब्रह्मचर्य उसका सहायक है, यह मानकर ही ऐसा उपदेश दिया जाता है; किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ब्रह्मचारी और काम का विजेता भगवत्परायण ही हो जाय।

देवर्षि नारद के प्रसंग में तो सर्वथा उल्टा ही हुआ। जब वे एक भगवत्भक्त के रूप में जाने जाते थे, तब उनके अन्तःकरण की जो स्थिति थी उसके स्थान पर ब्रह्मचारी और काम-विजेता की ख्याति प्राप्त कर सर्वथा विपरीत हो गई। प्रेम के स्थान पर ब्रह्मचर्य और काम-विजय ने अहङ्कार-ग्रस्त बना डाला और पुनः उन्हें पूर्व स्थिति में लौटाने के लिए भगवान को विवाह के लिए व्यग्र कामग्रस्त नारद के रूप में प्रदर्शित करना पड़ा। अतः साधना के अतिरेक में यह भय पग-पग पर विद्यमान है कि कहीं वह साध्य की उपलब्धि के स्थान पर आत्म-विज्ञापन का केन्द्र न बन जाय। तपस्या, त्याग, तितिक्षा—सभी के अतिरेक में यही भय विद्यमान है। साधक को निरन्तर स्मरण रखना होगा कि त्याग, तप और तितिक्षा ईश्वर की उपलब्धि के साधन मात्र हो सकते हैं। जब एक साधक शीत, धूप और वर्षा सहन करता है, तब इसका तात्पर्य इतना मात्र है कि यदि साधक अपने शरीर को सुविधाओं का अभ्यस्त बना लेगा तो उसे उनकी पूर्ति के लिए

सांसारिक लोगों का अधिकाधिक सम्पर्क प्राप्त करना होगा और इस तरह जन-सम्पर्क और आवश्यकताओं के कारण साधना से च्युत हो जायगा। किन्तु वलात् तितिक्षा के अतिरेक से ठीक यही स्थिति उत्पन्न हो जायगी; क्योंकि किसी व्यक्ति के तितिक्षा की ख्याति लोगों के अन्तःकरण में उसके प्रति आदर और आकर्षण उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में लोक-सम्पर्क से दूर रहने के लिए जिस तितिक्षा की महिमा वताई गई थी, वह तितिक्षा ही अतिरेक के कारण साधक के पतन का हेतु वन जाती है। सच्चा साधक सहिष्णु और तितिक्षु होता हुआ भी उसके अतिरेक और प्रदर्शन से सर्वथा दूर रहता है। इसीलिए गीता में भी श्रीकृष्ण ने सन्तुलन का सन्देश देते हुए साधक को अतिरेक से सावधान किया है। अत्यधिक भोजन अथवा अत्यल्प भोजन और उपवास का अतिरेक समान रूप से घातक है। यदि एक से शरीर में आलस्य वढ़ेगा तो दूसरे से शरीर अत्यन्त दुर्बल हो जायगा। ऐसा तो सम्भव है कि साधक आवेश और नवीनता की रसानुभूति के कारण प्रारम्भ में यह सोच लें कि सोना समय गवाँना है और मस्ती में रात भर जाग कर भजन करता रहे, पर यह सर्वदा स्थिर रहने वाली स्थिति नहीं है। अंत में शरीर अस्वस्थ होकर साधारण भजन से भी वञ्चित देगा।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

यदि ऐसे प्रसंग में प्रत्येक साधक श्रीलक्ष्मण का दृष्टान्त दे कि वे तो चौदह वर्ष तक निरन्तर जागृत रहकर सेवा करते रहे तो फिर मैं ऐसा क्यों नहीं कर सकता? ऐसी धारणा साधक के अविवेक का परिचायक है। श्रीलक्ष्मण नियम न होकर अपवाद हैं। ऐसे विशिष्ट चरित्र अनुकरण के लिए न होकर अभिमान नष्ट करने के लिए हैं। यदि साधक के अन्तःकरण में अपनी सेवा और अपनी भजन-निष्ठा का अभिमान हो और यदि वह यह सोचता हो कि मैं केवल चार घंटे सोकर वहुत बड़ी सेवा या अत्यधिक भजन करता

हूँ; तो ऐसी स्थिति में श्रीलक्ष्मण का चरित्र यह स्मरण दिलाने के लिए है कि जव इतिहास में ऐसे महापुरुषों का दृष्टांत है, जो कभी शयन ही नहीं करते तव कम सोने का अभिमान सर्वथा व्यर्थ है। सच्चा साधक इस तरह "अति शीत न घामा" को साधना का मूलमन्त्र मान सकता है। यदि हम ईश्वर का अवतरण चाहते हैं तो हमें अतिरेक के स्थान पर मध्यम मार्ग के सिद्धान्त का पालन करना चाहिए।

व्यवहारिक क्षेत्र में भगवान राम ने अपने चरित्र के माध्यम से "अति शीत न घामा" के सिद्धान्त को ही क्रियान्वित किया है। व्यवहार में अत्यधिक नम्रता या रोष की उग्रता दोनों ही कल्याणकारी नहीं हैं; इसलिए अवतार परम्परा में भी सभी अवतार पूर्ण नहीं माने जाते। ऋषभदेव और परशुराम दोनों ही भगवान के अवतार हैं; किन्तु दोनों ही पूर्ण अवतार नहीं माने जाते। ऋषभदेव में अहिंसा की पराकाष्ठा है और परशुराम में हिंसा की कठोरता विद्यमान है। एक यदि "अति शीत" का प्रतीक है, तो दूसरा "अति घाम" का। दोनों ही हमारे प्रणम्य हैं; किन्तु वे जनसमाज के आदर्श नहीं माने जा सकते। पूर्णावतार के रूप में भगवान राम की स्वीकृति का तात्त्विक आधार तो है ही; किन्तु व्यवहार में भी वे समग्र समाज के लिए आदर्श हैं। उनमें कोमलता और दृढ़ता का अद्भुत समन्वय है; इसलिए चारित्रिक दृष्टि से भी ऐसी पूर्णता का दर्शन किसी अन्य अवतार में नहीं होता है। वे स्वभावत: नम्र हैं; किन्तु आवश्यक होने पर उन्हें कठोर वनने में भी कोई संकोच नहीं है। परशुराम और भगवान राम के संवाद में भी श्रीराम के कोमल दृढ़ रूप के दर्शन होते हैं। वे परशुराम के चरणों में नत हैं, नम्रता भरी वाणी में उनसे वार्तालाप करते हैं, उन्हें संतुष्ट करने के लिए व्यग्र हैं; पर इस कोमलता में भय अथवा निर्बलता का लेश भी नहीं है और अपने इसी चारित्रिक सन्तुलन के वल पर उन्होंने बिना शस्त्र उठाए ही परशुराम को परास्त कर दिया। वे अनावश्यक युद्ध से बचना चाहते हैं, इसीलिए वे परशुराम के समक्ष हार स्वीकार करते से दिखाई दे रहे हैं।

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।।
राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा।।
देव एकु गुनु धनुष हमारें।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारें।।
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे।।

किन्तु यह एक विलक्षण आश्चर्य था कि श्रीरामभद्र द्वारा हार स्वीकार कर लिए जाने पर भी परशुराम को संतोष के स्थान पर क्रोध ही अधिक हुआ। वस्तुतः परशुराम ने यह तत्काल अनुभव कर लिया कि श्रीराम के स्वर में नम्रता और कोमलता का मिश्रण होते हुए भी पराजय की वह घिघियाहट नहीं है, जिसे सुनने के उनके कान अभ्यस्त हो चुके थे। उन्हें ऐसा लगा कि यह विजय भी दान के रूप में दी जा रही है।

ठीक इससे मिलता-जुलता चित्र जगत् विजेता रावण की सभा में खड़े मारुतिनन्दन श्रीहनुमान का था। यद्यपि वे सभा में बंदी बनाकर ले आये गए थे और उन्होंने रावण के प्रति प्रणाम का निवेदन भी किया था; किन्तु पैनी दृष्टि वाले रावण को यह समझते देर न लगी कि सामने खड़ा हुआ व्यक्ति रञ्चमात्र भय से संत्रस्त नहीं है। इसलिए इस प्रणाम और नम्रता से भी रावण के अहं को चोट पहुँची और उसने क्रुद्धस्वर में प्रश्न किया ?

कह लंकेस कवन तैं कीसा।
केहि कें बल घालेहि बन खीसा।।
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही।
देखउँ अति असंक सठ तोही।।

श्रीहनुमान जी के चरित्र में भी उसी मृदु-कठोरता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः मृदुता अथवा कठोरता स्वयं अपने आप में साध्य नहीं है। हमें यह सर्वदा ध्यान रखना होगा कि समाज में विविध स्वभाव और संस्कार के व्यक्तियों से हमें व्यवहार करना पड़ता

है। अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें नम्रता और कोमलता में दुर्बलता का भान होता है; और तब वे उसका अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं! और दूसरी ओर ऐसे व्यवित भी होते हैं जो कठोरता से विद्रोही वन जाते हैं। इसलिए साधक अथवा लोक का समुचित संचालन करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को, स्वयं को केन्द्र में स्थापित करना चाहिए। इसीलिए भगवान राम के चरित्र की विशेषता वताते हुए मानस में इन पंक्तियों का प्रयोग किया गया।

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ।।

दोहावली रामायण में गोस्वामी जी ने भक्त के जीवन-दर्शन का जिन शब्दों में उल्लेख किया है, उसमें यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि भगवच्चरणों में प्रेम होते हुए भी लोक व्यवहार में सर्वदा नीति का ही पालन करना चाहिए।

प्रीति राम पद नीति मग, चलिअ राग रिष जीति।
तुलसी संतन के मते, यही भगति की रीति।।

संतों को हम स्वार्थहीन परमार्थ-परायण के रूप में नमन करते हैं; किन्तु भगवान राम के चरित्र में स्वार्थ और परमार्थ के जिस समन्वय का वर्णन किया गया है, उसमें निहित संकेत वड़े ही मनोवैज्ञानिक हैं। क्या स्वार्थ और परमार्थ सर्वथा विरोधी हैं? अधिकांश लोग ऐसा ही मानते हैं; किन्तु यह यथार्थ से सर्वदा दूर है। स्वार्थ की निन्दा और परमार्थ की प्रशंसा कर देने मात्र से मानवीय स्वभाव परिवर्तित नहीं हो जाता। हाँ! इसका एक परिणाम अवश्य होता है कि स्वार्थी व्यक्ति भी हीन दृष्टि से देखे जाने के भय से स्वयं को परमार्थपरायण व्यक्ति के रूप में ही प्रदर्शित करना चाहता है। इस तरह स्वार्थ और दम्भ मिश्रित रूप में सामाजिक जीवन के अङ्ग वन जाते हैं। भगवान राम मूर्तिमान परमार्थ हैं और सभी परमार्थ-वादी उन्हें प्राप्त कर लेना ही जीवन की चरम सार्थकता मानते हैं; किन्तु भगवान राम जिस समय सुग्रीव से वार्तालाप करते हैं, उस समय उनकी वाणी में स्वार्थ की खुली स्वीकृति है। सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य देते हुए उन्होंने कहा,—अंगद के सहित आप

राज्य चलाइये; किन्तु मेरे कार्य का सर्वदा स्मरण रखिए। वहिरङ्ग दृष्टि से हमारे अन्त:करण में उदात्त आदर्श की जो कल्पना है, यह भाषा उससे मेल नहीं खाती; किन्तु जीवन के यथार्थ की दृष्टि से तो यह भाषा उपयुक्त है ही, साथ ही परमार्थ की उपलब्धि में भी यही भाषा अधिक सहायक हो सकती है। सुग्रीव का अन्त:करण स्वार्थ शून्य नहीं है, फिर भी वे पारमार्थिक भाषा का उपयोग करते हैं।

सुख संपति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।।
ए सब राम भगति के बाधक।
कहहिं संत तव पद अवराधक।।
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
मायाकृत परमारथ नाहीं।।
बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।।
सपनें जेहि सन होइ लराई।
जागें समुझत मन सकुचाई।।
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँति।
सब तजि भजनु करौं दिन राती।।

इस तरह प्रस्तुत प्रसंग में हमें एक अद्भुत विरोधाभास का दर्शन होता है। परमार्थपरायण प्रभु ने स्वार्थ-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया और स्वार्थी व्यक्ति ने स्वयं को परमार्थपरायण प्रदर्शित करने की चेष्टा की। कारण स्पष्ट है—सुग्रीव के अन्त:करण में श्रवण या सत्संग से यह संस्कार पड़ा होगा कि निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, कामना सर्वथा त्याज्य है और यह सिद्धान्त सर्वथा शास्त्रसंगत है; किन्तु साधक यदि सजगता से विचार करे तो उसे प्रारम्भ में सकामता और निष्कामता में तुलना करने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो प्रारम्भ में यह विचार करना चाहिए कि कामना और मिथ्याचार में कौन श्रेष्ठ है? असंदिग्ध मिथ्याचार, कामना की तुलना में त्याज्य और निन्दनीय है। साधक के जीवन में सरलता सबसे बड़ा सद्गुण है। अत: जब वह स्वयं की सकामता स्वीकार करता है, तब वह

भगवान को अत्यन्त प्रिय लगने वाली सरलता का ही वरण करता है। एक वार जव वह ईश्वर के समक्ष सरल भाव से अपने अन्तःकरण को खोलकर रख देता है, तव फिर यह प्रभु का कार्य हो जाता है कि वे सकामता को त्याज्य समझते हैं तो उसे अपनी कृपा से नष्ट कर दें। एक रोगी का सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य यही है कि एक योग्य वैद्य के समक्ष घृणित से घृणित रोगों का भी स्पष्ट वर्णन कर दे। वैद्य के पास रोगी आता ही इसीलिए है कि स्वयं को अस्वस्थ अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में वैद्य से दुराव की क्या आवश्यकता है? किन्तु यह मानवीय स्वभाव की सहज दुर्वलता है कि वह ऐसे घृणित रोगों की स्वीकृति से कतराता है, जिससे उसके चरित्र पर लांछन लगता हो। एक वार मैंने एक सहृदय वैद्य को, रोगी को संकुचित देखकर, यह कहते हुए पाया—"अमुक प्रकार का रोग प्रारम्भ में स्वयं मुझे भी हो चुका है।" यह यथार्थ सत्य न होते हुए भी रोगी के संकोच को दूर करने वाला सिद्ध हुआ। सत्पुरुषों के द्वारा स्वार्थ की सर्वथा अस्वीकृति से साधारण व्यक्ति का संकुचित होना स्वाभाविक है। पत्नी की प्रेरणा से वैभव की याचना के लिए आए हुए सुदामा श्रीकृष्ण के समक्ष संकुचित हो जाते हैं। क्या श्रीकृष्ण से याचना करना उचित होगा? और तव उनके संकोच को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण स्वयं याचक वनकर पूछ बैठते हैं; क्या मेरी भाभी ने मेरे लिए कोई भेंट नहीं भेजी? सुदामा एक जीर्ण वस्त्र की पोटली में चावल वाँधकर लाए तो थे किन्तु इस वैभव के बीच वे इस तुच्छ भेंट को देने की कल्पना भी नहीं कर पाए। श्रीकृष्ण ने उस छिपी हुई पोटली को वलात् छीन लिया; पोटली की गाँठों को खोल डाला और उतावलेपन से कच्चे चावलों को चवाने लगे—तव यह बुभुक्षा न होकर मित्र के दैन्य को दूर करने का प्रयास था। पोटली की गाँठ वस्तुतः मानसिक हीनता की ग्रन्थि है, जिसमें उनका दैन्य सिमटा हुआ है। पोटली की गाँठ को खोलकर चावल चवाते हुए श्रीकृष्ण ने वस्तुतः उनकी हीनता की ग्रन्थि खोलकर उनके दैन्य को अपना भोग्य वना लिया।

भगवान राम स्वार्थ के प्रति सुग्रीव की हीन-वृत्ति को मिटाने

के लिए ही उनके समक्ष स्वार्थ मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ ही परमार्थ की प्रेरक वृत्ति है। जव व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि स्वार्थ की सिद्धि में भी उसे पूर्ण संतोष उपलब्ध नहीं हुआ, तभी वह परमार्थ की दिशा में अग्रसर होता है। ऐसी स्थिति में स्वार्थ और परमार्थ को परस्पर विरोधी मानना सुविचारित सत्य नहीं है। केन्द्र में बैठा हुआ व्यक्ति इस सत्य को भली-भाँति देख पाता है, जवकि स्वार्थ और परमार्थ के वृत्त पर बैठा हुआ व्यक्ति दोनों में सर्वथा दूरी देखता है। वहाँ केन्द्रस्थ व्यक्ति को दोनों दूरियाँ समान प्रतीत होती हैं। इसी केन्द्र का प्रतिपादक "मध्य दिवस अति शीत न घामा" है।

श्रीराम-जन्म की वेला को गोस्वामी जी पावन काल का विशेषण देते हैं। पावन काल का तात्पर्य है--पवित्र करने वाला समय। पवित्रता स्वयं अपनी वस्तु है; अपने आप में पवित्र होना भी सद्गुण है, यदि वह पवित्रता अभिमान वनकर दूसरों के प्रति घृणा अथवा उपेक्षा की सृष्टि न करे। जवकि तथाकथित पवित्रात्माओं में पवित्रता की अपेक्षा अभिमान की मात्रा ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः पवित्रता सच्चे अर्थों में अपने उद्देश्य की सिद्धि तव कर पाती है, जव वह दूसरों को अपवित्रता से मुक्त कर सके। एक शल्य चिकित्सक को इस विषय में हम आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। शल्य चिकित्सागार (operation-hill) में पवित्रता और स्वच्छता का कितना अधिक ध्यान रखा जाता है। रोगी का स्पर्श करने से पहिले डाक्टर शरीर पर शुद्ध धौत वस्त्र धारण करता है, अपनी नाक को वस्त्र-पट्टिका से ढक लेता है और हाथों के ऊपर रवर के आस्त्राण चढ़ा लेता है। वहिरङ्ग दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि चिकित्सक को अपनी सुरक्षा का कितना अधिक ध्यान है; किन्तु चिकित्सा-शास्त्र को समझने वाला यह भली प्रकार जानता है कि इसमें स्वयं अपनी सुरक्षा से भी अधिक रोगी की सुरक्षा का ध्यान है। अपने श्वास-प्रश्वास और स्पर्श से वह रोगी में किन्हीं कीटाणुओं की सृष्टि न कर दे, यह सजगता ही उसे इतने प्रतिबन्धों के लिए प्रेरित करती है। और यदि चिकित्सक को अपनी सुरक्षा

का ध्यान होता है, तब भी उसका तात्पर्य यही है कि वह भली प्रकार यह जानता है कि उसकी सुरक्षा स्वयं रोगी के हित में भी है। वह स्वस्थ रहकर ही अधिकाधिक रोगियों की सेवा कर सकता है। अपनी पवित्रता और प्रतिबन्धों के द्वारा वह रोगी को अपवित्रता, रोग और पीड़ा से मुक्त करता है। यदि पवित्रता के पीछे यही वृत्ति विद्यमान हो तभी वह यथार्थ कल्याणकारिणी है। नहीं तो पवित्रता का यह अभिमान समाज में घृणा और संघर्ष की ही सृष्टि कर सकता है। इसीलिए आज के समाज में तथा-कथित पवित्रतावादी संघर्ष और घृणा की ही सृष्टि करते रहते हैं। पावन काल में अवतरित होने वाले भगवान राम वस्तुतः अपने चरित्र के द्वारा पावनता का यही आदर्श प्रस्तुत करते हैं; इसीलिए उनके श्रीचरणों से विनिःसृत गङ्गा लोकपावनी हैं। वह पतितों का उद्धार करने के लिए हिमालय की ऊँचाइयों से उतरकर पृथ्वी पर प्रवाहित होती हैं। उनकी गोदी में स्नान करने वाला प्रत्येक व्यक्ति पवित्रता और शीतलता का अनुभव करता है।

भगवान राम लोक-लीला में चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र हैं। उनकी सेवा के लिए दिव्य रथ और तीव्र गति वाले अश्व विद्यमान हैं, फिर भी मानस में बहुत गिने चुने अवसरों पर ही रथ अथवा अश्व पर आरूढ़ श्रीराम के दर्शन हमें होते हैं। उनकी सभी मुख्य यात्राएँ पैदल ही पूरी होती हैं; क्योंकि प्रभु अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए कहीं प्रस्थान नहीं करते हैं। वे स्वयं वाहन पर आरूढ़ होकर उन दर्शनार्थियों से अपने बीच दूरी उत्पन्न नहीं करना चाहते; जिससे वे दूर से ही ससंभ्रम स्वागत करते हुए श्रीराम का क्षणिक दर्शन कर सकें। इसके स्थान पर वे उस भूमि पर चलते हैं जिस पर साधारण से साधारण व्यक्ति भी उनके निकट पहुँचकर उन्हें हृदय से लगा सकें, उनसे वार्तालाप कर सकें। उनके द्वारा अहिल्या का उद्धार इसीलिए सम्भव होता है; क्योंकि वे उसी पथ पर चल रहे थे जिस पर परित्यक्ता, शापिता-पाषाणी चिरकाल से उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। वायु वेग से भागते हुए रथ से तो सम्भवतः अहिल्या दृष्टिगोचर भी न होती। अयोध्या से चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हुए, यद्यपि

उन्हें पिता की ग्राज्ञा के प्रति सम्मान प्रगट करने के लिए रथ पर ग्रारूढ़ होना पड़ा; पर ग्रपने प्रियसखा निषाद के गाँव के निकट रथ का परित्याग कर देना विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही था। ऐसा नहीं कि गङ्गा को पार करने की समस्या के कारण उन्होंने रथ का परित्याग किया हो। रथ के द्वारा गङ्गा पार कर सकना ग्रौर भी सरलता से सम्भव था; **जे जल चलहिं थलहिं की नाई। टाप न बूढ़ बेगि ग्रधिकाई।।** किन्तु उन्हें तो केवट के स्नेह ग्रौर उसकी ग्रटपटी वाणी की ग्रपेक्षा थी। यह तभी सम्भव था जवकि वे केवट के समान भूमि पर खड़े हों, दोनों के मध्य में वर्ण, वैभव ग्रौर वाहन की दूरी विद्यमान न हो। वस्तुतः ग्रयोध्या से लेकर लङ्का तक की यह पद-यात्रा पतित-पावनी गङ्गा को प्रगट करने वाले चरणों की यात्रा थी। निषाद, कोल, किरात, वानर, भालु सभी इस यात्रा में प्रभु के संस्पर्श से पावन हो जाते हैं ग्रौर तव श्रीभरत तथा गुरु वशिष्ठ जैसे महापुरुष भी श्रीरामभद्र के संस्पर्श से पावन निषाद को हृदय से लगाने के लिए ललक उठते हैं। यही पावनता मानस की प्रतिपाद्या है। काल से व्यक्ति भयभीत रहता है, क्योंकि वह सारे विश्व को प्रतिक्षण ग्रपना ग्रास वना रहा है। काल प्रतिक्षण हमें मृत्यु के समीप जाने का बोध कराता रहता है; किन्तु वह काल धन्य है जो हमें इस मर्त्यलोक में साक्षात् ब्रह्म के ग्रवतरण का स्मरण दिलाता हुग्रा, मृत्युभय से मुक्त कर देता है।

गोस्वामी जी ने काल की पावनता के साथ उसकी जिस दूसरी विशेषता का उल्लेख किया है, वह है—"लोक विश्रामा" पावनकाल लोक विश्रामा। व्यक्ति के साथ कर्म करने की बाध्यता जुड़ी हुई है; कर्म के साथ श्रम का होना भी ग्रवश्यम्भावी है। कर्म के साथ श्रम का यह सम्वन्ध एक सीमा तक जीवन के लिए ग्रत्यन्त उपादेय है। श्रमाधिक्य की ही भाँति श्रम का ग्रभाव भी ग्रनेक रोगों की सृष्टि करता है। वर्तमान समाज के ग्रनेक रोग श्रम के ग्रभाव की ही उपज हैं। इसीलिए ग्राज के चिकित्सक बौद्धिक श्रम के साथ-साथ शारीरिक श्रम की ग्रावश्यकता पर भी वल देते हैं। वस्तुतः श्रम ग्रौर विश्राम में सन्तुलन की ग्रावश्यकता है। पहिले तो शरीर, मन ग्रौर बुद्धि के श्रम में ताल-मेल बैठाने की ग्रावश्यकता है, जिससे वे

परस्पर एक दूसरे के पूरक और सहयोगी के रूप में कार्य करें। यदि शरीर थका हुआ हो और उस समय हम उससे मानसिक और बौद्धिक श्रम में सहयोग लेना चाहें तो वह स्वभाव से ही विद्रोही बनकर आलस्य, प्रमाद और रोगों की सृष्टि करेगा। अर्थात् श्रान्त मन जब मनोरंजन की आवश्यकता का अनुभव कर रहा हो, उस समय उसे बौद्धिक कार्यों की शुष्क भूमि में सहयोगी बनाने की चेष्टा करना उस पर अत्याचार है। ऐसी स्थिति में मन उन्मादी हो सकता है। शरीर, मन और बुद्धि के समन्वय से किया जाने वाला श्रम स्वास्थ्य, सुख और सत्य को उपलब्ध कराने वाला बनता है। पर बहुधा अधिकांश व्यक्तियों में इस सन्तुलन का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में यदि अधिकांश व्यक्ति स्वयं को थका हुआ अनुभव करें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इस श्रम की समस्या का समाधान क्या है ? गोस्वामी जी स्वयं जिस पद्धति से श्रम और विश्राम की समस्या का समाधान पाते हैं, उसे उन्होंने हम लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने जीवन में कठिन श्रम का अनुभव किया था; क्योंकि प्रारम्भिक जीवन में वे ऐसी निराश्रित स्थिति में थे, जब उन्हें क्षुधा-पूर्ति के लिए भी कठिन श्रम करना पड़ता था। वात्सल्य स्नेह से वञ्चित उनका अतिरिक्त मन चारों ओर स्नेह पाने के लिए सतृष्ण दृष्टि से देख रहा था। कवितावली रामायण में उन्होंने अपनी बाल्यावस्था का बड़ा ही करुण चित्र प्रस्तुत किया है।

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो, सुनि
भयो परितापु पापु जननी-जनक को।
बारे तें ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को॥
तुलसी सो साहेब समर्थ को सुसेवकु है,
सुनत सिहात सोचु बिधिहू गनक को।
नामु राम! रावरो सयानो किधौं बानरो,
जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को॥

इसके पश्चात् जीवन में उन्होंने उस स्थिति का भी अनुभव किया, जब उन्होंने परम विश्राम की उपलब्धि का दावा किया।

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम बिस्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।।

इस परम विश्राम की उपलब्धि उन्हें उनके ही शब्दों में राम कृपा से हुई। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मानस के अनेक प्रसंगों में गोस्वामी जी यह सन्देश सुनाते रहते हैं। इस विश्रामदाता का संकेत वे जन्म काल से ही देना प्रारम्भ कर देते हैं। "पावन काल लोक विश्रामा" से यह सन्देश प्रारम्भ हो जाता है और भगवान राम के नाम की व्याख्या करते हुए गुरु वशिष्ठ अनेक वाक्यों में श्रीराम के इस गुण की पुष्टि करते हैं।

जो आनंद सिंधु सुख रासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोकदायक बिश्रामा।।

जब वे श्रीराम की कृपा से विश्राम की उपलब्धि का दावा करते हैं, तब इस प्रकार के कथन का तार्किक औचित्य क्या हो सकता है? आज के युग संदर्भ में यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है। श्रम और अवसाद की समस्या पर विचार करते हुए जिस तथ्य पर सर्वप्रथम ध्यान जाता है, वह यह है कि समान क्रिया या भार होने पर भी भिन्न-भिन्न लोगों को एक जैसे श्रम की अनुभूति क्यों नहीं होती? शारीरिक क्षमताओं का अंतर भी इसके अनेक कारणों में से एक कारण हो सकता है, पर तथ्यों का गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका शारीरिक क्षमता से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसके पीछे हमारी बौद्धिक मान्यताओं और मानसिक भावनाओं का महत्त्वपूर्ण भाग है। श्रम का एक बहुत बड़ा भाग व्यक्ति की मानसिक उलझनों से सम्बद्ध है। कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के जीवन में हठात् आ जाती हैं और व्यक्ति को उनसे संघर्ष करना पड़ता है। पर कुछ समस्याएँ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें व्यक्ति स्वयं बना लेता है। इसी को मानस में स्वभावकृत दुःख बताया गया है। मानस में गोस्वामी जी ने दुःख की समस्या पर विचार करते हुए उसे चार भागों में विभक्त किया है—(१) कालकृत, (२) कर्मकृत, (३) गुण

कृत, (४) स्वभाव कृत। इनमें तीन प्रकार के दुःख मनुष्य के जीवन में अनिमंत्रित होने पर भी आते हैं, किन्तु स्वभाव कृत दुख को व्यक्ति निमंत्रण देकर ही बुलाता है। व्यक्ति विचार का आश्रय लेकर स्वभाव कृत दुःख पर विजय प्राप्त कर सकता है। श्रम और अवसाद की अनुभूति में व्यक्ति के स्वभाव का वहुत वड़ा हाथ होता है। अधिकांश व्यक्ति कल्पित भय और व्यर्थ की आशङ्काओं का मिथ्या भार ढोते रहते हैं। व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का बोध होना चाहिए। पुरुषार्थ-परायण होना वहुत वड़ा सद्‌गुण है; किन्तु साथ ही व्यक्ति को अपने कर्त्तृत्व और सामर्थ्य की सीमाओं का भी ज्ञान होना चाहिए। टिट्टिभ पक्षी के समान अपने पैरों से गिरते हुए आकाश को रोकने की कल्पना, हास्यास्पद और मूर्खता की परिचायिका है; किन्तु हम में से अधिकांश लोग जीवन भर ऐसी हास्यास्पद प्रवृत्ति से पीड़ित रहते हैं। सच्ची आस्तिकता हमें ऐसे मिथ्या भार से मुक्त कर देती है; क्योंकि सच्चा आस्तिक सृष्टि को ईश्वर के द्वारा संचालित मानता है। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर का भार अपने सिर पर लाद लेने की मूर्खता वह नहीं करता है। सृष्टि में ऐसी सहस्रों घटनाएँ होती हैं जिन पर हमारा रञ्च मात्र अधिकार नहीं होता। फिर भी हम अपने अन्तर्जगत में अधिकार और असमर्थता की कल्पना से क्षुब्ध होते रहते हैं। भक्त अपनी सामर्थ्य भर प्रयास करता हुआ भी यह मानकर चलता है कि ईश्वर फल देने अथवा न देने में स्वतंत्र है, और वह हमारे हित को हमारी अपेक्षा अधिक भली प्रकार जानता है। ऐसी स्थिति में भक्त मानसिक तनाव से सर्वथा मुक्त होता है---तनाव से मुक्त श्रम जीवन में सुख की सृष्टि करता है। अतः ईश्वर की कृपा से विश्राम की उपलब्धि भक्तों के जीवन का अनुभूत सत्य है। इस प्रकार के विश्वास से कोई भी व्यक्ति मानसिक विश्राम पा सकता है।

काल की पावनता का वर्णन करने के पश्चात् गोस्वामी जी प्रकृति और ऋतु के द्वारा प्रदर्शित उल्लास का वर्णन करते हुए वायु के त्रिविध गुणों का उल्लेख करते हैं।

सीतल मंद सुरभि वह वाऊ।
हरषित सुर संतन मन चाऊ॥

ऋतुराज वसंत के साथ वायु के इन त्रिविध गुणों का उल्लेख साहित्य की परम्परा है। कहीं उसे कामदेव के दूत के रूप में स्मरण किया गया है तो कहीं सखा के रूप में।

जागइ मनोभव मुएहुँ मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही।।
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कल हंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा।।

* * * *

मधुकर मुखर भेद सहनाई।
त्रिबिध बयारि बसीठी आई।।

प्रभु के जन्म के समय पवन के इन दोनों रूपों की कोई उपयोगिता नहीं है। यहाँ वह काम के स्थान पर श्रीराम से सम्बद्ध है। यहाँ भक्ताग्रगण्य पवननन्दन श्रीहनुमान जी का स्मरण आना स्वाभाविक है। जिन वायु देवता के पुत्र श्रीरामभद्र की सेवा में संलग्न हैं, उनका काम की सेवा में रहना क्या उचित होता? लगता है पिता ने भी अपने पुत्र के आराध्य के शुभागमन पर अपनी सेवाएँ अर्पित कर स्वयं को धन्य बना लिया।

गोस्वामी जी वायु देवता को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। एक महान राम-भक्त का पिता होना स्वयं परम सौभाग्य का हेतु है, फिर पवनदेव तो सेवा-धर्म के सच्चे स्वरूप ही हैं। स्वयं प्रत्यक्ष रूप में सामने न आकर भी निरन्तर प्रत्येक प्राणी के प्राणों का संरक्षण उनका सहज स्वभाव है। अग्नि, जल और पृथ्वी के द्वारा की जाने वाली सेवाओं में सेवाकर्ता हमारे समक्ष होता है; किन्तु वायु देवता स्वयं सामने आए बिना भी हमारे शरीर को सहला जाते हैं, श्रान्त व्यक्ति के शरीर का स्वेद-बिन्दु सुखा जाते हैं और अपनी सेवाओं का रञ्चमात्र कोई मूल्य नहीं लेते—निरभिमानिता और निष्कामता के सभी लक्षण उनमें विद्यमान हैं। यहाँ वायु के जिन तीनों गुणों का उल्लेख किया गया है, उन्हें हम सेवा, शील और निरहङ्कारिता का प्रतीक मान सकते हैं। शीतलता सेवा-भावना की प्रतीक है। जो दूसरों की सेवा के द्वारा श्रान्त हो चुके हैं, उन्हें श्रम-मुक्त कर देना शीतल वायु का

कार्य है। वड़ों की सेवा तो सभी करते हैं; किन्तु साधारण से साधारण प्राणी को भी प्रभु का स्वरूप समझकर उनकी सेवा करना, सच्चे सेवा-धर्म का परिचायक है।

सौरभ से सनी वायु का एक झोंका हमें अद्भुत आह्लाद प्रदान करता है। सभी वाटिका का निर्माण नहीं कर सकते; पुष्प के संरक्षण और परिवर्धन के लिए भी माली की अपेक्षा होती है। समृद्धि जिनकी चेरी है वे अपनी विशाल अट्टालिकाओं के समक्ष विविध प्रकार के पुष्प-पादपों को लगाकर, शृङ्गार और सौरभ दोनों का ही आनन्द प्राप्त करते हैं। पर प्राचीर से घिरी पुष्पराशि तक पहुँच पाना प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहाँ सम्भव है? वहाँ प्रविष्ट होने के लिए अनुमति की आवश्यकता है; किन्तु वह तो पवनदेव हैं जिन्हें प्रवेश पाने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं है। उनका सर्वत्र स्वागत है, क्योंकि उनकी आवश्यकता तो छोटे-वड़े सभी को है। वे प्राचीर की सीमाओं को लांधकर अपने संस्पर्श से पुष्पों में पुलक की सृष्टि करते हैं, उन्हें हँसाते हैं और उनके आलिङ्गन से जो सौरभ उपलब्ध होता है, वह प्राचीर के पार उन सहस्रों प्राणियों तक पहुँचा देते हैं जो स्वयं उस सुगंध तक नहीं पहुँच सकते थे। उनकी नासिका बिना श्रम के ही उस सुवास को पा लेती है, जिसे पाने के लिए समृद्धिशाली व्यक्तियों को श्रम और सुरक्षा का प्रवन्ध करना पड़ता है। पवन देव का सुमन-सौरभ-सञ्चय स्वयं के लिए न होकर सभी के लिये आनन्द का समान वितरण कर देने में प्रयुक्त होता है।

सौरभ और शीतलता के दिव्य गुणों से युक्त होने पर भी वे अपनी मन्थर गति से अपने सौजन्य और निरभिमानिता का परिचय देते हैं। किसी नें पवनदेव से प्रश्न किया——इतने विलक्षण गुणों से युक्त होने पर भी आप में दर्प का अभाव क्यों है? पवनदेव ने शांत स्वर में कहा——शीतलता और सौरभ दोनों ही मेरे अपने गुण नहीं हैं, दूसरों से गुण प्राप्त कर यदि मैं गर्व करूँ तो इससे वढ़कर अविवेक क्या होगा? सच्चा सेवक भी अपने समस्त सद्गुणों के लिए प्रभु का ऋणी होता है; क्योंकि वह गुणों को अपना नहीं मानता है। प्रभु-प्रदत्त गुणों को वह लोक-मङ्गल के लिए समस्त प्राणियों की सेवा में

समर्पित कर देता है। हमारे वन्दनीय वायुदेव वही हैं जिनमें यह त्रिविध गुण विद्यमान हैं।

श्रीहनुमान जी के प्रति अपनी प्रेममयी श्रद्धा का निवेदन करते हुए, जव उनको पवनकुमार के नाम से पुकारते हैं तव उनका तात्पर्य केवल वंश-परम्परा के उल्लेख मात्र से नहीं है।

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदयँ आगार वसहिं राम सर चाप धर।।

अनन्त वात्सल्यमय भगवान राम और करुणामयी पराम्वा का पुत्रत्व जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, जिन्हें प्रभु और प्रिया जी ने स्वयं श्री मुख से पुत्र कहकर पुकारा हो, उनके लिए पवन के पितृत्त्व से सम्वद्ध होना किसी विशिष्ट गौरव का बोधक नहीं माना जा सकता है। फिर भी यदि गोस्वामी जी को पवनकुमार नाम इतना प्यारा है, तो उसका एकमात्र कारण सेवाधर्म के आदर्श के रूप में उनके त्रिविध गुणों का होना ही है। पवनकुमार शब्द की आवृत्ति करते ही गोस्वामी तुलसीदास को श्रीहनुमान जी के भी त्रिविध गुण-युक्त सेवा-भाव का स्मरण हो आता है। रामचरितमानस में संत और भगवंत की तुलना करते हुए दो दृष्टान्तों के माध्यम से संत की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा।।
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम तें अधिक राम कर दासा।।

मलय पर्वत पर सर्पों से आवेष्टित चंदन वृक्ष तक पहुँच पाना कितना कठिन है? ईश्वर शास्त्रीय दृष्टि से भले ही दूर न हो; किन्तु उसके स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए व्यक्ति को अपनी क्षुद्रता से ऊपर उठना होगा और वह किसी भी पर्वत की चढ़ाई से कठिन है। उसके मायिक आवरण को दूर कर ब्रह्म के शुद्ध बोधमय रूप का दर्शन साधारण जीव के लिए असम्भव ही होता है यदि संत वायु के रूप में उसका सौरभ जीव के निकट न पहुँचा देते। कवि-मान्यता यह है कि वायु के द्वारा अन्य वृक्षों के कण-कण में चन्दन का सौरभ इस सीमा तक

समा जाता है कि अन्य वृक्ष भी चंदन के रूप में परिणत हो जाते हैं। संत भी साधक को न केवल प्रभु के मङ्गलमय गुणों का अनुभव कराता है; अपितु जीव को ब्रह्म से एकाकार कर देता है। इस सिद्धान्त की सत्यता संत-शिरोमणि श्रीहनुमान के चरित्र से सिद्ध हो जाती है। उन्होंने न केवल भक्तों को भगवान से मिलाया, अपितु उन्हें प्रभु की मित्रता और अभिन्नता का भागी भी बना दिया।

प्रभु के प्राकटचकी बेला में श्रीहनुमान जी की उपस्थिति भले ही सम्भव न हुई हो; किन्तु पिता के स्मरण से पुत्र की स्मृति आना स्वाभाविक है।

नगर ही नहीं, वन भी कुसुम-सज्जा से सजकर प्रभु का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत हो गया। पर्वत में मणियाँ प्रगट हो गईं, मानो, सारा वन-प्रान्त मणि-दीप सजाकर आरती उतारने के लिए उल्लसित हो उठा। यद्यपि प्रभु ने अपने प्राकट्य के लिए महान नगर अयोध्या के राजभवन को चुना था, किन्तु लगता है वन और पर्वतों को यह विश्वास था कि एक न एक दिन श्रीरामभद्र के पावन पाद-पद्म उनको धन्य करेंगे। नगर का सौन्दर्य उसके कलात्मक निर्माण में है। वन और पर्वतों की सुन्दरता का आधार है--उनकी अकृत्रिमता और सहजता। अयोध्या यदि बुद्धि-वैभव का प्रतीक है तो वन में मन की सरलता विद्यमान है। उस बौद्धिक भूमि में, जहाँ प्रत्येक वस्तु मर्यादित और सुरुचिसम्पन्न है, सुविधा और शालीनता जहाँ पग-पग पर विद्यमान है, जहाँ कर्त्तव्य और अधिकार का उचित समन्वय है, वहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम का अवतरण हो, यह स्वाभाविक ही था। किन्तु प्रेम का अपना एक विलक्षण रस है। उसमें मर्यादा, कर्म और सुविधा का सद्गुण भले ही न हो, किन्तु वहाँ प्रीति की सहजता विद्यमान है। प्रभु वन और नगर दोनों में ही अपनी लीला का विस्तार करते हैं। इस तरह उन्होंने जीवन के लिए बुद्धि-वैभव और मन की सरलता के समन्वय का मार्ग प्रतुत किया।

सरिताओं में अमृतमय जल प्रवाहित हो उठा। प्रभु ने अपने प्राकटच के लिए जिस नगर को सौभाग्य प्रदान किया है, वह सरयू के पावन तट पर स्थित है। इसलिए प्रत्येक सरिता को उनके प्रति अपनत्व

की अनुभूति हो रही है। ईर्ष्या के स्थान पर वहाँ सौमनस्य की स्थापना हो चुकी है। भगवान राम का अवतार लोगों के अन्तःकरण में ईर्ष्या और मात्सर्य के स्थान पर स्नेह और अपनत्त्व की सृष्टि करता है; क्योंकि उनके समग्र चरित्र में छोटे बड़े सभी की भावनाओं का समान समादर है। ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति का उदय तभी होता है, जब व्यक्ति को दूसरों की तुलना में हीनता का बोध हो। हीनता का बोध व्यक्ति को उद्विग्न या विद्रोही बनाता है। ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति को केवल उपदेश देकर दूर नहीं किया जा सकता। उसके लिए विषमता का मिटना आवश्यक है। पूरी समता व्यवहार में भले ही सम्भव न हो; किन्तु यदि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में यह अनुभव कराया जा सके कि उन्हें समान अवसर प्राप्त है और किसी के प्रति अन्याय या पक्षपात नहीं किया जा रहा है, तब ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति अत्यल्प मात्रा में रह जाती है। भगवान राम प्रत्येक प्राणी के प्रति स्नेह और समता के भाव से ओतप्रोत हैं। इसीलिए राम-राज्य में ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति का सर्वथा अभाव हो गया था।

वयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई।।

*   *   *

सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।

प्रभु के शुभागमन की सम्भावना से सारी प्रकृति उल्लसित हो उठी। प्रकृति के उल्लास और उनके विविध गुणों के विलास के माध्यम से प्रत्येक उस व्यक्ति को प्रेरणा प्राप्त होती है, जिसे अपने जीवन में ईश्वर को अभिव्यक्त करने की कामना है। क्या हमारे अन्तरङ्ग जीवन में वे भावनाएँ विद्यमान हैं, जो ईश्वर के अवतरण के लिए आवश्यक हैं?

"कौशल्यानंदवर्द्धन श्रीराम"

आकाश में दुंदुभी वजने लगी, देवताओं ने पुष्पवर्षा की और गंधर्व गीत गाने लगे। उत्साह प्रदर्शन में देवता सबसे आगे हैं। स्वार्थपरायण व्यक्ति हृदय की भावनाओं को अधिकाधिक मूर्त रूप देने का प्रयास करता है। आंतरिक उल्लास की अपेक्षा उसके वाह्य प्रदर्शन पर उसका अधिक विश्वास होता है; क्योंकि उसकी यह तीव्र आकांक्षा होती है कि उसके द्वारा की गई सेवा को सेव्य अधिक से अधिक देख ले। देवताओं की मनोदशा भी ठीक इसी प्रकार की है, क्योंकि श्रीराघवेन्द्र के प्राकटच में उन्हें अपनी स्वार्थ-सिद्धि की सम्भावना दिखाई देती है। रावण का विनाश देवताओं की समृद्धि और सत्ता को पुनः लौटाने में समर्थ होगा। इसीलिए सुमन, सङ्गीत और स्तुति के माध्यम से उन्होंने सर्वाधिक उल्लास प्रगट किया।

गगन विमल संकुल सुर जूथा।
गावहिं गुन गंधर्ब वरूथा।।
बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी।
गहगहि गगन दुंदुभी बाजी।।
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा।
बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा।।

धनुष यज्ञ के प्रसङ्ग में गोस्वामी जी ने देवताओं की प्रदर्शन प्रिय मनोवृत्ति पर कटाक्ष करने के लिए "जनावहिं सेवा" कह कर मीठी चुटकी ली।

भए विसोक कोक मुनि देवा।
बरसहिं सुमन जनावहिं सेवा।।

किन्तु कुछ भी क्यों न हो? देवताओं की स्वार्थपरता पर व्यंग करते हुए भी गोस्वामी जी ईश्वर के अवतार के कारणों में देवताओं की रक्षा को उद्देश्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।।

इसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि समाज में स्वार्थपरायण व्यक्ति को कितनी भी हीन-दृष्टि से क्यों न देखा जाय, ईश्वर की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। स्वार्थ परायण व्यक्ति को यदि समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता तो इसका कारण भी समाज की स्वार्थपरता ही है। यों कहें तो अधिक उपयुक्त होगा कि स्वार्थी व्यक्ति ही स्वार्थपरायण व्यक्ति को सर्वाधिक घृणा की दृष्टि से देखता है। स्वार्थी लेना चाहता है और यदि हम देने से घबराते हैं तो उसका भी एकमात्र कारण यही है कि हम स्वयं भी अपनी वस्तुओं पर स्वत्व जमाए रहना चाहते हैं। हम डरते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी चतुराई से हमारी वस्तुओं को हथिया न ले। ईश्वर में पूर्णता है इसलिए वहाँ किसी प्रकार के अभाव का भय नहीं है। याचक को देकर भी वहाँ भण्डार भरापूरा रहता है। इसीलिए ईश्वर स्वार्थपरायण व्यक्तियों को भी हीन दृष्टि से नहीं देखता।

किसी भक्त ने ईश्वर से विनोद किया, "लगता है आप परमार्थ-परायण पुण्यात्माओं की तुलना में पापपरायण व्यक्तियों से ही अधिक प्रीति करते हैं। इसका क्या कारण है?" ईश्वर ने भी आनन्द की मुद्रा में हँसते हुए कहा, "यह तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि मेरे यश का प्रसार तो पापियों की ही कृपा से होता है। मेरी उदारता की ख्याति के मुख्य स्रोत तो वे ही हैं। पुण्यात्माओं के प्रति मेरे प्रेम को तो उनके कर्म का परिणाम माना जाता है।" वस्तुतः यह भी ईश्वर की कृपालुता ही है कि वह पापियों के प्रति अपने औदार्य को अपनी ही स्वार्थपरता के रूप में प्रस्तुत करता है। इसका तात्पर्य पाप का प्रसार नहीं है, इसका उद्देश्य है जीव के मन में उत्पन्न हीनता की भावना को मिटाकर उसे आश्वस्त करना, उसके कल्याण का मार्ग आज भी अवरूद्ध नहीं हुआ है। समाज के द्वारा उपेक्षित होने पर भी वह ईश्वर की दृष्टि में घृणा के स्थान पर करुणा का पात्र है। एक बार ईश्वर की दृष्टि में सम्मान की भावना देखकर स्वार्थपरायण व्यक्ति सहज ही स्वयं को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है। स्वार्थी और पापपरायण व्यक्तियों के प्रति ईश्वर की करुणा और स्नेह के

जो दृष्टांत प्रस्तुत किये जाते हैं, उनका भी उद्देश्य यही है। इसीलिए तो गोस्वामी जी मानस और विनय-पत्रिका में प्रभु की इस अनन्त करुणा का संदेश सुनाते ही रहते हैं। विनय-पत्रिका के पदों में एक के वाद दूसरे दृष्टांत देते हुए जीव के हृदय में यही दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना चाहते हैं। निम्नलिखित पदों में यही भावना मुखर हो रही है।

विनय पत्रिका पद सं० (१६५)

रघुवर ! रावरि यहै वड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीवपर करत कृपा अधिकाई ।।१।।
थके देव साधन करि सव, सपनेहुँ नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई ।।२।।
मिलि मुनिबृन्द फिरत दंडक वन, सो चरचौ न चलाई।
वारहिं बार गीध सवरी की वरनत प्रीति सुहाई ।।३।।
स्वान कहे तें कियो पुर वाहिर, जती गयंद चढ़ाई।
तिय-निदंक मतिमंद प्रजारज निज नय नगर वसाई ।।४।।
यहि दरवार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।
दीन दयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई ।।५।।

विनय पत्रिका पद सं० (२१४)

ऐसी कवन प्रभु की रीति ?
विरद हेतु पुनीत परिहरि पांवरनि पर प्रीति ।।१।।
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ।।२।।
काम मोहित गोपिकानि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता विरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह ।।३।।
नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आपमें हरि राज सभा मँझारि ।।४।।
ब्याध चित दै चरन मार्यो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज वानि ।।५।।
कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ।।६।।

श्रीरामजन्म की बेला में देवता और संतों की प्रसन्नता का एक ही पंक्ति में उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी प्रभु की इसी पूर्णता का परिचय देते हैं कि प्रभु स्वार्थ और परमार्थ दोनों की पूर्ति कर देते हैं।

"हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ" में इसी भावना की अभिव्यक्ति हुई। इस तरह प्रभु के प्राकट्य की पूर्व भूमिका के रूप में ब्रह्मा के नेतृत्व में आए हुए देवताओं ने संगीत, सुमन और शब्द के माध्यम से प्रभु के शुभागमन का स्वागत किया। देवता स्वागत के पश्चात् अपने अपने धामों की ओर प्रस्थान करते हैं; और तब उसके पश्चात् ईश्वर का अवतरण होता है। मानो देवताओं ने यह अनुभव किया कि वात्सल्यमयी कौशल्या अम्बा और श्रीरामभद्र के मध्य में जो रहस्यमय वार्तालाप होने वाला है, उसमें उनका उपस्थित रहना उचित नहीं होगा। अपनी स्तुति और जय-घोष से वे प्रभु का ध्यान बाँटना नहीं चाहते। अतः प्राकट्य से कुछ क्षण पूर्व उन लोगों का अपने धामों में चला जाना ही उपयुक्त था।

सौभाग्यशालिनी कौशल्या अम्बा के समक्ष एक अनुपम झाँकी अभिव्यक्त हुई। कोटि कंदर्प कमनीय कांति वाला चतुर्भुज विग्रह उनके सामने था। शरीर की कांति नीलमेघ के सदृश और उस श्रीविग्रह पर सुशोभित पीताम्वर मानो विद्युत काँति की भ्रांति उत्पन्न कर रहा है। चतुर्भुज रूप में यह अवतरित ब्रह्म अपने सौंदर्य-माधुरी के द्वारा माँ के अन्तःकरण को उल्लसित करने लगा। फिर भी माँ अपनी सहज स्थिति में नहीं थीं। अलौकिकता की यह अभि-व्यक्ति माँ के अन्तःकरण में विस्मय की सृष्टि कर रही थी। वात्सल्य स्नेह का स्थान स्तुति ने ले लिया। माँ के मुख से विस्मय भरे शब्द निकल पड़े। "अनन्त प्रभु! मैं किन शब्दों में आपकी स्तुति करूँ। रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों को धारण करने वाला ब्रह्म मेरे संकीर्ण उदर में कैसे रहा होगा? कल्पना भी ऐसा सोचकर स्तब्ध रह जाती है। बुद्धि विचलित हो जाती है।" माँ की विवेक भरी वाणी सुनकर प्रभु मुस्कराए, मनु और सतरूपा के रूप में की गई तपस्या और उस समय माँगे गये वरदानकी स्मृति दिलाई और यह स्पष्ट कर दिया कि इस रूप में दर्शन देकर वस्तुतः उनको दिये गए

विवेक के वरदान की पूर्ति मात्र की गई है। और उसके पश्चात् उन्होंने माँ से प्रश्न किया "अब आप की क्या आज्ञा है?" माँ ने शिशुलीला का अनुरोध किया और उनकी आज्ञा पाते ही ब्रह्म उनकी गोद में नवजात शिशु के समान ही रुदन करने लगा।

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप विचारी।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुजचारी।
भूषन वनमाला नयन बिसाला सोभासिन्धु खरारी।।
कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनंता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।।
करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता।।
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै।।
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत विधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।।
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।।
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा।।
विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।।

छन्द के प्रारम्भ में ब्रह्म को 'कौसल्या हितकारी' की उपाधि दी गई। ब्रह्म का अवतरण कौशल्या अम्बा की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए हुआ है। इसलिए 'कौसल्या हितकारी' की उपाधि सर्वथा सार्थक है। किन्तु छन्द के अन्त में ईश्वर के अवतार के हेतुओं का उल्लेख करते हुए इस दोहे में इसे भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया। कौशल्या अम्बा की स्तुति का उपसंहार करने के पश्चात् गोस्वामी जी हमें यह स्मरण कराते हुए दिखाई देते हैं कि ईश्वर का अवतार ब्राह्मण, गाय, देवता, और संतों के हित के लिए होता है। इस तरह 'कौसल्या

हितकारी' और 'विप्र धेनु सुर संत हित' के सम्पुट में प्रभु के प्राकट्य की गाथा प्रस्तुत की गई है। एक ओर 'कौसल्या हितकारी' के रूप में ब्रह्म एक व्यक्ति विशेष की आकांक्षा पूर्ण करने के लिए अवतरित होते हुए बताये जाते हैं। दूसरी ओर वे समग्र समाज का हित करने के लिए मनुष्य रूप ग्रहण करते हैं, ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। दोनों मान्यताओं में परस्पर भिन्नता या विरोधाभास की सी अनुभूति होती है। किन्तु विचार करने पर पृथक् दिखाई देने वाले दोनों वाक्य परस्पर एक दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं। इसमें गोस्वामी जी की व्यक्ति और समाज सम्बंधी मान्यताओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

समालोचकों के द्वारा बहुधा यह सिद्धांत स्थापित किया जाता रहा है कि हिन्दू धर्म अत्यधिक व्यक्तिवादी है। उसमें सामूहिक लोककल्याण के स्थान पर व्यक्ति आत्मकल्याण के ही चिन्तन में संलग्न रहता है। हिन्दू समाज के पतन के अनेक कारणों में एक मुख्य कारण यह भी बताया जाता है। यह निष्कर्ष हिन्दू धर्म को सही अर्थों में न समझ पाने के कारण केवल भ्रांत धारणाओं पर आधारित है। पर इसे स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया जाना चाहिए कि भारतीय दर्शन व्यक्ति को समाज की एक क्षुद्र इकाई मात्र ही नहीं मानता है। समाज और समूह की धारणाओं को वह इतना महत्त्व नहीं देता है कि व्यक्ति के विचार और उसकी भावनाओं का कोई महत्त्व ही न हो। यह आवश्यक नहीं है कि समूह सदा सही दिशा में ही सोचता हो। व्यक्तिवादी अहंकार तो घातक है ही; किन्तु सामूहिक उन्माद उससे कहीं अधिक घातक सिद्ध हो सकता है। ऐसी स्थिति में विवेकी व्यक्ति भी यदि स्वयं को समाज रूप विशाल यंत्र का एक भाग बना दे तो यह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक होगा। समाज तो बहुधा व्यक्ति पर नियंत्रण रखने की चेष्टा करता ही है, किन्तु विश्व के इतिहास में व्यक्ति की भूमिका कहीं इससे अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। सामूहिक उन्माद की प्रवृत्ति पर समय-समय पर महापुरुषों ने नियंत्रण स्थापित किया है। लोगों की भावनाओं को समुचित दिशा प्रदान की है।

विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं उसका भी अधिकांश श्रेय व्यक्ति को ही दिया जा सकता है। समूह उन सिद्धान्तों का प्रयोग करके लाभ उठाता रहा है। आज भी जब सामूहिकता का महत्त्व इतना बढ़ता जा रहा है, स्थिति यथा-पूर्व है। यद्यपि आज टोलियों के रूप में अन्वेषण की प्रवृत्ति को महत्त्व दिया जा रहा है, पर वे टोलियाँ भी समूह के रूप में नहीं कही जा सकती हैं। क्योंकि समाज की विराट जन-गणना की तुलना में उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। और यदि वैज्ञानिक सत्य के निर्णय के लिए जनसंख्या और उसके मतों को महत्त्व प्रदान करें तब हम एक उपहासास्पद स्थिति में पहुँच जायेंगे। ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति को एक क्षुद्र इकाई सिद्ध करने का प्रयास किया जाय तो इसे भी हम सामूहिकता के समर्थकों का उन्माद ही कह सकते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्ति और समाज की धारणाओं में एक सामञ्जस्य स्थापित करना होगा। व्यक्ति यदि अपनी व्यक्तिगत भावना, विचार अथवा आविष्कार के माध्यम से समाज को विनष्ट करने पर तुल जाय, तब ऐसी स्थिति में ऐसे व्यक्ति को विनष्ट करना समाज का कर्त्तव्य हो जाता है।

व्यक्ति के जीवन को दो भागों में विभक्त रखना व्यक्ति और समाज दोनों के हित में है। व्यक्ति को भावना और विचार के क्षेत्र में स्वातंत्र्य देना आवश्यक है। किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में व्यक्ति को समाज से नियंत्रित होकर चलना होगा। इस प्रकार के सामञ्जस्य की स्थापना से व्यक्ति और समाज एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी न रहकर पूरक बन जाते हैं। भारतीय दर्शन ने इसी समन्वय का संतुलित प्रयास किया। व्यावहारिक क्षेत्र में यह कहाँ तक सम्भव हुआ; यह एक पृथक् प्रश्न है। 'कौसल्या हितकारी' और 'विप्र धेनु सुर संत हित' के सम्पुट में ब्रह्म के अवतरण की प्रक्रिया व्यक्ति और समाज के समन्वय की परिचायिका है। इसका तात्पर्य यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वर का अवतार सामूहिक आवश्यकता या सामूहिक साधना का ही परिणाम हो। समूह की आवश्यकता और साधना से ब्रह्म के अवतरण को सम्बद्ध कर देना

उसकी उपलब्धि की सीमाओं को संकुचित बना देना है। समूह बहुत कम अवसरों पर ईश्वर की उपलब्धि आवश्यक मानता है। उसकी कामनाएँ बहुधा अर्थ और काम से सम्बद्ध होती हैं। जब वह ईश्वर की प्रार्थना करता है; तब भी उसका उद्देश्य इन कामनाओं की पूर्ति ही होता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वर उसे दृष्टिगोचर हो।

दृष्टान्त के रूप में मनु और सतरूपा की वैयक्तिक साधना और देवताओं की सामूहिक प्रार्थना की तुलना कर सकते हैं। देवताओं की प्रार्थना का उद्देश्य है, अपने ऊपर आए हुए महान संकट से त्राण पाने की आकांक्षा। उन्हें रावण का वध अभीष्ट है। दूसरी ओर मनु और सतरूपा की साधना का उद्देश्य है ईश्वर का साक्षात्कार। यद्यपि ईश्वर ने दोनों प्रसंगों में अवतार की घोषणा करते हुए यही कहा कि हम आपलोगों के लिए अवतार लेंगे। मनु से उन्होंने अवतरण की स्वीकृति प्रदान करते हुए यह वाक्य कहे—

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई।
नृप तव तनय होब मैं आई।।

* * *

इच्छामय नरबेष सँवारें।
होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें।।
अंसन्ह सहित देह धरि ताता।
करिहउँ चरित भगत सुखदाता।।
जे सुनि सादर नर बड़भागी।
भवतरिहहिं ममता मद त्यागी।।
आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।
पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा।
सत्य सत्य पन सत्य हमारा।।

दूसरी ओर ब्रह्मा की प्रार्थना पर देवताओं को आश्वासन देते हुए भी कुछ इसी प्रकार की घोषणा की गई।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहिं लागि धरिहउ नरबेषा।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।
लेइहउँ दिनकर बंस उदारा।।

वरदान में समानता होते हुए भी दोनों प्रसङ्गों में एक पार्थक्य है। जहाँ मनु के समक्ष प्रभु प्रगट होकर आश्वासन देते हैं वहाँ देवताओं को आकाशवाणी के माध्यम से संदेश प्राप्त होता है, यह स्वाभाविक ही था। जहाँ मनु में दर्शन की उत्कट आकांक्षा थी, हृदय का राग और स्नेह ही इस अभिलाषा में मुख्य हेतु था, वहाँ देवता शुद्ध स्वार्थ-भावना से प्रेरित होकर प्रार्थना करते हैं। मनु को **ईश्वर की** आवश्यकता थी। देवताओं को **ईश्वर से** कुछ चाहिए था।

इसीलिए अवतरण के तत्काल वाद गोस्वामी जी ने प्रभु को 'कौसल्या हितकारी' के रूप में स्मरण किया। इस अवतार से समस्त समाज का कल्याण होगा, इस सत्य को दृष्टिगत रखकर अन्त में 'विप्र धेनु सुर संत हित' की सामूहिक भावना का उल्लेख किया गया है। व्यक्ति के उत्कट अनुराग ने ब्रह्म को अवतरित होने के लिए वाध्य किया और सारे समाज ने इस अवतार से लाभ उठाया। यही है वह संक्षिप्त निष्कर्ष जिसे उपर्युक्त सम्पुटों के माध्यम से गोस्वामी जी ने प्रगट किया।

"विप्र धेनु सुर सन्त हित"

अवतार का उद्देश्य यद्यपि समग्र विश्व का हित है; किन्तु 'विप्र धेनु सुर संत हित' में कुछ विशिष्ट वर्गों का नाम देखकर अनेक लोग चौंकते हैं। विशेषरूप से आज के युग में जब वर्गगत भावनाएँ अत्यन्त तीव्र हैं; कुछ लोगों को सर्वत्र पक्षपात की गन्ध आती है। और उसके पक्ष में तर्क और उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। विलक्षण बात यह है कि वर्ग विशेष के पक्षपाती और विरोधी दोनों ही इसका समान रूप से उपयोग करते हैं। जिनकी वर्गगत भावनाएँ संकीर्ण हैं, वे अपने समूह को एकत्र करने के लिए बड़े उत्साह से ऐसे उद्धरण सामने रखते हैं। और इसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है। वर्ग विशेष के विरोधी ऐसे उद्धरणों के द्वारा विशिष्ट ग्रन्थ के लेखक की निन्दा करते हैं। संघर्ष के इस तुमुल निनाद में सत्य की ध्वनि खो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास पर भी वर्ग पक्षपात का आरोप लगाया जाता रहा है। इसके लिए उनके विरोधियों की अपेक्षा तथाकथित तुलसी भक्त और उनके व्याख्याता ही अधिक दोषी हैं। ऐसे लोगों द्वारा अपने स्वार्थ के समर्थन में चुन-चुन कर मानस की ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की गईं, जिनमें इस प्रकार की भावनाओं की झलक दिखाई दे। संदर्भ से पृथक् कर उनकी मनमानी व्याख्या की गई तथा उससे भिन्न दृष्टिकोण की पंक्तियों को दृष्टि से ओझल कर दिया गया। ऐसी परिस्थिति में जो लोग पहले से ही किन्हीं कारणों से वर्ग विशेष के प्रति असन्तुष्ट हैं, उनका क्षुब्ध और क्रुद्ध होना स्वाभाविक है। फिर यदि वे उन वाक्यों को शस्त्र के रूप में वर्ग विशेष की ही दिशा में लौटा दें तो इसके लिए उन्हें कैसे दोषी सिद्ध किया जा सकता है? प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि संतुलित दृष्टि से वह समग्र ग्रन्थ का अध्ययन करेगा। यह भार तो विशेषरूप से उन पर ही है जो स्वयं को किसी महापुरुष अथवा लेखक का श्रद्धालु सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर दुर्भाग्यवश इससे भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति ही अधिकांश तथाकथित श्रद्धालुओं में देखी जाती है। यदि अधिकांश

ब्राह्मण "पूजिअ विप्र सील गुण हीना" कह कर अपनी पूज्यता के अधिकार को सिद्ध करने का प्रयास करें, और "सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना" कह कर अन्य वर्गों को हीन सिद्ध करें, तो ऐसी परिस्थिति में उपेक्षित वर्ग का क्रुद्ध हो उठना स्वाभाविक ही है। मानस में अनेक ऐसे उद्धरण हैं, जहाँ भगवान राम जाति के गौरव को सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं। और एकमात्र भक्ति को ही अपनी प्रियता का हेतु मानते हैं।

कह रघुपति सुनु भामिनि वाता।
मानउँ एक भगति कर नाता।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन वल परिजन गुन चतुराई।।
भगति हीन सव सोहहिं कैसा।
विनु जल वारिद देखिए जैसा।।

किन्तु ऐसे उद्धरणों को उद्धृत ही नहीं किया जाता। वर्ग-विद्वेष के वर्तमान युग में इस प्रकार की प्रवृत्तियों का निराकरण किया जाना चाहिए।

बिप्र धेनु सुर सन्त हितों को भी वर्ग-विद्वेष की भावना से भिन्न उचित संदर्भ और व्यापक अर्थों में लिया जाना चाहिए। विश्व की समस्त जातियों और वर्गों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करना किसी भी लेखक के लिए सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में गिने चुने प्रतीकों के माध्यम से सारे समूह की भावनाओं का प्रतिनिधित्व प्रदर्शित किया जाता है। ठीक उसी प्रकार से जैसे आज के युग में जनमत को संसद के सदस्य अभिव्यक्ति देते हैं। यह न तो व्यावहारिक ही है और न सम्भव ही है कि प्रत्येक प्रश्न पर जनमत संग्रह किया जाए। अतः समाज अपने विश्वस्त व्यक्तियों पर यह भार सौंपता है कि वे उनके मत का प्रतिनिधित्व करें। ठीक इसी प्रकार "विप्र धेनु सुर संत" के माध्यम से सामूहिक लोकहित की भावना को अभिव्यक्त किया गया है।

सारे समाज में वर्ग या जाति की दृष्टि से कितना भी अलगाव क्यों न हो, आकांक्षा की दृष्टि से व्यक्ति की सारी कामनाओं को

चार ही नाम दिये जा सकते हैं। सारी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के सभी रूप इन चारों में ही अन्तर्निहित हैं। इन्हीं को हमारे धर्म-शास्त्र में चतुर्वर्ग अथवा चार फलों का नाम दिया गया है। (१) अर्थ (२) धर्म (३) काम (४) मोक्ष। सारे समाज का संचालन अर्थ और काम में सन्निहित है। आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए जो वस्तुएँ अपेक्षित हैं उन सब की उपलब्धि के लिए अर्थ की आवश्यकता है। सृष्टि विस्तार और ऐन्द्रिक सुखानुभूति के लिए काम सर्वश्रेष्ठ साधन है। अर्थ और काम की अनियंत्रित आकांक्षा समाज में संघर्ष की सृष्टि कर सकती है। उसे सन्तुलित और सामूहिक बनाने के लिए धर्म की आवश्यकता है। अर्थ और काम जहाँ हमें संग्रह और भोग की प्रेरणा देते हैं, वहाँ धर्म हममें आदान-प्रदान की भावना उत्पन्न करता है। धर्म हमारे जीवन में त्याग की भावना को प्रोत्साहित करता है। फिर भी अर्थ, काम और धर्म हमें मृत्युभय से मुक्त नहीं करते। अर्थ और काम हमें लौकिक सुख का आश्वासन देते हैं। किन्तु व्यक्ति के अन्तःकरण में मृत्यु के पश्चात् अज्ञात भविष्य का जो भय समाया हुआ है, इसका उत्तर दे पाना इन दोनों के लिए सम्भव नहीं है। धर्म इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भविष्य का एक चित्र प्रस्तुत करता है। धर्म की दृष्टि में मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। वह तो केवल शरीर का परिवर्त्तन मात्र है। मनुष्य ने जो अच्छे और बुरे कर्म किये हैं उसका परिणाम तो उसे भोगना होगा, चाहे वह पुनर्जन्म के रूप में हो अथवा स्वर्ग और नरक के रूप में। अच्छे कर्मों के परिणामस्वरूप व्यक्ति श्रेष्ठ योनियों में जन्म लेता है। और बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप निकृष्ट योनियों में जन्म लेता है। पाप और पुण्य के परिणामों को भोगने के लिए उसे नरक और स्वर्ग में जाना ही पड़ता है। इसलिए धर्म व्यक्ति को सावधान करता है कि उसे निरन्तर सत्कर्म का आचरण करना चाहिए किन्तु इस प्रकार वह हमें भयमुक्त नहीं बनाता है। इसके स्थान पर अनवरत चलनेवाले कर्मचक्र का भय व्यक्ति को संत्रस्त बना देता है। और तब उसमें मुक्त होने की तीव्र आकांक्षा जाग्रत होती है। हमारे उपनिषद् इसे मोक्ष की आकांक्षा कह कर पुकारते हैं और चारों फलों में इसे सर्वोच्च स्थान देते हैं।

विप्र, धेनु, सुर, और सन्त इन चारों आकांक्षाओं की पूर्ति के आधार हैं। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। क्योंकि उससे यह आशा की गई थी कि जनसाधारण की तरह अपने जीवन में वह अर्थ और काम को प्राथमिकता नहीं देगा। सत्ता और समृद्धि से अलग रह कर उसे तत्त्वचिन्तन और धर्म के सच्चेस्वरूप को जीवन में आत्मसात् करना चाहिए।

"ब्राह्मणस्य शरीरोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते"

ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए प्राप्त नहीं होता है। उसे अपने पवित्र आचरण से समाज का सही मार्गदर्शन करना चाहिए। सत्ता और समृद्धि की आकांक्षा व्यक्ति को निष्पक्ष नहीं रहने देती। ब्राह्मण का जीवन तपस्वी का जीवन होता था। इसलिए धर्म और कर्त्तव्य के निर्णय के लिए सभी वर्ण ब्राह्मण को प्रमाण मान कर चलते थे। वर्ण-व्यवस्था में उसकी तुलना सिर से की जाती थी। सारी वर्ण-व्यवस्था एक शरीर के समान थी और उसमें प्रत्येक अंग का अपना महत्त्व था। सभी को अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करते हुए, परस्पर एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत करना था। फिर भी जैसे मस्तिष्क की विकृति के बाद व्यक्ति को पागल की संज्ञा दी जाती है और ऐसे व्यक्ति के क्रियाकलाप को भय और आशंका की दृष्टि से देखा जाता है। इसी तरह जिस समाज पर विवेक और धर्म का नियन्त्रण नहीं है, उसके पूरी तरह विनष्ट हो जाने की आशंका है। इस तरह हम ब्राह्मण को धर्म के आधार के रूप में देख सकते हैं।

गाय के प्रति हिन्दुओं की असाधारण श्रद्धामूलक भावनाएँ हैं। फिर भी गाय के प्रति हमारे स्नेह में केवल भावना ही नहीं है। वस्तुतः गाय को अर्थ के आधार के रूप में भी देखा जाता रहा है। प्राचीनकाल में भारत की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि रहा है। और कृषि-व्यवस्था के समस्त आधार के रूप में हम गाय को पाते हैं। उसके जीवन का कण-कण समाज के लिए उपयोगी है। पुराणों में गाय के प्रत्येक अङ्ग में विभिन्न देवताओं का निवास माना गया है। कहा जाता है जब विभिन्न देवता गाय के शरीर में स्थान की याचना कर रहे थे, तब वहाँ लक्ष्मी नहीं थीं। जब तक वे आईं, सारे स्थान बँट चुके

थे। विलम्ब से आई हुई देवी लक्ष्मी ने स्थान की याचना की। और यह जान कर उन्हें अत्यन्त निराशा हुई कि अब कोई स्थान शेष नहीं है। भगवती लक्ष्मी को निराश देख कर गाय ने उन्हें अपने गोबर में रहने के लिए कहा। लक्ष्मी ने इसे बड़ी ही प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। इस कथा का आधिदैविक महत्त्व तो है ही, किन्तु भौतिक दृष्टि से भी यह सर्वथा यथार्थ है। कृषिव्यवस्था में खेत की जुताई और खाद का जो महत्त्व है वह सभी को ज्ञात है। और इन दोनों कार्यों में हम गाय के आश्रित हैं। गाय ही हमें वह बैल प्रदान करती है जो भूमि को कृषि के उपयुक्त बना देते हैं। और खाद के रूप में पृथ्वी की अन्नोत्पादन की सामर्थ्य को बढ़ाकर गोबर में लक्ष्मी अपने निवास को सत्यसिद्ध कर देती है। गाय अपने अमृतोपम दूध के द्वारा तुष्टि और पुष्टि प्रदान करती है। कृषि के उत्पादन में सहायक बन कर हमारे जीवन को संरक्षण प्रदान करती है। गोमूत्र में अनेक रोगों के निवारण की सामर्थ्य है। वह जीवन में ही नहीं, मृत्यु के पश्चात् भी अपने चमड़े के द्वारा हमारे पैरों को सुरक्षा प्रदान करती है। उसके शत-शत उपकारों को दृष्टिगत रख कर यदि हमारी संस्कृति ने उसे इतना उत्कृष्ट स्थान दिया, तो इसे किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि आज के व्यावसायिक और तर्कप्रवण युग में यान्त्रिकता की दुहाई देकर कृषि-व्यवस्था में गाय के गौरव को कम करने का प्रयास किया जा सकता है, फिर भी उसकी इतनी उपयोगिता है कि इस अंश के न्यून किए जाने पर भी उसका गौरव अक्षुण्ण रहता है। हमारी संस्कृति केवल अर्थ ही नहीं अर्थ की पवित्रता पर भी बड़ा ध्यान देती है। मनु कहते हैं :—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।

हमें अर्थ ही नहीं, शुद्ध अर्थ की आवश्यकता है। वह अर्थ जो धर्म से सम्बद्ध हो। गाय अर्थदात्री तो है ही, वह अर्थ और धर्म की कड़ी को जोड़ने वाली भी है। प्राचीन काल में गाय को अमूल्य माना जाता था। और इसका तात्पर्य था कि मातृरूपा गाय को हम क्रय-विक्रय का साधन नहीं मानते। यह अर्थ की मर्यादा है। उसकी उपलब्धि के लिए हमें धर्म की मर्यादाओं में रहना सीखना होगा।

इस तरह हम गाय को पवित्र अर्थ-व्यवस्था का आधार कह सकते हैं।

व्यक्ति सुख का उपासक है। सांसारिक सुखों में जिसे हम सर्वोच्च कह सकते हैं वह काम है। काम-सुख की उपलब्धि के लिए शरीर और इन्द्रियों का स्वस्थ रहना आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति उपभोग्य पदार्थों के रहते हुए भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। उसके लिए तो वे पदार्थ सुखद के स्थान पर दुःखद ही सिद्ध होगें

सरुज सरीर वादि वहु भोगा।
बिनु हरि भगति जाइ जप जोगा।।

शरीर और इन्द्रियों को स्वस्थ रखने का क्या उपाय है ? बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने से शरीर स्वस्थ रहता है और यह ठीक भी है। किन्तु इसे एक भिन्न रूप में भी रखा जा सकता है। व्यष्टि की स्वस्थता केवल उसीके वश की वस्तु नहीं है। समष्टि प्रकृति में यदि कोई विपरीतता आ जाये तो बहुत प्रयास करके भी व्यक्ति स्वयं अपने आप को उससे अलग नहीं रख सकता। इसलिए समग्र स्वस्थता के लिए व्यष्टि और समष्टि के सहयोग की अपेक्षा है। इसीलिए आर्ष ग्रन्थों में इन्द्रियों के साथ उनके अधिष्ठात्री देवताओं का भी वर्णन है। जैसे नेत्र के देवता के रूप में सूर्य का उल्लेख किया गया है। और यह सर्वथा युक्तिसङ्गत भी है। नेत्र के अभाव में व्यक्ति रूप का दर्शन नहीं कर सकता है। किन्तु नेत्र होने पर भी यदि सूर्य (प्रकाश) का सहयोग हमें प्राप्त न हो, तो हम रूप को देखने में असमर्थ हो जायेंगे। अतः रूप दर्शन के लिए नेत्र ही नहीं, उसके देवता के सहयोग की भी अपेक्षा है। अतः शरीर और इन्द्रियों की स्वस्थता के लिए हमें स्वास्थ्य के नियमों के साथ-साथ देवताओं की भी आराधना करनी चाहिए। आध्यात्मिक अर्थों में हम इसे यों भी कह सकते हैं कि जीवन में काम और भोग की आवश्यकता तो है ही, किन्तु उसकी भी कुछ मर्यादाएँ हैं। इन्द्रियों से विषयों का उपभोग करते हुए हमें यह निरन्तर स्मरण है कि कुछ देवता भी वहाँ विद्यमान हैं। और

जैसे किसी अन्य की उपस्थिति का भान होते ही व्यक्ति चोरी से विरत हो जाता है, क्योंकि न्यायालय में साक्षी के रूप में उपस्थित होकर दूसरा व्यक्ति चोरी करने वाले को दण्ड का पात्र बना सकता है, ठीक इसी प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से विषय सेवन करते हुए हमें सजग रहना होगा कि कहीं हम अपने अधिकारों का अतिक्रमण तो नहीं कर रहे हैं। अतः स्वास्थ्य और सन्तुलित उपभोग के लिए हमें निरन्तर देवताओं का स्मरण रखना चाहिए। इस तरह धर्मसङ्गत काम के आधार के रूप में देवताओं का नाम लिया जा सकता है।

अर्थ, काम और धर्म के द्वारा व्यक्ति को एक सीमा तक सुख प्राप्त होता है। किन्तु इन तीनों से उस समग्रता की अनुभूति नहीं होती जो व्यक्ति की सर्वोच्च आकांक्षा है। अर्थ, काम और धर्म हमें सीमाओं में बाँधते हैं। इनसे व्यक्ति के जीवन की आकांक्षाएँ समाप्त नहीं होती। और तब वह मुक्ति की खोज में संलग्न होता है। हमारी इस मुक्ति की आकांक्षा को साकार रूप देने की सामर्थ्य उसी व्यक्ति में हो सकती है जो स्वयं भी मुक्त हो। अर्थ, काम और धर्म की वृत्तियों से ऊपर उठ कर जिसने अपने आप में निहित आनन्द को पा लिया हो। जिसका अन्तःकरण न केवल भौतिक भोगों, अपितु पारलौकिक प्रलोभनों से भी ऊपर उठ चुका हो। ऐसी स्थिति वाला केवल सन्त ही हो सकता है। संसार में बन्धन का सब से बड़ा कारण सङ्ग है। जैसे अनेक रोगों के कीटाणु एक व्यक्ति के शरीर से दूसरे में संक्रमण कर जाते हैं, उससे भी कहीं अधिक शीघ्रता से निकटस्थ लोगों के मनोभाव हमारे जीवन को प्रभावित कर लेते हैं। प्रारम्भ में इसका भान भी नहीं होता। किन्तु जैसे खेत में डाला गया एक नन्हाँ सा बीज समय पाकर अंकुरित हो जाता है, वैसे ही वासनात्मक प्राणियों का सङ्ग साधकों के अन्तःकरण में भी अपने संस्कारों के बीज डाल देता है और वे अवसर पाकर अंकुरित और प्रतिफलित हो जाते हैं।

देवर्षि नारद के जीवन में अहंकार का उदय कैसे हुआ? देवर्षि ने काम को परास्त कर दिया। भयभीत काम ने उनसे क्षमा-याचना की। पर जाते-जाते काम ने अहंकार का बीज उनके अन्तःकरण में डाल दिया। वह बीज था, देवर्षि नारद की प्रशंसा में कहे गये वाक्य।

स्तुति के वे वाक्य इतने मधुर थे कि काम के चले जाने के बाद भी देवर्षि के कर्णकुहरों में गूँजते रहे। काम ने कहा होगा देवर्षि, आपने जो महान सिद्धि प्राप्त की है वह सृष्टि में अद्वितीय है। और इस अद्वितीय शब्द का अनुसंधान करते-करते वे कहाँ से कहाँ पहुँच गये। भगवान शंकर ने उस बीज को समाप्त कर देना चाहा। इसीलिए उन्होंने देवर्षि के द्वारा काम विजय का संस्मरण सुनकर उनकी प्रशंसा में एक भी वाक्य नहीं कहा। वे नहीं चाहते थे कि काम द्वारा डाला गया बीज उनकी प्रशंसा की वर्षा से अंकुरित हो उठे। किन्तु आश्चर्य––फिर भी वह बीज अंकुरित हो ही गया। वर्षा न होने पर भी जिनके पास सिंचाई के साधन हैं, वे उसका प्रयोग करके बीज को अंकुरित करने में सफल हो जाते हैं। देवर्षि के पास वह साधन विद्यमान था। भगवान शंकर के द्वारा प्रशंसा न किए जाने पर यदि वे सजग हो जाते तो सम्भवतः अहंकार का बीज शिव द्वारा प्रयुक्त वाणी के शुष्क ताप से नष्ट हो जाता। किन्तु उन्होंने शिव के द्वारा प्रशंसा न किए जाने की व्याख्या करके अपने अहं को अकुंरित होने का अवसर दिया। उन्होंने सोचा कि मेरी सफलता से शिव को इतनी ईर्ष्या हो गई है कि वे साधारण शिष्टाचार को भी भूल गये। प्रचलित परिपाटी के अनुकूल प्रशंसा के दो वाक्य भी न कह पाना मेरे कार्य की महिमा का ही परिचायक है। और तव भगवान विष्णु को अहंकार के बीज से अंकुरित गर्व तरु को उखाड़ फेंकने के लिए प्रयास करना पड़ा।

करुनानिधि मन दीख बिचारी।
उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।।
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी।
पन हमार सेवक हितकारी।।

इस सङ्ग की समस्या का समाधान क्या है? संत के सङ्ग से व्यक्ति के अन्तःकरण में वैराग्य, ज्ञान और भक्ति के बीज अंकुरित होते हैं। संत स्वयं निरन्तर ईश्वर के सङ्ग में रहता है। इसलिए उसका सङ्ग हमें ईश्वर के सङ्ग का बोध कराता है। समाज हमें अपनी मान्यताओं के जिस वन्धन में जकड़े रहता है, शास्त्र की स्वार्थ-परक व्याख्याओं से वह अपने अधिकार को जिस प्रकार हम पर थोप

देता है, उससे मुक्त कर पाना संत के लिए ही सम्भव है। इसीलिए मानस में स्पष्ट घोषणा की गई है--

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद श्रुति पुरान सदग्रंथ।।

"विप्र, धेनु, सुर, सन्त हित" में विशिष्ट वर्गों का ही प्रतिनिधित्व न होकर समग्र समाज की आकांक्षाओं का प्रतिफलन हुआ है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि प्रभु के अवतरण से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सन्तुलित उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ। यह हित किसी की प्रतिद्वन्द्विता में प्रगट नहीं होता। इस अवतार का उद्देश्य खलनायक रावण का भी हित करना ही है। यद्यपि रावण "विप्र धेनु सुर सन्त हित" का सर्वथा विरोधी था। इन चारों को पीड़ा पहुँचाना उसकी योजना का एक अङ्ग था।

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला।
सो सव करहिं बेद प्रतिकूला।।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाँव पुर आग लगावहिं।।
सुभ आचरन कतहुँ नहि होई।
देव विप्र गुरु मान न कोई।।
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना।
सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना।।

जप जोग विरागा तप मख भागा स्रवन सुनइ दससीसा।
आपुन उठि धावइ रहै न पावइ धरि सव घालइ खीसा।।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि वहुविधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना।।
सो०--बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवनि मिति।।

फिर भी भगवान राम का उद्देश्य रावण का अहित करना नहीं था। अङ्गद को दूत के रूप में लङ्का भेजते हुए प्रभु ने उन्हें स्पष्ट निर्देश दिया था "आप रावण से ऐसी वार्ता चलावें जिसमें मेरा कार्य और उसका हित हो"।

काजु हमार तासु हित होई।
रिपु सन करहु बतकही सोई।।

अतः जिस हित में रावण के हित का अपवाद भी न हो वह किसी विशेष वर्ग के हित का प्रतीक हो ही नहीं सकता। वह तो सर्वहित की भावना का ही प्रतीक है। मानो उसमें वैदिक मन्त्र की उस प्रार्थना का भाव अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें सभी को स्वस्थ, सुखी और निरामय होने की प्रार्थना की गई है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्।।

एक साम्प्रदायिक प्रश्न ?

कौशल्या अम्बा के समक्ष ब्रह्म की चतुर्भज रूप में अभिव्यक्ति कुछ लोगों को असंगत प्रतीत होती है। उनकी मान्यता के अनुकूल श्रीराम का प्राकटच द्विभुज धनुर्धर के रूप में होता है। ऐसी स्थिति में "भुज चारी" शब्द की समस्या उनके समक्ष खड़ी हो जाती है और तब वे "चारी" को गत्यर्थक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अर्थात् उनका निज आयुध धनुष बाण उनकी भुजा में गतिशील था। इसी अर्थ में वे अपनी अनन्यता सुरक्षित पाते हैं। यदि किन्हीं भावुकों को इस अर्थ से संतोष होता है तो उनका संतोष छीनने का अधिकार मुझे नहीं है; किन्तु मैं नम्रता से यह निवेदन करना चाहूँगा कि चतुर्भुज रूप की व्याख्या स्वीकार कर लेने पर भी अनन्यता में कोई अन्तर नहीं आता है। मानस-चिन्तन के प्रथम-खण्ड में इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इस छन्द के संदर्भ में उसे पुन: हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है।

मानस में अनेक कल्पों की कथाओं को इस तरह मिश्रित कर दिया गया है कि सारी लीला में यह निष्कर्ष निकालना कठिन हो जाता है कि यह वस्तुत: किस कल्प की कथा है। वहुधा अनेक लोगों की यह धारणा है कि मानस में मनु और शतरूपा के समक्ष अभिव्यक्त ब्रह्म के अवतार की कथा का ही निरूपण है। अन्य कल्पों की कथाओं का संक्षिप्त वर्णन प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। अपनी मान्यता की पुष्टि वे इन पंक्तियों से करते हैं।

अपर हेतु सुनु सैल कुमारी।
कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी।।
जेहि कारन अज अगुन अरूपा।
ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा।।
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा।
बंधु समेत धरें मुनि बेषा।।
जासु चरित अवलोकि भवानी।
सती सरीर रहिहु बौरानी।।

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी।
तासु चरित सुनु भ्रम रुज हारी।।

इन पंक्तियों में जिस "विस्तारी" शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे इस प्रकार के अध्येता यह अर्थ लेते हैं कि अन्य कल्पों की कथा सूक्ष्म रूप में कही गई थी और इस कल्प की कथा का विस्तार किया गया है; किन्तु अनेक प्रसङ्गों से इससे भिन्न निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। आरण्य-काण्ड में प्रभु को रुदन करते हुए देखकर देवर्षि नारद व्यथित हो जाते हैं और तब वे स्वयं को दोष देने लगते हैं।

विरहवंत भगवंतहि देखी।
नारद मन भा सोच विसेषी।।
मोर साप करि अंगीकारा।
सहत राम नाना दुख भारा।।

रामचरित मानस की कथा को यदि मनु कल्प का ही विस्तार मानें तब फिर देवर्षि नारद की इस भावना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। देवताओं की पुकार पर जब प्रभु अवतार लेने की घोषणा करते हैं तब वे जिस प्रकार की मिश्रित बातें कहते हैं, उससे यह निष्कर्ष निकालना और भी कठिन हो जाता है कि रामचरित मानस को किस कल्प की कथा का विस्तार माना जाय?

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।
लेहउँ दिनकर बंस उदारा।।
कस्यप अदिति महातप कीन्हा।
तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा।।
ते दसरथ कौसल्या रूपा।
कौसलपुरी प्रगट नर भूपा।।
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई।
रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई।।
नारद बचन सत्य सब करिहउँ।
परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।।

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।
निर्भय होहु देव समुदाई।।
गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।।

यहाँ माता-पिता के रूप में मनु और शतरूपा के स्थान पर कश्यप और अदिति का उल्लेख किया गया है। साथ ही देवर्षि नारद के शाप को भी अवतार के कारणों में सम्मिलित कर लिया गया है। इस तरह इस आकाशवाणी में एक ऐसा झमेला सा दिखाई देता है, जिसका ओर-छोर पा सकना अत्यधिक कठिन है। पर यह मिश्रित भाषण ही गोस्वामी जी की व्यापक-दृष्टि का परिचायक है। सम्प्रदायों के प्रति गोस्वामी जी की वह दृष्टि कभी नहीं रही जिनके कारण तत्कालीन समाज में भीषण संघर्ष हुए। सम्प्रदायों का यह संघर्ष ठीक उसी प्रकार का है जैसे अनेक चित्रकारों को रंग और तूलिका देकर यह आदेश दिया जाय कि वे एक देवता विशेष का चित्र अंकित करें। स्वभावतः प्रत्येक चित्रकार के द्वारा निर्मित चित्र में पार्थक्य होगा। चित्रकार देश, काल और प्रान्त से असम्वद्ध कैसे हो सकता है? प्रत्येक चित्रकार के चित्र में उसके सामाजिक संस्कार और परिवेश की झलक का होना स्वाभाविक है। अतः चित्रकारों के द्वारा निर्मित प्रत्येक चित्र एक दूसरे से भिन्न था। चित्रों को लेकर भीषण संघर्ष की स्थिति उस समय आई जब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि नवनिर्मित देव-मंदिर में कौन-सा चित्र प्रतिष्ठापित किया जाय? श्रद्धालु अनेक समूहों में विभक्त हो गए और प्रत्येक वर्ग ने किसी विशेष चित्र का समर्थन करते हुए यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि यही देवता का एकमात्र वास्तविक चित्र है—और शेष सारे चित्र कल्पित और झूठे हैं। इस प्रकार के संघर्ष में चित्रकार और उनके प्रशंसकों का समूह संघर्षरत हो सकता है; किन्तु निरपेक्ष भाव से देखने वाला ऐसे संघर्ष को सर्वथा हास्यास्पद समझता है। संघर्ष से पृथक्, निष्पक्ष दर्शक से कुछ लोगों ने प्रश्न किया, आप अपना निर्णय दें कि इनमें देवता का वास्तविक चित्र कौन-सा है? नव-निर्मित-देवालय में किस चित्र की स्थापना की जाय? इन प्रश्नों का उत्तर

वह अनेक रूपों में दे सकता था, पर उसके समक्ष प्रश्न केवल यथार्थ का ही नहीं था। उसे ऐसा उत्तर देना था कि जो वस्तुतः उन लोगों के हृदय छू सके, जो आवेश में संघर्षरत थे। वह यह भी कह सकता था कि यह सभी चित्र अवास्तविक हैं; किन्तु इस उत्तर से तो वे सभी पीड़ा का अनुभव करते और उनकी भावनाओं को आघात लगता। जिन लोगों ने देव-मंदिर का निर्माण किया था, जिन्होंने उसमें श्रद्धा से मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने का निर्णय किया था, इस उत्तर से उन्हें कैसे सन्तोष होता? वस्तुतः वे चित्र देवत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के प्रयास मात्र थे। पूर्णता की दृष्टि से अपूर्ण होते हुए भी सभी चित्रों में पूर्णता की ही एक झलक थी। इसलिए निरपेक्ष विचारक ने संघर्ष में लगे हुए लोगों से कहा--"मित्रों, यह सभी चित्र वास्तविक हैं। देवता हम लोगों की तरह आकृति की सीमाओं में आवद्ध नहीं है। वह समय-समय पर अनेक रूप धारण करता रहता है। विभिन्न प्रान्तवासियों को दर्शन के लिए अलग-अलग वेष-भूषाओं में भी आता है। एक ही देवालय इतने विशाल जन-समूह के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए देश के विभिन्न भागों में शत-शत देवालय वनाकर उनमें अलग-अलग चित्रों की स्थापना कर दी जाय।" उसका यह निर्णय अनेक लोगों को प्रिय लगा। उन्होंने देव-मंदिरों में ले जाकर उन प्रतिमाओं की स्थापना की और पूजन में संलग्न हो गए; किन्तु ऐसे भी लोगों की कमी नहीं थी जो पूजन छोड़कर आज भी इस विवाद में उलझे हुए हैं कि देवता की वास्तविक मूर्ति कौन है? वे अपने को देवता का सच्चा भक्त प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। यही दृष्टान्त इन तथा-कथित विभिन्न कल्पों के रामावतारों को लेकर संघर्ष में संलग्न तथा-कथित भक्तों के लिए भी दिया जा सकता है। गोस्वामी जी सत्य के द्रष्टा थे। उनकी दृष्टि में श्रीराम पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा हैं। वे किसी रामावतार को पूर्ण और किसी को अपूर्ण नहीं मान सकते थे। जव उन्होंने विभिन्न कल्पों की ओर संकेत किया तव उन्होंने उसमें यह कभी नहीं कहा कि अलग-अलग कल्पों में पृथक्-पृथक् ईश्वर अवतार लेता है। वे तो यह कहते हैं कि एक ही प्रभु विभिन्न कल्पों में अवतार लेते हैं

और अपने पावन चरित्रों के द्वारा पृथ्वी के प्राणियों को धन्य वनाते हैं। उस समय की जाने वाली लीलाओं को मुनियों ने अपनी लेखनी का विषय वनाया। उनमें पृथकता हो सकती है, किन्तु इससे आश्चर्य-चकित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन सभी को वड़े स्नेह से सुना जाना चाहिए।

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई।
जनि आचरजु करै सुनि सोई।।
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी।
नहिं आचरजु करहिं अस जानी।।
राम कथा कै मिति जग नाहीं।
असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं।।
नाना भाँति राम अवतारा।
रामायन सत कोटि अपारा।।
कलपभेद हरिचरित सुहाए।
भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।।
करिअ न संसय अस उर आनी।
सुनिअ कथा सादर रति मानी।।
राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार।।

इसमें श्रीराम की अनन्तता की ओर सङ्केत है; किन्तु उनकी पृथकता का कोई वर्णन नहीं किया गया है। "काग-भुसुण्डि-प्रसङ्ग" में इसे और भी विलक्षण रूप में प्रस्तुत किया गया है। भगवान राम के उदर में प्रविष्ट होकर कागभुसुण्डि ने कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों के दर्शन किये और उन सभी ब्रह्माण्डों में उन्हें भगवान राम के अवतार का दर्शन हुआ। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के दशरथ और कौशल्या अलग थे। श्रीभरत आदि भी पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्डों में भिन्न थे; किन्तु उन्हें यह देखकर अत्यंत आश्चर्य हुआ कि भगवान राम समस्त ब्रह्माण्डों में एक ही थे।

अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा।
देखेउँ जिनिस अनेक अनूपा।।

अवधपुरी प्रति भुवन निनारी।
सरजू भिन्न भिन्न नर-नारी।।
दसरथ कौसल्या सुनु ताता।
बिविध रूप भरतादिक भ्राता।।
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा।
देखउँ वाल विनोद अपारा।।
भिन्न भिन्न मैं दीख सवु अति विचित्र हरिजान।
अगणित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन।।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी समग्र ब्रह्माण्डों और समग्र कल्पों में एक ही श्रीराम का अवतार स्वीकार करते हैं। भगवान शङ्कर ने भी पार्वती को कथा सुनाते हुए यह कभी नहीं कहा कि मैं पृथक्-पृथक् रामों की कथा सुना रहा हूँ। उन्होंने तो यही कहा कि मेरे प्रभु अनेक कल्पों में अवतार लेते हैं, उनमें से कुछ कल्पों की कथा सुना रहा हूँ। अनेक कल्पों की कथा सुनाने में उनका मुख्य रूप से उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि ईश्वर के अवतार के कारणों के विषय में किसी प्रकार का दावा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कल्प में एक भिन्न कारण दिखाई देता है।

हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इद मित्थं कहि जाइ न सोई।।

* * *

राम जनम के हेतु अनेका।
परम बिचित्र एक तें एका।।
जनम एक दुइ कहऊँ वखानी।
सावधान सुनु सुमति भवानी।।

और कथा की भूमिका का उपसंहार करते हुए भी अंत में वे इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।
चारु चरित नाना बिधि करहीं।।
तव तव कथा मुनीसन्ह गाई।
परम पुनीत प्रबंध वनाई।।

विविध प्रसंग अनूप बखाने।
करहिं न सुनि आचरजु सयाने।।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि रामचरित मानस में कल्प, ब्रह्मांण्ड और अवतार के कारणों में भिन्नता स्वीकार की गई, पर यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि अंशावतार और पूर्णावतार के रूप में राम भी भिन्न हैं। यदि ऐसा होता, तब तो भगवान शङ्कर के लिए अवतार के कारण का दावा करने में कोई कठिनाई ही न होती और वे कह देते कि अंशावतार राम के अवतरण का कारण यह है और पूर्णावतार राम के अवतरण का कारण यह है।

इस प्रकार के उलझन का कारण यह है कि मनु-प्रसंग में, मनु ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के दर्शन होने पर उनसे वरदान माँगना अस्वीकार कर दिया। अतः इससे कुछ लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि चतुर्भुज विष्णु रूप अपूर्ण न होता तो मनु उनसे वरदान माँगना कैसे अस्वीकार कर देते? ऐसी स्थिति में देवर्षि नारद ने जिन चतुर्भुज विष्णु को अवतार लेने का शाप दिया वे भी स्वभावतः अपूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के तर्क भी वस्तुतः सैद्धान्तिक तत्त्व को भली प्रकार हृदयङ्गम न कर पाने के कारण ही किए जाते हैं। जैसा कि मानस-चिन्तन के प्रथम खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है कि ऐसा तर्क मान लेने पर देवर्षि नारद और सनकादिकों को अल्पज्ञ और मनु को सर्वज्ञ मानना होगा। रामचरित मानस में सनकादिकों को परम तत्त्वज्ञ और ब्रह्मानंद में निमग्न बताया गया है। उन्हें मूर्तिमान चारों वेदों का स्वरूप ही सिद्ध किया गया है।

ब्रह्मानंद सदा लय लीना।
देखत बालक बहु कालीना।।
रूप धरे जनु चारों बेदा।
समदरसी मुनि बिगत बिभेदा।।

ऐसे सनकादि जब बैकुण्ठ में भगवान नारायण का दर्शन करने के लिए जाते हैं तब क्या वे अपूर्ण अंश का साक्षात्कार करने के लिए गए थे? वस्तुतः यह तात्त्विक भेद का प्रश्न न होकर रूपासक्ति

का भेद प्रगट करता है। देवर्षि नारद यह मानकर क्षीर-सागर में प्रभु का दर्शन करने के लिए जाते हैं कि निर्गुण निराकार ब्रह्म, क्षीर-सागर में चतुर्भुज रूप में अभिव्यक्त है। ठीक इसी प्रकार की धारणा सनकादिकों की है। वे निर्गुण ब्रह्म की सगुण अभिव्यक्ति को बैकुण्ठ में देखने के अभ्यस्त हैं। मनु की रूपासक्ति इससे भिन्न प्रकार की है। भले ही निर्गुण निराकार ब्रह्म ही विष्णु के रूप में अभिव्यक्त होता हो, किन्तु वे उसे सीधे द्विभुजरूप में अभिव्यक्त देखना चाहते हैं। इन लोगों की रूपासक्ति की विभिन्नता के पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण विद्यमान हैं। देवर्षि नारद और सनकादि ब्रह्मा के मानस पुत्र और देव जाति के हैं। वहाँ देवताओं में आकृति की विभिन्नता और विलक्षणता विद्यमान हैं—कोई चतुर्मुख है, कोई पंचमुख। वहाँ षडानन भी विद्यमान हैं। अतः ब्रह्म की चतुर्भुज रूप में अभिव्यक्ति उन्हें स्वाभाविक ही लगती है। किन्तु मनु का मानसिक धरातल भिन्न प्रकार का है। उनके लिए चतुर्भुज रूप अस्वाभाविक है; क्योंकि वे मनुष्य जाति के प्रतिनिधि हैं। मानव जाति में आकृतियों की भिन्नता तो विद्यमान है पर उनमें अङ्ग-प्रत्यङ्गों की वहुलता और विविधता नहीं पायी जाती। ब्रह्म की चतुर्भुज रूप में अभिव्यक्ति उन्हें प्रिय न लगे यह स्वाभाविक ही है। वे ब्रह्मा, विष्णु और शिव को देखकर प्रभावित नहीं होते हैं। यद्यपि शास्त्रों ने इन्हें भी ब्रह्म के ही तीन अभिव्यक्त रूप माने हैं, जो कार्य की भिन्नता से अलग-अलग रूप धारण कर लेते हैं। मनु इस झमेले में नहीं पड़ना चाहते कि इनमें से वे किसे ब्रह्म का व्यक्त रूप स्वीकार करें? वे तो ब्रह्म को सीधे नराकृति में ही देखना चाहते हैं। फिर उन्हें केवल दर्शन ही तो अभीष्ट नहीं है। उनके अन्तःकरण में ईश्वर को पुत्र रूप में पाने की कामना विद्यमान है। अब यदि चतुर्भुज विष्णु से वे यह अनुरोध करें कि आप मेरे पुत्र बनिए तो उन्हें वालक बनने के लिए द्विभुज रूप में ही आना पड़ेगा। इससे भाव में रसाभास उत्पन्न हो सकता है। इसलिए वे अन्य रूपों में ब्रह्म के दर्शन को अस्वीकार कर देते हैं। ऐसी स्थिति में उनके भाव की रक्षा के लिए परात्पर ब्रह्म ने उनके समक्ष स्वयं को मनुष्याकृति में अभिव्यक्त

किया। यह रूप उनके लिए ग्राह्य था तभी उनसे पुत्र बनने की प्रार्थना कर सके।

विविध कल्पों की कथा के मिश्रण का उद्देश्य यही था कि कहीं श्रोता अथवा पाठक प्रभु के विभिन्न अवतारों में ही पूर्णता-अपूर्णता आरोपित न कर लें। श्रीराम तो वस्तुतः पूर्ण ही हैं। वे ही कभी स्वयं को क्षीरशायी विष्णु के रूप में भी व्यक्त करते हैं तो कभी बैकुण्ठ-निवासी नारायण के रूप में। तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की रूपासक्ति भिन्न-भिन्न होती है। संसार में भी यह देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ही प्रकार का रूप अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। इसके पीछे कोई वास्तविक तर्क विद्यमान नहीं होता। सौन्दर्य की कोई सुनिश्चित परिभाषा कर पाना असम्भव है। ये परिभाषाएँ देश और काल की भिन्नता से तो अलग-अलग होती ही हैं। एक ही देश और काल में भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् रूपों में रस की अनुभूति होती है। इसका आधार बौद्धिक न होकर सर्वथा मानसिक है।

कौशल्या के समक्ष ब्रह्म का चतुर्भुज रूप में प्रगट होना जिन लोगों को अटपटा लगता है, उन्हें इस प्रसंग पर तात्त्विक और भावनात्मक दोनों ही दृष्टियों से विचार करना चाहिए। चतुर्भुज रूप में प्राकट्य का वर्णन करके गोस्वामी जी ने मानस में मिश्रित कल्पों की कथा के सिद्धान्त को सुस्थिर रखने की चेष्टा की है। इससे भी उनके समन्वयी दर्शन का ज्ञान होता है। जिन कौशल्या के समक्ष श्रीराम प्रगट हुए वे पूर्वजन्म में अदिति भी हो सकती हैं और महारानी शतरूपा भी। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अदिति रूपा कौशल्या के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रगट होना उचित हो सकता है; किन्तु यदि कौशल्या को शतरूपा के अवतार के रूप में देखें तब ऐसी स्थिति में उनके समक्ष चतुर्भुज रूप में आना कैसे भावसङ्गत हो सकता है? क्योंकि शतरूपा के रूप में वे चतुर्भुज विष्णु को अस्वीकार कर चुकी हैं। अतः उनके समक्ष तो श्रीराम को द्विभुज रूप में ही प्रगट होना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्न के पीछे भी एक गहरी भ्रान्ति है। अधिकांश व्यक्ति मनु और शतरूपा की भावभूमि को

एक ही मान बैठे हैं। साधारणतः ऐसा मान लेना स्वाभाविक भी है। मनु ग्रौर शतरूपा पति-पत्नी हैं। वे एक साथ राज्य का परित्याग कर तपस्या के लिए वन में जाते हैं ग्रौर वहाँ एक ही प्रकार की साधना करते हुए एक साथ दोनों को प्रभु के दर्शन होते हैं। ग्रतः इतनी समानताग्रों के होते हुए भी दोनों की भावभूमि में जो भिन्नता है, उस पर दृष्टि न जाना वहुत कुछ ग्राश्चर्यजनक नहीं है। यद्यपि ग्रसंदिग्ध शब्दों में गोस्वामी जी ने दोनों भावभूमियों की भिन्नता को भी प्रगट कर दिया है। इसीलिए प्रभु ने दोनों को एक साथ दर्शन देने के वाद भी उनसे पृथक्-पृथक् वरदान माँगने का ग्रनुरोध किया। नहीं तो मनु के पुत्र रूप में ग्रवतरित होने की प्रार्थना को स्वीकृति देने के वाद महारानी शतरूपा से यह कहने की ग्रावश्यकता नहीं थी कि देवी––"मागु वर जो रुचि तोरे"। यदि महाराज मनु ने कोई ग्रन्य वरदान माँगा होता तव तो इस प्रकार का प्रश्न स्वाभाविक होता; किन्तु पुत्र रूप में उपलब्धि का सवसे वड़ा भाग तो शतरूपा जी को ही प्राप्त होना था। वस्तुतः ग्रन्तर्यामी प्रभु वहिरङ्ग साम्य के साथ-साथ दोनों के भावभूमि की भिन्नता से भी परिचित हैं। वे जानते हैं कि महारानी शतरूपा परम पतिव्रता के रूप में सर्वतोभावेन पति की ग्रनुगामिनी हैं। फिर भी दोनों के मानसिक भावों में सूक्ष्म भेद है। यदि प्रभु ग्रपनी ग्रोर से कुछ न कहते तो संकोच के कारण महारानी मौन ही रहीं होतीं; किन्तु उपासना मार्ग की तो विशेषता ही यही है कि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति ग्रपने भाव में सर्वथा स्वतंत्र है। प्रभु इस स्वतंत्रता की भावना को ग्रक्षुण्ण रखने के लिए ही महारानी शतरूपा से पृथक् वरदान माँगने का ग्रनुरोध करते हैं। महारानी शतरूपा के द्वारा माँगे गए वरदान से दोनों की भावभूमि की भिन्नता प्रगट हो गई। महाराज मनु के ग्रन्तःकरण में भाव-रस की प्रधानता है। वे शुद्ध भावप्रवण हैं। महारानी शतरूपा भावुक होते हुए भी विचार-प्रधान वृत्ति की हैं। इसीलिए उन्होंने पुत्र वनने की प्रार्थना में भागीदार होते हुए भी ग्रलग से विवेक की याचना की ग्रौर प्रभु ने भी उनके विचार प्रधान ग्रन्तःकरण को दृष्टिगत रखकर, उन्हें विवेक का वरदान दिया।

मातु बिबेक अलौकिक तोरे।
कबहुँ न मिटहिं अनुग्रह मोरे।।

पर महाराज मनु इस विवेक शब्द से भी चौंक उठते हैं। उन्हें यह भय लगता है कि कहीं उन्हें भी इस विवेक में भागीदार न बना दिया जाय। तब वे एक बार पुनः अपनी भावना को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। उन्होंने प्रभु से अनुरोध किया कि उन्हें विवेक न देकर केवल शुद्ध वात्सल्य का दान दें; जिससे वे निरन्तर उन्हें पुत्र रूप में ही देखते रहें। इस प्रकार के आग्रह के लिए वे अविवेकी कहलाने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते।

बंदि चरन मनु कहेहु बहोरी।
और एक बिनती प्रभु मोरी।।
सुत बिषयक तव पद रति होउ।
मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोउ।।

इस पार्थक्य से यह प्रगट हो जाता है कि आंतरिक दृष्टि से दोनों के मनोभावों में कितनी भिन्नता है। इसलिए यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि रूप विशेष में आसक्ति और आग्रह की जो तीव्रता मनु में विद्यमान थी, वह शतरूपा के चरित्र में सम्भव नहीं थी। अतः विवेकमयी कौशल्या अम्बा के समक्ष प्रगट होते समय प्रभु को यह भली प्रकार ज्ञात था कि चतुर्भुज और द्विभुज का आग्रह माँ के अन्तःकरण में विद्यमान नहीं है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि महारानी शतरूपा के रूप में उन्होंने विवेक की याचना की थी। इसलिए विवेक का प्रथम पाठ पढ़ाने के लिए ही प्रभु उनके समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रगट हुए। पक्षपात, भावना की शोभा है; किन्तु विवेक की दृष्टि से निष्पक्षता ही गुण है। भावुक आग्रही होता है और विवेकी अनाग्रही।

"बुद्धेः फलमनाग्रहं"

विवेक का पहिला पाठ ही यही था कि द्विभुज और चतुर्भुज में भेद-बुद्धि और आग्रह समाप्त हो जाय। अतः कौशल्या अम्बा के समक्ष चतर्भुज रूप में ब्रह्म के प्राकट्य का वर्णन गोस्वामी जी की सैद्धान्तिक, समन्वयात्मक और सूक्ष्म भाव-दृष्टि का परिचायक

है। फिर भी जिन लोगों के अन्तःकरण में महाराज मनु के समान रूपासक्ति का आग्रह विद्यमान है और जो महारानी शतरूपा को भी उसी रूप में देखना चाहते हैं, वे 'भुज चारी' के भिन्न अर्थ के द्वारा अपनी भावना को तुष्टि दे सकते हैं; क्योंकि वैचारिक दृष्टि से भावना की पुष्टि का मार्ग भी खण्डनीय नहीं है।

"ब्रह्म का रुदन"

कौशल्या अम्बा के समक्ष प्राकट्य के अवसर पर ब्रह्म मुस्करा रहा था। किन्तु कौशल्या अम्बा द्वारा "शिशु-लीला" किये जाने की प्रार्थना को स्वीकार कर श्रीराम नन्हें शिशु के रूप में परिवर्तित होकर रुदन करने लगे। उनका यह रुदन अयोध्यावासियों के उल्लास का कारण वन गया। मुस्कराते हुए ईश्वर को केवल अम्बा ही देख रही थीं, पर रुदन की ध्वनि ने तो सारे राजभवन को गुंजा दिया। व्यग्रता से प्रतीक्षा करती हुई दासियाँ आनन्द से थिरक उठीं। सर्वत्र समाचार पहुँचाने को होड़ लग गई। महाराज श्रीदशरथ को भी यह समाचार ज्ञात हो गया। उल्लास की अधिकता से उनके लिए उठ पाना भी कठिन हो रहा था। एक क्षण के लिए उनके अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश कौंध गया। उन्हें लगा, जिन प्रभु का नाम समस्त अमंगलों को नष्ट करने वाला है, मेरे गृह में आज उनका शुभागमन हुआ। आज मैं धन्य और कृत-कृत्य हो गया। उत्फुल्लता के अतिरेक में वे उठ भी न पाये। उन्होंने सेवकों को बुला कर आज्ञा दी, माँगलिक वाद्य बजाये जायँ। गुरु वशिष्ठ को भी सानन्द सूचना दी गई और वे आनन्द से उमड़ता हृदय लेकर राजभवन में पधारे। विप्र-मण्डली उनके साथ थी। शास्त्रीय विधि से नांदीमुख श्राद्ध किया गया। ब्राह्मणों को विविध वस्तुएँ अर्पित की गईं।

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय वानी।
संभ्रम चलि आईं सव रानी।।
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी।
आनँद मगन सकल पुरबासी।।
दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना।।
परम प्रेम मन पुलक सरीरा।
चाहत उठन करत मति धीरा।।
जाकर नाम सुनत सुभ होई।
मोरें गृह आवा प्रभु सोई।।

परमानंद पूरि मन राजा।
कहा बोलाइ बजावहु बाजा।।
गुरु बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा।
आये द्विजन सहित नृप द्वारा।।
अनुपम बालक देखेन्हि जाई।
रूप रासि गुन कहि न सिराई।।
नन्दीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह।।

उल्लसित ब्रह्म को आँसू बहाने की आज्ञा देकर कौशल्या अम्बा ने सारी सृष्टि के सुख का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसे हम भक्ति-दर्शन के रूप में देख सकते हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्द घन हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी सृष्टि में बहुधा दुःख और नैराश्य के ही दर्शन होते हैं। जीव को उस सम्बन्ध की रञ्चमात्र स्मृति नहीं है। जिसका "ईश्वर अंस जीव अबिनाशी" के रूप में उल्लेख किया गया है, यथार्थ जीवन में वह मिथ्या पदार्थों के पीछे सुख की आशा से भाग रहा है। क्षणिक आनन्द की अनुभूति के लिए वह जड़ विषयों का क्रीतदास बन चुका है। जीव को इस दयनीय स्थिति से उबारने का क्या उपाय है? ज्ञानियों ने समस्या का समाधान देते हुए कहा—इसका एकमात्र उपाय है जीव को उसके स्वरूप की स्मृति दिला देना। वह भ्रान्ति के कारण ही स्वयं को जड़, बद्ध, और दुःखरूप मान बैठा है। वह उस राजकुमार की भाँति है जो कोमल शय्या पर शयन करता हुआ, स्वप्न में स्वयं को कारागार के कैदी के रूप में देखता है। उस कारागार से मुक्त करने के लिए उसे जगा देना ही यथेष्ट है। विनय-पत्रिका में इसे बड़ी सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया गया है।

पद सं० (१३६ अ)

जिव जबतें हरि तें बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।।
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो।।
पाय जो दारुन दुसह दुख, सुख लेस सपनेहु नहि मिल्यो।
भव सूल सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ ते हठि हठि चल्यो।।

वहु जोनि जनम, जरा, विपति, मतिमंद ! हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम विनु विश्राम मूढ़ ! विचारु लखि पायो कहीं ।।

(व)

आनन्द-सिंधु मध्य तव वासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा ।।
मृग भ्रम वारि सत्य जिय जानी । तहँ तू मगन भयो सुख मानी ।।
तहँ मगन मज्जसि, पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल, भूलि अव आयो तहाँ ।।
निरमल, निरंजन, निरविकार, उदार सुख तैं परिहरयो।
निः काज राज विहाय नृप इव सपन कारागृह परयो ।।

वाणी के द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जितना सरल है, व्यवहार में यह उतना ही कठिन है। जन्मजन्मान्तर से व्यक्ति के संस्कार उसके अन्तःकरण में इतने वद्धमूल हो गये हैं कि उनके विरुद्ध किया जाने वाला कोई भी उपदेश स्वीकार कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं होता। इसीलिए स्वरूप-ज्ञान की स्मृति के पूर्व साधक के अन्तः-करण में मुमुक्षा और वैराग्य की आवश्यकता का वर्णन किया जाता है। मुमुक्षा और वैराग्य की उत्पत्ति के लिए किये जाने वाले साधनों की सूची इतनी विस्तृत है, जिसे जान कर सरलता से स्वरूप ज्ञान का नारा व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। यह मार्ग विरले अधिकारियों के लिए ही उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

भक्ति-सिद्धान्त इससे भिन्न समाधान प्रस्तुत करता है। वह ईश्वर को ही अपने बीच आने के लिए आमंत्रित करता है। व्यक्ति ब्रह्म तक उठने का प्रयास करे, इसके स्थान पर वह ईश्वर से अनुरोध करता है कि वही उतर कर नीचे आ जाय। वह नीचे आकर हमारे सुख दुःख की समस्या का स्वयं अनुभव करे। वह वेदान्त का द्रष्टा ब्रह्म वन कर इस विश्व को उदासीन भाव से देखता ही न रहे, अपितु जीव के आनन्द के मार्ग में जो वाधक तत्त्व हैं, उनके विरुद्ध जीव के सक्रिय संघर्ष में वह नेतृत्व करे।

दुःख की परिस्थितियों में भी व्यक्ति को यह बात आश्वस्त बनाती है कि दुःख के विरुद्ध उसके संघर्ष में वह अकेला नहीं है। कोई ऐसा

अपना भी है जो दुःख में उसका भागीदार वनने को प्रस्तुत है। भक्तों ने ईश्वर को इसी रूप में देखना चाहा। इसीलिये ईश्वर को शिशु-लीला के संकेत से आँसू वहाने की प्रार्थना की गई। सच्चिदानन्द की अपेक्षा जीव के प्रति संवेदना से भरा हुआ वह ईश्वर जिसकी आँखे अश्रुसिक्त हैं, कहीं अधिक आकर्षक लगता है। यह केवल रुदन ही नहीं; अपितु ईश्वर की ओर से दिया गया जीव को आश्वासन भी है कि वह दुःख सुख के संगी के रूप में निरन्तर जीव के साथ है। इसीलिए मुस्कराता हुआ ब्रह्म केवल कौशल्या अम्वा के लिए सुखद सिद्ध हुआ, पर उसके रुदन ने लक्ष-लक्ष जीवों को उमंग और उल्लास से भर दिया। उसके अधरों का मंद या स्मित हास किसी प्रयास का परिणाम नहीं है। हँसी तो उसके होठों पर सहज ही खेलती रहती है। किन्तु रुदन के लिए तो उसे प्रयास करना पड़ा। जीव के प्रति कृपा करने के इस प्रयास में उसके नेत्र, अधर, कण्ठ सभी को श्रम करना पड़ा। वेदान्त का ब्रह्म श्रममुक्त है; क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कर्तृत्व और आयास नहीं है। किन्तु भक्तों के भगवान इससे भिन्न हैं। वे तो जीव के श्रम का अपहरण करने के लिए ही आते हैं। अतः उन्हें तो श्रम करना ही होगा। "सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना" में उनके इसी व्रत की सूचना मिलती है। 'रोदन ठाना' शब्द लम्बे रुदन की सूचना देता है। जव रोना ही है तो उसमें कृपणता कैसी? ऐसा लगता है जैसे वह अपने रुदन की ध्वनि को अयोध्या के घर-घर तक पँहुचा देना चाहता है। वह आमंत्रित कर रहा है—आओ और इस अभूतपूर्व दृश्य को देखो। सच्चिदानन्द का यह रुदन सृष्टि की अभूतपूर्व घटना थी।

यह वह रुदन था जिसने चारों ओर सङ्गीत की सृष्टि कर दी। भगवान राम के समग्र चरित्र का दर्शन भी यही था। दूसरों की आँख का आँसू लेकर दूसरों की पीड़ा भोग कर आनन्द का वितरण करना। दूसरों का श्रम, उनकी पीड़ा का भार स्वयं ढोकर उन्हें विश्राम देना। वन के कण्टकाकीर्ण पथ पर चलते हुए उनके सुकुमार श्रीचरण काँटों से विध जाते हैं। किन्तु वे अपने पीछे अनुगमन करने वालों के चरणों को काँटों से सुरक्षित रखते हैं। इसीलिए श्रीराघवेन्द्र के कंटकविद्ध श्रीचरणों की चर्चा रामचरितमानस, गीतावली और कवितावली आदि

में सर्वत्र उपलब्ध है। महात्मा शुकदेव को तो दण्डकवन के कंटकविद्ध श्रीरामभद्र के श्रीचरण भूलते ही नहीं। उन्हें तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वलोक को प्रस्थान करते हुए श्रीराघवेन्द्र दण्डक वन के काँटों से विंधे हुए श्रीचरणों को भक्तों के हृदय में स्थापित कर जाते हैं।

स्मरतां हीद विन्यस्य विद्ध दण्डक कण्टकैः।
स्वपाद पल्लवं राम ग्रात्मज्योतिरगत् ततः॥

श्रीराघवेन्द्र के राज्याभिषेक के पश्चात् ब्राह्मण रूप धारी वेदों ने श्रीरामभद्र के पादपद्म के तलवों पर दृष्टि डाली। चकित दृष्टि से उन्होंने देखा, उन चरणों में ग्राज भी काँटे लगे हुए थे। करुणा-विकसित हृदय से वेदों ने उन श्रीचरणों की वन्दना की।

ध्वज कुलिस ग्रंकुस कंज जुत वन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वन्द मुकुन्द राम रमेस नित्य भजामहे॥

भावुकभक्त कंटकविद्ध श्रीचरणों को देख कर सोचता है कि क्या सन्देश छिपा हुग्रा है इन श्रीचरणों में? एक भक्त के ग्रन्तःकरण में भाव उदित हुग्रा, चरणों में ग्रर्पित किए हुए श्रद्धासुमन को स्वीकार करने के लिए तो संसार में सभी प्रस्तुत हो जाते हैं; किन्तु श्रीचरणों में विंधे हुए, पीड़ा पहुँचाने वाले काँटो को भी जो स्वयं से पृथक् नहीं करता, उन मंगलमय पादपद्मों को छोड़ कर किसका ग्राश्रय लिया जाए।

नाहिन भजिबे जोग बियो.
श्री रघुनाथ समान ग्रान को पूरनकृपा हियो।

दूसरे भक्त ने पृथ्वी को उलाहना देते हुए कहा "तुम्हारा हृदय कितना निष्ठुर है।" तुम्हारे ही भार का ग्रपहरण करने के लिए जो श्रीचरण वनपथ पर चल रहे थे, उन्हीं के प्रति तुम्हारा यह व्यवहार क्या कृतघ्नता की पराकाष्ठा नहीं है? क्या तुम काँटों को समेट कर कोमल नहीं वन सकतीं थीं? इन पादपल्लवों की कोमलता का थोड़ा स्मरण भी क्या तुम्हारे हृदय में नहीं ग्राया? पृथ्वी की ग्राँखों में ग्राँसू छलक पड़े ग्रौर उसने कहा "इन सुकुमार श्रीचरणों को कष्ट न हो इस प्रश्न पर वहुत विचार करने के वाद भी मुझे कोई उपाय न सूझा। मेरे पास जो सुकोमल सुमन थे उसे मैंने विछा देना चाहा; किन्तु मृदुल

चरणों की तुलना में वे इतने कठोर थे कि मुझे प्रतीत हुआ कि उनसे भी इन्हें कष्ट ही होगा। तब मुझे लगा कि मिथ्या स्वागत का दर्प लेकर कष्ट पहुँचाने के स्थान पर अपने कंटकाकीर्ण हृदय को ही इनके सामने खोलकर रख दूँ। वस्तुतः मेरा अन्तर्हृदय तो काँटों से ही भरा हुआ है। यदि मैं उन्हें अन्तर्यामी से ही छिपा लेती तो यह मेरी मूढ़ता ही तो होती? उन्होंने उन काँटों को भी अपने श्रीचरणों में समा लिया। यह उनकी अकारण करुणा का प्रत्यक्ष दर्शन था। प्यारे भक्त! मेरी कठोरता ने यदि तुम्हें उन मङ्गलमय श्रीचरणों की कोमलता और करुणा का स्मरण कराया, तो मेरी दृष्टि में काँटे भी सार्थक हो गये। उनकी सुकुमारता की तुलना में जीव के पास है ही क्या, जिन्हें वह अर्पित करता। किन्तु युगों तक कंटकविद्ध श्रीचरण जीव को आश्वस्त करते हैं--पुष्प न सही काँटों को ही मुझे अर्पित कर दो। उन्हें भी मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा। बीतराग शुकदेव को भी सम्भवतः श्रीचरणों के काँटे यही सन्देश सुना रहे थे। और उन्होंने इसी झाँकी को हृदय में वसा लिया।

प्रभु का यह रुदन भविष्य की सारी लीला का परिचायक था। उन्हें संसार की पाठशाला में प्रथम पाठ रुदन का ही मिला। कौशल्या अम्बा से जिज्ञासा की, माँ! तुम्हारी कौन सी सेवा करूँ, जिससे तुम्हें सुखप्राप्त हो। तुमने सतरूपा के रूप में विवेक के साथ सुख की भी याचना की थी। तुम वताओ, तुम्हारे सुख की क्या परिभाषा है? यद्यपि तुमने कहा था कि आपके भक्तों को जो सुख, विवेक और गति प्राप्त होती है वही मुझे प्रदान कीजिए--

जे निज भगत नाथ तव अहहीं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु॥

किन्तु प्रत्येक भक्त की अपनी भावना होती है। उनके सुख की परिभाषाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। अतः यह तो तुम्हें ही बताना होगा कि तुम्हें कैसे सुखी किया जा सकता है, माँ ने उनके रुदन में सुख की अनुभूति की।

विश्वामित्र ने कहा, मेरी यज्ञ-रक्षा के लए समस्त राज्यसुखों का परित्याग कर पैदल प्रस्थान करना होगा। और उन्हें सुखी करने के लिए श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मण के साथ सहर्ष चल पड़े। कैकेयी अम्बा को लगा कि उन्हें सुखी करने का एकमात्र यही मार्ग है कि श्रीराघवेन्द्र उदासीन तपस्वी का बेष धारण कर वन में निवास करें।

तापस बेष विसेष उदासी।
चौदह बरिष राम बनवासी।।

और उनकी प्रसन्नता के लिए प्रभु तत्काल वल्कल वस्त्र धारण कर लेते हैं। समस्त राजकीय वैभव को छोड़कर क्षणभर में वे वन-पथ पर चल पड़े।

राम तुरत मुनि बेष बनाई।
चले जनक जननी सिर नाई।।

दूसरों को सुखी बनाना ही उनके जीवन का व्रत है। उसके लिए वे बड़ा से बड़ा बलिदान करने के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। इसीलिए प्रभु की रुदन-वेला में तुलसी आनन्दमग्न होकर गाने बैठ गए—पुकार उठे :—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं ते न परहिं भवकूपा।।

ज्ञानी कहता है, रुदन भी उनके आनन्द की अभिव्यक्ति है। यद्यपि सृष्टि में रुदन दुःख की ही अभिव्यक्ति माना जाता है। किन्तु वह रुदन दुःख का प्रतीक तब है, जब उसके पीछे कामना, अभाव, ममत्व अथवा अज्ञान हो। सच्चिदानन्द ब्रह्म में इसका प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें दुःख सुख की मान्यताओं का सर्वथा अभाव है। आनन्द उसका सहज स्वभाव है। सामनेवाले की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए स्वीकार किया गया रुदन अभिनय मात्र ही है। इस रुदन के पीछे भी उसकी मुस्कराहट छिपी हुई है। श्रीसीता के वियोग में रुदन करते हुए श्रीराघवेन्द्र को देख कर भगवान शिव पुलकित हो उठे थे और जय 'सच्चिदानन्द' कह कर उन्होंने दूर से ही ब्रह्म के चरणों में नमन किया था।

जय सच्चिदानंद जग पावन।
अस कहि चलेउ मनोज नसावन।।

दक्षपुत्री सती नमन के साथ सच्चिदानन्द शब्द सुनकर स्तब्ध रह गईं। उनके अन्तःकरण में प्रश्न मुखर हुआ "यह कैसा सच्चिदानन्द है जो प्रिया के वियोग में व्याकुल होकर विलाप कर रहा है, जो अपनी पत्नी को ही खोज नहीं पा रहा है।" सर्वज्ञता और आनन्द से शून्य एक साधारण राजकुमार को भगवान भूतभावन शिव ने गद्-गद् होकर क्यों प्रणाम किया। किसी भी तर्क से उनका अन्तःकरण सन्तुष्ट नहीं होता। वस्तुतः यह शिव और सती की दृष्टि का पार्थक्य था। इसी अन्तर की ओर इंगित करने के लिए गोस्वामी जी ने भगवान शिव के लिए उपर्युक्त पंक्ति में 'मनोज नसावन' शब्द का प्रयोग किया है। शिव की तृतीय दृष्टि के समक्ष काम क्षण भर में जलकर भस्म हो गया था। शिव की यह तृतीय दृष्टि वस्तुतः ज्ञानदृष्टि है, जिसके समक्ष मिथ्या टिक ही नहीं सकता है। वे इस रुदन की लीला को न केवल दो नेत्रों से अपितु तृतीय दृष्टि से भी देखते हैं। सती के पास उस दृष्टि का सर्वथा अभाव है। उनके पास व्यावहारिक विश्व को देखने के लिए जो दो नेत्र उपलब्ध हैं उन्हीं नेत्रों से वे सच्चिदानन्द की प्रामाणिकता को परखना चाहती हैं। व्यावहारिक विश्व में उन्होंने आंसू को सर्वदा दुःख की अभिव्यक्ति के रूप में देखा है। इसलिए श्रीरामभद्र के आँसुओं में भी उन्हें दुःख का दर्शन हो रहा है। कामारि की तृतीय दृष्टि सारी लीला को एक भिन्न रूप में ग्रहण करती है। ब्रह्म में संयोग और वियोग कैसे सम्भव है? उससे पृथक् कुछ है ही नहीं। वहाँ खोने और पाने का प्रश्न ही नहीं है। सर्वज्ञता की अपेक्षा भी यहाँ नहीं है क्योंकि वह स्वयं 'सर्व' है। ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता वहाँ पृथक् है ही नहीं। आँसू और हास्य, दुःख और सुख के अभिव्यञ्जक हैं। इस मिथ्या मान्यता का खण्डन करने के लिए ही आज ब्रह्म हास्य के स्थान पर रुदन को अभिव्यक्त करता है। मानों आँसुओं से यह प्रश्न उच्चरित हो रहा है कि जब सर्व के रूप में हास्य और रुदन दोनों वही है तब उन्हें पृथक्-पृथक् दुख और सुःख के रूप में देखना कहाँ तक उपयुक्त है? दूसरे रूप में इसे यों कह सकते हैं यदि यह लीला है तब तो रुदन में दुःख की अभिव्यक्ति अभिनयमात्र है। और वह आँखों से आँसू बहाता हुआ भीतर ही भीतर सती का संशय देख कर

मुस्करा रहा है। इसे वह अपने नाट्य की सफलता का प्रमाण मानकर आनन्दित हो रहा है। ऐसे कौतुकी ब्रह्म की लीला देख कर शिव का आनन्दित होना स्वाभाविक था। ठीक इसी तरह शिशु राघवेन्द्र का रुदन भी ज्ञानियों के अन्तःकरण में कौतूहल और आनन्द की सृष्टि करता है।

वैराग्यनिष्ठ साधकों ने इन आँसुओं से वैराग्यनिष्ठा की शिक्षा प्राप्त की। उपनिषदों ने कहा "प्रियंत्वारौत्स्यस्ति"––प्रिय ही तुम्हें रुलावेगा। आज इस रुदन में यह सत्य साकार हो उठा। माँ से अधिक प्रिय कौन होगा ? पर वह भी रुदन में आनन्द का अनुभव करती है। व्यक्ति बहुधा सोचता है कि प्रिय हमें सुख देगा इसलिए वह अधिक लोगों से राग का सम्बन्ध जोड़ लेता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उससे द्वेष करने वाले उसे दुःख देना चाहते हैं। पर जीवन का कटु यथार्थ यही है कि विरोधियों की अपेक्षा प्रियजन ही हमें अधिक पीड़ा पहुँचाते हैं। और यह स्वाभाविक ही है। प्रियजन हमारे समीप होते हैं और विरोधी हमसे दूर। अतः प्रियजनों की चेष्टा से हम प्रतिक्षण प्रभावित होते रहते हैं। यह ठीक है कि विरोधी हमें दुःख देना चाहता है पर उसे लेने न लेने में हम स्वतन्त्र हैं। किन्तु प्रिय से हम रागबन्धन में बन्धे हुए होते हैं। इसलिए वहाँ लेनदेन में पूरी स्वतन्त्रता नहीं है। प्रिय हमें सुख पहुँचाना चाहता है यह यथार्थ सत्य नहीं है। यदि वह सुख देता है तो इस आशा से कि बदले में हम उसे और भी अधिक सुख देंगें। और दोनों ओर सुख के प्यास की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे छीना-झपटी में बदल जाती है। हमारा प्रिय ही हमसे अधिकाधिक सुख छीन लेना चाहता है। अपनत्व की अनुभूति के कारण इस लूटे को डाके का नाम भी नहीं दे पाते। आन्तरिक पीड़ा को किसी से कहने में भी हमें संकोच का अनुभव होता है। अतः दुःख सुख से मुक्त होने के लिए केवल द्वेष का ही नहीं, राग का भी परित्याग करना होगा।

ब्रह्म के इस रुदन में ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और मर्यादा के सभी संकेत छिपे हुए हैं। गोस्वामी जी ने इन आँसुओं में अपनी दीनता के ही अनुरूप सन्देश पा लिया। मुस्कराते हुए बालक को गोद में

लेने की आवश्यकता का अनुभव माँ को नहीं होता है, किन्तु रुदन माँ को गोदी में लेने के लिए बाध्य कर देता है। बालक के रुदन की ध्वनि दूर से भी माँ को शीघ्रता से आने के लिए बाध्य कर देती है। यहाँ भी तो यही हुआ। मुस्कराते हुए श्रीहरि सामने खड़े रहने के लिए बाध्य थे। किन्तु रुदन करता हुआ 'शिशु ब्रह्म' कौशल्या अम्बा की गोद में था। कौशल्या अम्बा ही नहीं, अन्य माताएँ तो अपने-अपने भवनों से रुदन की ध्वनि सुन कर शीघ्र से शीघ्र राघवेन्द्र के सन्निकट पहुँच गईं। अपनी-अपनी गोद में बालक को ले लेने के लिए व्यग्र हो गईं।

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।
संभ्रम चलि आईं सब रानी।।

गोस्वामी जी ने सोचा, यदि जीव को भी अनन्तवात्सल्यमयी माँ की गोदी प्राप्त करना है तो उसे आँसुओं का आश्रय लेना होगा।

"मास दिवस कर दिवस भा"

प्रभु के प्राकट्य के पश्चात् महारानी कैकेयी और महारानी सुमित्रा के माध्यम से ब्रह्म के अन्य तीन अंशों का प्राकट्य हुआ।

कैकय सुता सुमित्रा दोऊ।
सुंदर सुत जनमत भैं ओऊ।।

सारी अयोध्या आनन्द विभोर हो उठी। उत्सव का उल्लास चारों ओर उमड़ा पड़ रहा था। घर-घर देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने के लिए सविधि पूजन किया जाने लगा। एक ओर अगरु, धूप और दूसरी ओर अयोध्या के राजपथ पर उल्लसित नर-नारियों द्वारा उड़ाये जाने वाले अबीर और गुलाल से सन्ध्याकाल की अनुभूति होने लगी। कवि को लगा जैसे रात्रि भी प्रभु का स्वागत करने के लिए अयोध्या में प्रविष्ट होना चाहती है; किन्तु सूर्य की उपस्थिति में संकुचित होकर सन्ध्या बन गई। मंदिरों में खचित मणियाँ तारक अवली की तरह चमक उठीं। अयोध्या के राज भवन पर सुशोभित कलश चन्द्रमा की भ्रांति उत्पन्न करने लगा। महाराज श्रीदशरथ के राज भवन में होने वाली मधुर वेद-ध्वनि को सुनकर ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सन्ध्या-वेला में पक्षी चहचहाने लगे हों।

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती।
प्रभुहि मिलन आई जनु राती।।
देखि भानु जनु मन सकुचानी।
तदपि वनी संध्या अनुमानी।।
अगर धूप वहु जनु अँधिआरी।
उड़इ अबीर मनहु अरुनारी।।
मंदिर मनि समूह जनु तारा।
नृप गृह कलस सो इंदु उदारा।।
भवन बेद धुनि अति मृदु वानी।
जनु खग मुखर समय जनु सानी।।

इस आनंदोत्सव का वर्णन करते हुए अचानक गोस्वामी जी एक चौंकाने वाली वात कह देते हैं। "इस विलक्षण कौतुक को देखकर

भगवान भुवन-भास्कर भी आनंद-मग्न होकर रास्ता चलना भूल गये। एक मास तक सूर्यदेव अयोध्या में ही स्थिर रहे, वह दिन एक मास का हो गया। जब सूर्य का रथ ही रुक गया तब भला रात्रि कैसे होती?"

कौतुक देखि पतंग भुलाना।
एक मास तेइँ जात न जाना।।
मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होइ।।

श्रद्धालु हृदय इस घटना को ईश्वरीय चमत्कार के रूप में देखकर संतुष्ट हो जाता है; किन्तु अनेक लोगों के लिए यह पंक्ति एक समस्या के रूप में सामने आती है। विशेष रूप से आज के युग में जब विज्ञान अपने चरम उत्कर्ष पर है प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक कसौटी पर ही सत्य की परख करता है। ऐसी स्थिति में किसी वाक्य को सहज सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना उसके लिए कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। इस प्रश्न पर हमें कई दृष्टियों से विचार करना होगा। जो लोग इस प्रश्न पर काव्य-कला की दृष्टि से विचार करते हैं, उनके लिए यह साहित्यिक उत्प्रेक्षा प्रतीत होती है। यहाँ एक ओर तो कवि दिन में ही रात्रि और सन्ध्या के शुभागमन की कल्पना करता है। इस उत्सव के उल्लास में जब सभी स्त्री-पुरुष आनंद-मग्न हैं तब केवल सूर्य का उल्लास अधूरा सिद्ध होगा। रात्रि इस आनंद से वञ्चित क्यों रहे? इसलिए उस वातावरण में कवि रात्रि की उपस्थिति की कल्पना करता है। पर कवि को लगा होगा इस दृश्य को देखकर सूर्य को कैसा प्रतीत हुआ होगा? इस प्रकार रात्रि की उपस्थिति को सूर्य ने यदि अपने अधिकार में हस्तक्षेप के रूप में देखा हो तो इसे असङ्गत नहीं कहा जा सकता। अत: बदले में यदि उन्होंने भी रात्रि को उसके अधिकार से वञ्चित करना चाहा हो तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। सूर्य ने निर्णय किया होगा कि अब इसके बदले में मैं रात्रि को एक मास तक अयोध्या में प्रविष्ट नहीं होने दूँगा। इस कल्पना के माध्यम से एक ओर तो कवि अयोध्या में उत्सव मनाने की मची हुई होड़ की ओर इङ्गित

करना चाहता है तो दूसरी ओर अयोध्यावासियों के आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए मानो यह प्रतीकात्मक संकेत है कि वे दिन में अगर धूप के द्वारा रात्रि के वातावरण की सृष्टि करते हैं तो रात्रि में उत्सव के जागरण के द्वारा ऐसा व्यवहार करते हैं मानो अयोध्या में रात्रि न होकर केवल दिन ही हो, और इस तरह महीनों तक अयोध्या में आनंदोल्लास की धूम मची रही। अतः "मास दिवस कर दिवस भा" को इस अर्थ में ले लें तो यह एक उत्कृष्ट साहित्यिक चमत्कार होगा। भक्त इसे ईश्वरीय चमत्कार की दृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि में ब्रह्माण्ड में सव कुछ संगत ही नहीं है। ईश्वरीय सृष्टि विलक्षणताओं से ओत-प्रोत है। पृथ्वी में भी ऐसे स्थान तो हैं ही कि जहाँ छह महीने का दिन और छह महीने की रात्रि होती है। भौगोलिक दृष्टि से देश विशेष में ही यह चमत्कार सम्भव है। उस दृष्टि से अयोध्या में एक मास का दिन होने की कोई सम्भावना नहीं है; किन्तु भक्त की दृष्टि में यहाँ साधारण भौगोलिक क्रम के सिद्धान्त सुसङ्गत नहीं हो सकते। क्योंकि वह ईश्वर में ही समस्त ब्रह्माण्डों की स्थिति स्वीकार करता है। अतः इस समय अयोध्या एक साधारण भौगोलिक इकाई न होकर समस्त ब्रह्माण्ड का ही प्रतिरूप है। क्योंकि समस्त विश्व का अधिष्ठाता ब्रह्म यहाँ अभिव्यक्त हो चुका है। अतः किसी भी देश, काल, ग्रह, नक्षत्र में होने वाला चमत्कार यहाँ होना सम्भव है। और चमत्कार है भी क्या? साधारणतः हम जिस प्रकार के क्रम को देखने के अभ्यस्त हैं उससे भिन्न कोई भी पदार्थ हमें चमत्कार प्रतीत होता है। यद्यपि यह भी सम्भव है कि जिसे हम यहाँ चमत्कार मानते हों अन्यत्र वह साधारण क्रम के रूप में ही विद्यमान हो। अतः अयोध्या में इस समय जो विलक्षण चमत्कार दिखाई दे रहे हैं, वे देश कालातीत ईश्वर की उपस्थिति में सहज सम्भव हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करने पर यह अंतर्जगत का असंदिग्ध यथार्थ सत्य है। साधक का अंतर्जगत ही अयोध्या की पावन भूमि है, जहाँ वह ब्रह्म को अभिव्यक्त रूप में देखता है। बहिरंग जीवन में साधक और विषयी में कोई विशेष पार्थक्य नहीं

प्रतीत होता। शरीर के सभी साधारण नियम साधक और विषयी में समान रूप से विद्यमान होते हैं। किन्तु अंतर्जगत में साधक की स्थिति सर्वथा विलक्षण है। वाह्य जीवन में सूर्य कालचक्र का प्रतीक है। प्रतिदिन उदित होने वाला सूर्य आयु की अवधि से एक दिन और समाप्त होने की सूचना देकर हमें सतत सावधान करता रहता है। उदय और अस्त के माध्यम से वह जीवन और मृत्यु के अनवरत चक्र का परिचय देता है। भर्तृहरि 'नीति शतक' में आश्चर्य प्रगट करते हुए कहते हैं, "प्रति दिन उदित और अस्त होता हुआ सूर्य हमारी आयु के क्षीण होने की सूचना दे रहा है। किन्तु संसार के विविध कार्यों में संलग्न व्यक्ति को काल का स्मरण ही नहीं आ रहा है। रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु के चक्र को अनवरत चलते हुए देखने पर भी उसके अंत:करण में भय नहीं उत्पन्न हो रहा है। लगता है मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर सारा विश्व उन्मत्त हो गया है।"

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्ति मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्त भूतं जगत्॥

किन्तु यह तो वहिरंग विश्व का सत्य है। साधक के अन्तःकरण में तो ज्ञान का दिव्य प्रकाश फैला हुआ है। साधना के भव्य भवन में बैठी हुई उसके अन्तःकरण की वृत्ति ब्रह्म को अपनी गोदी में आरूढ़ पाकर धन्य हो रही है। विविध वाद्यों की ध्वनि अन्तःकरण के प्राङ्गण में गूँज रही है, अबीर और गुलाल की धूम मची हुई है, प्रकाश अंधकार का भेद समाप्त हो चुका है, कालचक्र की गति अवरुद्ध हो गई है। अज्ञान की रात्रि का प्रवेश नहीं। चन्द्रमा के समान मन के घटने-वढ़ने का क्रम समाप्त हो चुका है। किसका ध्यान जाये कि समय क्या हुआ है? मृत्यु का भय मिट चुका है, साधक अमरता के आनंद में झूम रहा है। यद्यपि अयोध्या में एक मास के पश्चात् सूर्य गतिशील हो उठा उसी प्रकार साधक अंतर्जगत से निकल कर जव वाह्य जीवन में प्रवेश करता है तव वाह्य जगत में कालचक्र उसी भाँति चलता दिखाई देता है। पर साधक के लिए अव इसका

कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि अब वह परम सत्य का साक्षात्कार कर चुका है।

इस प्रकार की अन्तर्जगत की अनुभूतियों का मिलता-जुलता चित्र सभी संतो की वाणियों में अभिव्यक्त हुआ है।

सत्य तो यह है कि "मास दिवस कर दिवस" भी आनंदोल्लास की चरम अभिव्यक्ति है। गणित और साहित्य मानव मन की दो विरोधी अंतर्दशाओं के प्रतीक हैं। गणित में नियम हैं, उनकी सीमाएँ हैं, वह एक सुनिश्चित उत्तर प्रस्तुत करता है। विज्ञान की सारी स्थापनाओं में गणित का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग है। गणित के माध्यम से वह ग्रह नक्षत्र की उन दूरियों को नाप लेता है जहाँ तक वह शरीर के माध्यम से कभी पहुँच ही नहीं सकता है। सृष्टि-रचना की सारी प्रक्रिया देखकर कभी-कभी लगने लगता है कि इसका रचयिता कितना बड़ा गणितज्ञ होगा? सारा ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण नियमों में आबद्ध है। गतिशील है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सभी तो नियमानुवर्ती हैं। किन्तु साहित्य इससे सर्वथा भिन्न प्रवृत्ति का परिचायक है। क्या जीवन में नियमानुवर्तिता ही सब कुछ है? क्या इसमें कभी-कभी जड़ यांत्रिकता का बोध नहीं होता? क्या व्यक्ति की तृप्ति केवल गणित के द्वारा सम्भव है? क्या यह प्रतिक्षण की नियमित गतिशीलता अपनी एकरसता के कारण चित्त को बासीपन की अनुभूति से नहीं भर देती? निश्चित रूप से मानव जीवन में, उसके अन्त:करण में यह अंतर्विरोध विद्यमान है। नियमितता के बीच अनियमितता भी जीवन की माँग है। कर्म यदि जीवन का एक पक्ष है तो विश्राम उसका दूसरा पक्ष। कर्म और श्रम करते हुए हमें निरंतर घड़ी की ओर ध्यान रखना पड़ता है। सभ्य समाज में वस्त्र, भोजन, शिष्टाचार, उठना-बैठना मर्यादित और नियमों में आबद्ध हैं। जो उन नियमों का पालन नहीं करते सभ्य समाज उन्हें अशिष्ट कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। किन्तु सभ्य से सभ्य व्यक्ति भी विश्राम के लिए अपने शयन-कक्ष में पहुँचते ही अपने उन समस्त आवरणों को उतार फेंकता है, जिन्हें वह सभ्यता की रक्षा के लिए दिन भर ढोता रहता है। यदि उसे उन्हीं सुरुचि

पूर्ण वस्त्रों को धारण किये हुए सोने के लिए कह दिया जाय, जिन्हें वह दिन में बड़े गौरव से धारण करता है, तो वस्त्र उसे असह्य भार जैसे प्रतीत होने लगेंगे। शय्या पर सोते हुए यदि उसे शरीर को एक विशेष स्थिति में रखने का आदेश दिया जाय तो इसे वह असम्भव मानकर अस्वीकार कर देगा। हमारा बहिरंग जीवन कितना भी नियमानुवर्ती क्यों न हो हमारा अंतर्मन उन नियमों में छूट चाहता है। अवसर मिलते ही नियमों को तोड़कर व्यक्ति एक भिन्न प्रकार के उल्लास का अनुभव करता है। क्योंकि नियम पालन में उसे प्रतिक्षण जहाँ पारतंत्र्य का बोध होता है वहाँ वह उन्हें तोड़ते समय स्वातंत्र्य का अनुभव करता है। स्वातंत्र्य मानव-मन की एक माँग है। जीवन की पूर्णता के लिए हमें इन दोनों विरोधी वृत्तियों में संतुलन स्थापित करना होगा। साहित्य गणित की सीमाओं से भिन्न एक निरंकुश आनंद की सृष्टि करता है। अनेक गणितज्ञों के द्वारा किसी गणित की समस्या का समाधान खोजने पर अंत में सभी एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। यदि उनमें सर्वथा साम्य न हो तो यह मान लिया जायेगा कि किसी न किसी से गणित में त्रुटि हो रही है। और जब तक निष्कर्ष में एकरूपता न आ जाय, तब तक उसे अशुद्ध मानकर सही निष्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। ठीक इससे भिन्न स्थिति साहित्य की है। यदि कवियों अथवा साहित्यकारों के समक्ष एक ही समस्या उपस्थित की जाय, और वे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करें तो उनमें परस्पर भिन्नता होगी। और यह भिन्नता ही उनके प्रतिभा की परिचायक मानी जायेगी। यदि कदाचित् वे एक ही प्रकार की पंक्तियाँ दुहराने लगें तो पाठक अथवा श्रोता सर्वथा ऊब जायगा। इसीलिए चन्द्रमा की श्यामता के विषय में अपने मित्रों से प्रश्न करते हुए भगवान राम का आग्रह है कि आप लोगों के उत्तर एक जैसे न हों।

कह प्रभु ससि महँ मेंचकताई।
कहहु काह निज निज मति भाई।।

और तभी यह सम्भव हुआ कि प्रत्येक मित्र को चन्द्रमा की श्यामता में विभिन्न भावों की अनुभूति हुई। यही साहित्य का आनंद है। यदि विज्ञान हमारे जीवन को नियमानुवर्ती बनाता है तो साहित्य

यांत्रिक एकरसता से मुक्त कर अपने कल्पित आनंदलोक में पहुँचा देता है। विज्ञान चन्द्रतल पर उतर कर वहाँ के चित्रों और धूलि के संग्रह को महत्त्व देता है, उसके लिए वह एक निष्प्राण तेजहीन वायुशून्य ग्रह-पिण्ड मात्र है; किन्तु साहित्य के लिए वह सौन्दर्य, शील और कोमलता का प्रतीक है। कई लोगों को लगता है, सौन्दर्य के लिए चन्द्रमा का प्रतीक अब पुराना पड़ गया। क्योंकि वह यथार्थ से दूर है, तो मैं उन्हें यही कहूँगा कि उन्होंने जीवन को समग्रता से देखने का कष्ट नहीं उठाया है? क्या बालक के शरीर की आंतरिक वास्तविकता को एक्सरे यंत्र के माध्यम से लिए गये चित्र से देखकर माता-पिता का वात्सल्य समाप्त हो जाता है? क्या उन्हें बालक उतना ही सुन्दर नहीं प्रतीत होता जितना एक्सरे यंत्र के द्वारा लिए गए चित्र से पहले प्रतीत होता था। क्या चन्द्रलोक तक मनुष्य के पहुँच जाने पर भी चन्द्रमा हमें उतना ही शीतल, आकर्षक और प्रिय नहीं प्रतीत होता? क्या पूर्णिमा की चाँदनी रातों में सरिता पर खेलती हुई चन्द्र-किरणों का दृश्य देखने के लिए हम नदी के किनारों पर नहीं बैठेंगे? यदि कभी ऐसा हुआ तो यह सारी मानव जाति के दुर्भाग्य का दिन होगा। विज्ञान का सत्य हमें साहित्य के आनंद-लोक से वञ्चित नहीं कर सकता।

तुलसीदास सच्चिदानंद के उपासक हैं। वे सत्य के साथ-साथ हमें साहित्य के आनन्दलोक में ले जाकर रससिक्त बना देते हैं। श्रीराघवेन्द्र की प्राकटच बेला में सूर्य की स्मृति आते ही उन्हें लगा होगा कि क्या आज भी सूर्य जड़ यंत्र की भाँति अपने समय से अस्त हो जायगा। क्या इस असीम उल्लास के क्षणों में उसकी नियमानुवर्तिता खो नहीं गई होगी? उन्होंने सूर्य को पुकार कर कहा होगा कि आज तुम्हारे नाम से सम्बद्ध वंश में श्रीरामभद्र का जन्म हुआ है। जरा अयोध्या में उमड़ते हुए उल्लास को निहारो और तब उनके भावराज्य में सूर्य थमक गया, अपलक नेत्रों से इस आनंदोत्सव का रस-पान करने लगा। कोटि-कोटि वर्षों से चली आई नियम-पालन की बाध्यता इस भीड़-भाड़ में कहाँ खो गई उसे पता भी न चला। कवि के इस आनंदलोक में सूर्य स्वतंत्र था और इस मधुमयी बेला में मास

दिवस का दिवस न होता तो यह सूर्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य सिद्ध हो जाता। कवि के इस आनंदलोक में विज्ञान के सत्य को प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नहीं है। इस लोक में कुछ भी असम्भव नहीं है। यहाँ अग्नि चुगने वाला चकोर, दूध और पानी को अलग करने वाला हँस, स्वाति नक्षत्र के जल का प्यासा पपीहा, सर्पों से लिपटा चन्दन वृक्ष मिलता है। विज्ञान के भौतिक लोक में ये सभी असम्भव हैं। संस्कृत साहित्य में इसीलिए कवि को स्वयम्भू (ब्रह्मा) कहा गया है। वह वस्तुतः नई सृष्टि का रचयिता है और यह विश्व, भौतिक संसार से सर्वथा भिन्न है। इसे बुद्धिवादी कल्पित कह सकता है, किन्तु परिणाम की दृष्टि से दुःख और सुख का सृजन करने में वह इस स्थूल सृष्टि से पीछे नहीं है। यहाँ बाह्य उपकरणों के बिना भी व्यक्ति सुख-श्रोत में सराबोर हो जाता है और यहाँ काव्य के करुण प्रसङ्गों में द्रवित होकर आँसू बहाता हुआ भी वह रुदन में थकान का अनुभव न कर, आनंद की अनुभूति में ही डूब जाता है। इस सृष्टि में स्वर्णसौध हैं, विस्तृत भूखण्ड, दिव्य सौन्दर्य; यहाँ क्या नहीं विद्यमान है ? किन्तु भौतिक जगत् की भाँति वे प्रलोभन और संघर्ष के कारण नहीं बनते।

इस विलक्षण सृष्टि में प्रवेश करते समय भौतिक सृष्टि की तार्किक परिणतियों को बाहर ही छोड़कर प्रवेश करना चाहिए। मास दिवस के दिवस का आनंद लेने के लिए भी हमें संत कवि तुलसी के अन्तः-करण से तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। यहाँ देश, काल और व्यक्तित्व की सारी सीमाएँ मिट चुकी हैं। इसीलिए गोस्वामी जी राम-जन्म की पावन बेला में मंगल-गीत गाने की गाथा सुनाते हैं। "तहँ तुलसिहु मिल गाये" भले ही इतिहास का काल-क्रम प्रभु और भक्त के जन्म काल के मध्य में लाखों वर्ष का अंतराल मानता हो, श्रीराघवेन्द्र के जन्मोत्सव के पावन प्रसङ्ग में गोस्वामी जी न जाने कितने रूपों में विद्यमान थे। मङ्गलगीत गाने वाली स्त्रियों में मात्र "तुलसी" बनकर गीत गा रहे थे। उन याचकों में तुलसीदास भी सम्मिलित थे जो राम-जन्म की दक्षिणा पाकर आनंद-मग्न हो उठे थे। वे मनुष्य रूप में आये हुए शिव और कागभुसुण्डि को तत्काल पहिचान कर उनके पीछे हो लेते हैं। और मास दिवस का यह रहस्य

भी उन्हें और कुछ विरले सौभाग्यशालियों को छोड़कर अन्य कोई नहीं जान पाता।

यह रहस्य काहूँ नहि जाना।
दिनमनि चले करत गुन गाना।।

अन्य लोगों के लिए सृष्टि-क्रम नित्य की ही भाँति चल रहा था। उन्हें सूर्योदय, सूर्यास्त के समय में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं हुआ। भौतिक लोक में भले ही सब कुछ यथावत् रहा हो किन्तु कवि के भाव-लोक में सूर्य इस आनंद में निमग्न एक मास तक रुका रहा और फिर प्रभु का गुणगान करता हुआ वह अपने पथ पर चल पड़ा।

"नामकरन कर अवसरु जानी"

अयोध्या में नित्य आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। बालकों के नामकरण की मङ्गलमयी बेला आ उपस्थित हुई। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ आदरपूर्वक रामभवन में लाए गए। महाराज-श्री ने गुरुदेव के चरणों में नमन करते हुए उनका सविधि पूजन किया और फिर उनसे अनुरोध किया कि इन बालकों के लिए उन्होंने जिन नामों का चुनाव किया हो, उन्हें देने की कृपा करें। महाराज श्रीदशरथ को गुरु वशिष्ठ की त्रिकालज्ञता और सर्वज्ञता पर पूर्ण विश्वास था। उन्हें स्मरण हो आया, गुरुदेव ने ही एक दिन भविष्य-वाणी की थी––"तुम्हें चार पुत्र प्राप्त होंगे"। अवश्य ही उन्होंने संकल्प में उनका नामकरण कर लिया होगा। गुण के अनुरूप नामकरण भी उपयुक्त ही है; किन्तु महाराज-श्री को तो ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे गुरुदेव इतने क्षमतासम्पन्न हैं कि वे जिस प्रकार का नाम दे देंगे, बालकों में वैसे ही गुण भी आ जायेंगे।

नामकरन कर अवसरु जानी।
भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी।।
करि पूजा भूपति अस भाषा।
धरिउ नाम जो मुनि गुनि राखा।।

किन्तु गुरुदेव के सामने अद्भुत समस्या है। इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न न जाने कितने राजकुमारों का नामकरण महर्षि के मुख से हुआ, किन्तु आज का नामकरण सरल न था। शास्त्र कहता है गुण के अनुरूप नामकरण किया जाना चाहिए। पर जो निर्गुण है उसके नामकरण का आधार क्या होगा? और यदि निर्गुण, सगुण हो चुका है ऐसा मानकर नामकरण करें तब समस्या और भी जटिल हो जाती है। जिसमें अनन्त गुण हों और प्रत्येक गुण पूर्ण हो, उसका नामकरण किस गुण को आधार मानकर किया जाय। अनन्त गुण-गण-निलय को एक विशिष्ट गुण का बोधक नाम दे देना, उसके गौरव को न्यून करने का प्रयास माना जायेगा। फिर भी नामकरण तो करना ही होगा। संसार में समस्त व्यवहार का आधार नाम ही तो है। ईश्वर

को भले ही नाम की आवश्यकता न हो और शास्त्रों ने भी भले ही उसे अरूप और अनाम कहकर पुकारा हो—

"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा।।"

किन्तु विश्व को उसके रूप की आवश्यकता थी और भक्त की प्रार्थना स्वीकार कर वह निराकार से साकार बना। अतः रूप को नाम तो देना ही होगा। अनन्त गुण-गण-निलय प्रभु के नाम भी अनन्त ही होंगे, किन्तु उन नामों में एक को ही मुख्यता दी जानी चाहिए। गुरु वशिष्ठ को प्रतीत हुआ कि वह नाम—"राम" ही हो सकता है। नामकरण के प्रारंभ में अपनी योग्यता के विषय में महाराज श्रीदशरथ की शंका को अवास्तविक सिद्ध कर दिया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की, राजन्! इनके अनेक अनुपम नाम हैं, किन्तु अपनी सीमित बुद्धि के अनुरूप मैं एक नाम चुनूँगा। यह श्याम शिशु आनन्द का समुद्र है, समस्त सुख केन्द्रीभूत होकर इसमें निवास करते हैं, यह अपने आनन्द-सिन्धु के एक विन्दु से ही त्रैलोक्य को सुख का वितरण कर देता है। इस सुख के निवास स्वरूप बालक का नाम है—"राम"। यह नाम समस्त लोकों को विश्राम देने वाला है।

इन्ह के नाम अनेक अनूपा।
मैं नृप कहव स्वमति अनुरूपा।।
जो आनंद सिंधु सुख रासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक विश्रामा।।

ब्रह्म को प्रदत्त यह नाम उनकी कृति नहीं है, इसे गुरु वशिष्ठ ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया। यह वह अनुपम नाम है जिसके लिए देवर्षि नारद ने प्रभु से बड़े ही अनोखे अवसर पर वरदान की याचना की। सीता वियोगी श्रीरामभद्र पम्पासर के निकट वृक्ष की शीतल छाया में विराजमान थे, देवर्षि नारद को लगा कि वे ही इस वियोग के कारण हैं। उनके शाप को ही अंगीकार कर प्रभु नाना प्रकार के दुख उठा रहे हैं, ऐसे उदार प्रभु के श्रीचरणों में चलकर नमन करना चाहिए। ऐसा सोच कर नारद प्रभु के निकट आए। वीणा पर प्रभु

के मंगलमय गुणों का गान करते हुए नारद को देखकर, प्रभु ने उनका स्वागत किया। देवर्षि ने जिज्ञासा प्रगट की——प्रभु यह बताने की कृपा करें कि जब मैंने विवाह करना चाहा था, उस समय किन कारणों से मेरा विवाह नहीं होने दिया ? प्रभु ने स्नेह और अपनत्व भरे स्वर में स्पष्ट करते हुए कहा कि नारद, ज्ञानी मेरे प्रौढ़ पुत्र हैं और अमानी-भक्त मेरे नन्हें शिशु के समान हैं। यद्यपि माँ अपने सभी पुत्रों से स्नेह करती है; किन्तु उसे अपने नन्हें बालक की जितनी चिन्ता रहती है उतनी प्रौढ़ पुत्रों की नहीं। यदि नन्हाँ बालक अग्नि में हाथ डालने की चेष्टा करे अथवा सर्प या बिच्छू को पकड़ने की चेष्टा करे तो ऐसी स्थिति में माँ का उसे रोकना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार तुम जैसे अमानी भक्तों के अन्तःकरण में जब मैं विषयों की आकांक्षा को उदित होता हुआ देखता हूँ, तब उन बुराइयों से बचाना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है।

बैठे परम प्रसन्न कृपाला।
कहत अनुज सन कथा रसाला।।
बिरहवंत भगवंतहि देखी।
नारद मन भा सोच बिसेषी।।
मोर साप करि अंगीकारा।
सहत राम नाना दुख भारा।।
ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई।
पुनि न बनिहि अस अवसरु आई।।
यह बिचारि नारद कर बीना।
गए जहाँ प्रभु सुख आसीना।।
गावत रामचरित मृदु बानी।
प्रेम सहित बहु भाँति बखानी।।
करत दंडवत लिए उठाई।
राखे बहुत बार उर लाई।।
स्वागत पूँछि निकट बैठारे।
लछिमन सादर चरन पखारे।।

* * *

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी ।
पुनि नारद बोले मृदु बानी ।।
राम जबहिं प्रेरेउ निज माया ।
मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ।।
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा ।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।।
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा ।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी ।
जिमि बालक राखइ महतारी ।।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई ।
तहँ राखइ जननी अरगाई ।।

किन्तु स्वागत और इस वार्तालाप के अन्तराल में एक अनोखा प्रसङ्ग और है। बहिरङ्ग दृष्टि से यह समझ पाना कठिन है कि देवर्षि नारद के द्वारा भगवान राम से जो अनुरोध किया जाता है, उसका क्या उद्देश्य है? वह अनुरोध इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—"प्रभु यद्यपि आपके अनेक अनुपम नाम हैं और श्रुतियों ने सबको एक दूसरे से बढ़कर बताया है, किन्तु फिर भी मेरी यह प्रार्थना है कि राम नाम उन समस्त नामों में श्रेष्ठ हो। भक्ति की राका-(पूर्णिमा) रजनी में यह राम नाम चन्द्रमा के समान सुशोभित हो और अन्य नाम तारागणों के समान रहें। भक्त के हृदयाकाश में तारों और चन्द्रमा का यह अनुपम दृश्य शोभा पाता रहे। प्रभु ने देवर्षि की प्रार्थना स्वीकार करते हुए, उन्हें ऐसा ही वर प्रदान किया।

तब नारद बोले हरषाई ।
अस बर मागउँ करउँ ढिठाई ।।
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका ।
श्रुति कह अधिक एक तें एका ।।
राम सकल नामन्ह ते अधिका ।
होउ नाथ अघ खग गन बधिका ।।

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उड़गन बिमल बसहुँ भगत उर व्योम ।।
एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।
तव नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ ।।

मानस के एक अध्येता ने इन पंक्तियों को पढ़कर कहा कि ऐसा लगता है जैसे देवर्षि नारद के शुभागमन और वार्तालाप के मध्य में यह वरदान वलात् लाद दिया गया है। विरही प्रभु से नारद का यह प्रश्नोत्तर सर्वथा स्वाभाविक लगता है कि आपने मेरा विवाह क्यों नहीं होने दिया? क्योंकि इस सारी घटना से नारद-विवाह का प्रसङ्ग सम्वद्ध था। किन्तु न तो यहाँ नाम-महिमा का कोई प्रसङ्ग था और न तो इस प्रकार के वरदान माँगने की संगति ही समझ में आती है।

वहिरङ्ग दृष्टि से ऐसा प्रतीत होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रसङ्ग की अन्तरङ्ग भावभूमि में प्रविष्ट होने पर इसकी संगति का आनन्द लिया जा सकता है। यह निर्णय करना कठिन है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में नारद प्रभु से वरदान माँग रहे हैं अथवा उन्हें वर दे रहे हैं। वैसे तो देवर्षि यही कहते हैं कि "यह वर माँगउ कृपा निकेता," किन्तु आगे चलकर जो वरदान माँगा गया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि माँगने की आड़ में यह प्रभु को दिया गया एक प्रकार का आशीर्वाद ही है। देवर्षि अपने लिए किसी वस्तु की याचना नहीं करते हैं। वे तो प्रभु से यही अनुरोध करते हैं कि आपके राम-नाम के गौरव की वृद्धि हो। वस्तुतः इसके पीछे देवर्षि की ग्लानि की भावना ही कार्य कर रही है। आज की इस दुःखद परिस्थिति के लिए अपने शाप को कारण मानकर उनके मन में जो अन्तर्वेदना हो रही है, उसके परिमार्जन के लिए ही वे वरदान माँगने के मिस से आशीर्वाद ही दे रहे हैं। मानो रूप को दिये गए शाप के वदले में उनके नाम का गौरव वढ़ाने के लिए वे व्यग्र हो उठे हैं। देवर्षि ने जव शाप दिया था तव उनके समक्ष प्रभु चतुर्भुज विष्णु रूप में थे; किन्तु दिये हुए शाप का परिणाम उन्होंने श्रीराम रूप में सहन किया। देवर्षि का तात्पर्य यह था कि मेरे दिये हुए शाप को प्रभु अस्वीकार कर सकते थे; किन्तु "संतत दासन्ह देहु वड़ाई" के अपने स्वभाव के अनुरूप मेरे वचन और

बड़प्पन की रक्षा के लिए प्रभु ने श्रीराम का रूप ग्रहण कर कितना कष्ट उठाया। अतः लगता है कि दूसरों को बड़प्पन प्रदान करना ही इस अवतार का उद्देश्य है। आपके सभी अवतार और नाम बड़े हैं पर आपका यह अवतार अपने ऐश्वर्य और बड़प्पन को प्रगट करने के लिए न होकर, दूसरे के गौरव की रक्षा करने के लिए हुआ है। इसलिए आप परशुराम के समक्ष स्वयं को हर प्रकार से लघु सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। आपने परशुराम से अपनी तुलना करते हुए कह दिया—"राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा॥" अर्थात् कहाँ मेरा नन्हाँ सा राम नाम और मेरी तुलना में आपका राम नाम परशु से युक्त है अतः बड़ा है। आप स्वयं अपने नाम और रूप को लघुता सिद्ध कर परशुराम के गौरव की वृद्धि कर रहे थे। महत् होते हुए भी स्वयं को लघु बनाकर दूसरे को गौरव देना यह आपकी पूर्णता का ही परिचायक है। अतः मैं यह चाहता हूँ कि आपके इस मङ्गलमय नाम का गौरव अन्य सभी नामों की अपेक्षा अधिक हो। प्रभु कह सकते थे कि देवर्षि यह तो आपका आशीर्वाद है, फिर आप वरदान माँगने की बात क्यों कहते हैं। देवर्षि का भाव बड़ा ही मधुर था, मानो वे यह कहना चाहते थे कि जीव शुभ कामना भले ही करे, किन्तु उसके वचनों की सत्यता सिद्ध करना तो आपके लिए ही सम्भव है। यदि आपने क्रोध के आवेश में दिए गए शाप की रक्षा की तब फिर मेरे इन वरदान के शब्दों को भी सत्य सिद्ध करने की कृपा करें। प्रभु भक्त की वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिए "एवमस्तु" कहकर उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं।

गुरु वशिष्ठ के द्वारा यह नाम सचमुच ही समस्त नामों में सरल और अक्षर मात्रा की दृष्टि से लघु प्रतीत होता है। प्रभु ने अनेक अवतार ग्रहण किए और उन अवतारों में उनके पृथक्-पृथक् नाम हैं; वे सभी नाम महिमामय हैं और उनमें सर्वाधिक संक्षिप्त नाम है—"राम"। प्रणव (ॐ) को छोड़कर ईश्वर के अनेक नामों में कोई भी नाम इतना लघु नहीं है। प्रणव को एकाक्षर ब्रह्म कहते हैं; किन्तु अक्षर की किञ्चित् न्यूनता होने पर भी उसका उच्चारण 'राम' की तरह सरल नहीं है। अपनी सरलता और लघुता के द्वारा निरन्तर

दूसरों को गौरव प्रदान करना, प्रभु और उनके नाम दोनों की ही विशेषता है। यद्यपि अन्य नामों की उपासना करने वाले भावुकों को इस प्रकार की मान्यता में पक्षपात की अनुभूति होगी। भक्ति में पक्षपात की बात को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विना पक्षपात के उपासना सम्भव ही नहीं है। किन्तु राम-नाम का अन्य नामों की अपेक्षा वैलक्षण्य युक्तिसङ्गत सत्य भी है। जैसे यह केवल भावनात्मक आग्रह न होकर यथार्थ सत्य है कि ईश्वर के कोई भी नाम इस राम नाम के समान सरलता से उच्चरित नहीं हो सकते। अधिकांश अवतारों के नाम संयुक्ताक्षर या स्वर वर्ग के अक्षरों से निर्मित हैं। इसलिए उनका स्मरण सबके लिए समान रूप से सुलभ नहीं है। इसी तर्क को दृष्टिगत रखकर गोस्वामी जी नाम-वन्दना के प्रसङ्ग में स्मरण की सुलभता की ओर संकेत देते हैं।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू।
लोक लाहु परलोक निबाहू।।

इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य अवतारों के नामों की लघुता सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया गया है। स्वयं भगवान राम के भी अन्य नामों की अपेक्षा यह नाम सुलभ है। इसीलिए गोस्वामी जी नाम-वन्दना के प्रसङ्ग में इन वाक्यों का प्रयोग करते हैं—"मैं रघुवर के राम नाम की वन्दना करता हूँ।"

बंदउँ नाम राम रघुवर को।
हेतु कृसानु भानु हिमकर को।।

इससे स्पष्ट है कि वे अपने प्रभु के रघुवर नाम को भी वह महत्त्व देने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं, जो राम नाम को देते हैं। राम नाम में निहित वर्णों की दूसरी विशेषता यह है कि संस्कृत और हिन्दी के अधिकांश मधुर और सैद्धान्तिक शब्द 'र' और 'म' इन वर्णों से युक्त हैं। गोस्वामी जी कहते हैं—

आखर मधुर मनोहर दोऊ।
बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।।

"जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले"—की कहावत बड़ी प्रसिद्ध है। मानो यह पंक्ति स्वयं उस रूप में नहीं लिखी गई है कि

जैसे कोई हिन्दी की महिमा का प्रतिपादन अंग्रेजी में करते हुए उसके उपयोग पर बल दे। जब इस प्रकार की चेष्टाएँ की जाती हैं तब वे हास्यास्पद सी प्रतीत होती हैं। गोस्वामी जी के वाक्य की प्रामाणिकता, मधुर और मनोहर शब्द भी सिद्ध कर रहे हैं। मधुर और मनोहर दोनों शब्दों में 'रकार' और 'मकार' की उपस्थिति ही इनकी मधुरता का स्वयं सिद्ध प्रमाण है। ज्ञानियों का ब्रह्म, भक्तों का प्रेम और धार्मिकों का धर्म मानो वेदों के काण्ड-त्रय के प्रतीक हैं और इन तीनों के प्रतिपाद्य में 'रकार', 'मकार' की उपस्थिति इस वर्ण की दिव्यता को प्रमाणित करती है। एक भक्त ने बड़ी मधुर युक्ति प्रस्तुत की। आम्र में इतनी मिठास क्यों है? क्योंकि उसमें रकार, मकार विद्यमान हैं। मार की विश्व-सम्मोहकता का कारण भी 'रकार', 'मकार' की उपस्थिति ही है। यह राम नाम परम मंगलकारी है। मंगलकारी में भी 'रकार' और 'मकार' विद्यमान हैं। गोस्वामी जी से किसी ने तर्क करते हुए पूछा, क्या प्रभु के सभी नाम समान नहीं हैं? गोस्वामी जी ने उत्तर देते हुए कहा, यद्यपि शरीर की सारी इन्द्रियाँ महत्त्वपूर्ण हैं और व्यक्ति सभी इन्द्रियों से प्रेम करता है, फिर भी उनमें एक तारतम्य तो है ही। सभी इन्द्रियों के समान होते हुए भी साहित्य में नेत्रों को जो महत्त्व उपलब्ध है वह अन्य इन्द्रियों को नहीं। यद्यपि वर्णमाला के सभी अक्षर समान हैं फिर 'र' और 'म' उसके दो दिव्य नेत्र हैं। "बरन विलोचन जन जिय जोऊ" में वे इसी भाव की ओर इङ्गित करते हैं। जैसे दोनों नेत्रों के मध्य में नासिका का नन्हाँ सा व्यवधान है, उसी प्रकार वर्णमाला में 'म' और 'र' के मध्य में 'य' की उपस्थिति है। वर्णों की समानताके साथ 'रकार', 'मकार' की विलक्षणता के लिए वे एक तर्क और प्रस्तुत करते हैं। अन्य व्यक्तियों की ही भाँति राजा भी एक साधारण व्यक्ति ही प्रतीत होता है, किन्तु छत्र और मुकुट धारण करते ही वह विश्व-वंद्य बन जाता है। वर्णमाला में 'रकार' और 'मकार' को ही शब्द संरचना में उच्च स्थान प्राप्त होता है। अन्य वर्ण जहाँ बगल में अथवा नीचे जोड़े जाते हैं वहाँ 'र' और 'म' छत्र और मुकुट की भाँति शीर्ष भाग में सुशोभित होते हैं। धर्म, सर्वस्व, उत्सर्ग, मर्म, आदि में रकार की यह विलक्षणता

दर्शनीय है और 'म' भी अनुस्वार बनकर मुकुटमणि के समान शोभा बढ़ाते हैं। किन्तु यहाँ विलक्षणता यह है कि जहाँ राजा स्वयं को वन्दनीय बनाता है वहाँ छत्र और मुकुट को जो सिर पर धारण कर ले वही राजा के रूप में विश्व-वंद्य बन जाता है। प्रभु का मंगलमय राम नाम भी धारण करने वाले को पूज्य बना देता है।

एक छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥

अन्य नाम जहाँ केवल सगुण बोधक हैं—अतः एकाङ्गी हैं; वहाँ राम-नाम अपनी समग्रता के कारण निर्गुण और सगुण दोनों का ही बोधक है। इसीलिए सगुण साकार परम्परा के भक्तों की ही भाँति निर्गुण निराकारवादी संत परम्परा में भी राम नाम की ही सर्वाधिक महिमा है। इसीलिए तुलसी और कबीर दोनों ही इस राम नाम की महिमा का गायन करते हैं।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

लगता है राम नाम की इस व्यापकता के कारण ही मीरा और सूर ने भी—जो मुख्यतः कृष्णोपासक हैं; इस नाम की मिठास का अनुभव करके राम नाम के गुणों के गीत गाए। नन्ददास के "राम-कृष्ण कहिए उठि भोर" में भी राम नाम की स्मृति आ जाती है। सूर, श्याम के रंग में रंगे हुए होने पर भी नाम महिमा के अवसर पर बहुधा राम नाम के माहात्म्य प्रतिपादक पदों का गायन करते हैं।

जो तू राम नाम चित धरतौ।
अबको जन्म आगिलो तेरो दोऊ जन्म सुधरतौ॥
जमको त्रास सबै मिटि जातो, भक्त नाम तेरो परतौ।
तंदुल घिरत सँवारि श्याम को संत परोसो करतौ॥
होतो नफा साधु की संगति मूल गाँठते टरतौ।
'सूरदास' बैकुंठ पैंठ में कोऊ न फैंट पकरतौ॥

*   *   *   *

जो पै राम नाम धन धरतो।
टरतौ नहीं जनम जनमान्तर कहा राज जम करतो॥

मीरा तो गिरधर साँवरे के रंग में रंगी हुई हैं। पर लगता है प्रभु के अनेक नामों में राम नाम में ही उनकी आसक्ति सर्वाधिक है।

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा कर अपनायो।।
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लैवै, दिन दिन वढ़त सवायो।।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो।।

* * * *

मेरो मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।।

* * * *

लेताँ लेताँ राम नाम रे
लोकड़ियाँ तो लाजाँ मरे छै।

* * * *

राम नाम रस पीजै, मनुआँ राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सत्संग बैठ नित हरि चर्चा सुनि लीजै।।

एकाक्षर ब्रह्म के रूप में प्रणव (ॐ) का उल्लेख किया गया है। सृष्टि का आदि शब्द यही है; किन्तु उसमें अधिकार, अनधिकार का प्रश्न उठाया जाता है। प्रणव का उच्चारण कब, कहाँ और किसके द्वारा किया जाना चाहिए, इस पर वहुत कुछ लिखा जा चुका है। लगता है प्रणव ब्रह्मलोक की वस्तु है, जहाँ अधिकारी का ही प्रवेश हो सकता है। किन्तु लोक की ऊँचाइयों से उतरकर मर्त्यभूमि को धन्य करने वाले ब्रह्म के लिए प्रणव उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकता था; क्योंकि यहाँ अधिकार का स्थान कृपा और करुणा ने ले लिया है। यह अवतार तो अनधिकारियों को अधिकारी बनाकर, पतितों को भी पावन करने का व्रत लेकर आया था। इसलिए उसके लिए एक ऐसे नाम की अपेक्षा थी, जहाँ देश, काल और व्यक्ति के अधिकार का प्रश्न न हो। इस दृष्टि से एकमात्र उपयुक्त नाम केवल "राम" है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति हर क्षण चाहे जहाँ ले सकता है।

भाँय कुभाँय अनख आलसहू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥

प्रणव के उच्चारण के लिए स्वर के संतुलन और उसके उतार-चढ़ाव का ज्ञान अपेक्षित है। वह ज्ञानी और विद्वानों की थाती है। किन्तु श्रीराम का यह पावन नाम तो उल्टा उच्चारण करने पर भी फलदायी है।

उल्टा नाम जपत जग जाना।
वालमीकि भें ब्रह्म समाना॥

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में हिंसक दस्यु थे। महात्माओं के संग से उनके अन्तःकरण में अपने जीवन के प्रति ग्लानि का उदय हुआ। उन्होंने मुनियों के उपदेश से राम-मंत्र का जप प्रारम्भ किया; किन्तु वे राम के स्थान पर 'मरा' शब्द का उच्चारण करते रहे और उसी नाम के दिव्य प्रभाव से विश्व-वंद्य वाल्मीकि वन गए। कई लोगों को इस प्रकार की कथाएँ सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। ऐसे दृष्टान्तों को वे अंध-विश्वास उत्पन्न करने वाला मानकर, उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु यह उतना असंगत नहीं है, जितना हल्की दृष्टि से हर घटना को देखने वाले तथा-कथित बुद्धिवादी इसे मान बैठे। लोक व्यवहार को सजगता से देखने वाले एक साधारण व्यक्ति को भी इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए, पांडित्य की प्रशंसा पाने के लिए--शुद्ध उच्चारण एक आवश्यक गुण है। एक विद्वान वक्ता का व्याख्यान सुनते हुए श्रोता उसकी प्राञ्जल भाषा और शुद्ध उच्चारण के लिए प्रशसा करते हैं; किन्तु जीवन का समग्र सत्य यही नहीं है। इसे हम एक नन्हें शिशु और माँ के वार्तालाप में नित्य देखते रहते हैं। एक नन्हाँ वालक न तो सम्वन्धों का शुद्ध उच्चारण कर सकता है और न तो वस्तुओं का शुद्ध नाम ही ले पाना उसके लिए सम्भव है। किन्तु उसकी वात्सल्यमयी माँ अशुद्ध उच्चारण पर भी आह्लादित होती है; तोतली वाणी में माँगे गए पदार्थ को स्नेह भरे हृदय से वालक के हाथों में थमा देती है। विद्यालय में शब्दों का शुद्ध उच्चारण हमें परीक्षा में भले ही उत्तीर्ण करा दे, किन्तु

वह शुद्ध उच्चारण वस्तुतः वस्तु की उपलब्धि नहीं कराता है। वाल्मीकि की गाथा उन्हें ही हास्यास्पद प्रतीत होती है जो जीवन में वात्सल्य से परिचित नहीं हैं। भक्तों की दृष्टि में राम नाम केवल एक शब्द मात्र नहीं है——वह अनन्त वात्सल्यमय प्रभु का नाम है। जब असमर्थता की अनुभूति से भरा हुआ शिशु-साधक उसे पुकारता है तब वह शब्द के शुद्ध उच्चारण को नहीं, अपितु भावना भरी पुकार को सुनता है। वाल्मीकि के व्यथा और विपन्नता से भरे हुए, द्रवित हृदय से जब 'मरा' शब्द निकलता है; तब ईश्वर को उसका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह स्नेहमयी माँ के समान उन्हें हृदय से लगा लेता है और उन्हें तद्‌रूप बना लेता है। इस कथा का तात्पर्य उल्टे उच्चारण का प्रचार करना नहीं हो सकता है। वाल्मीकि के समान असमर्थता और शिशुता की भावना से भरा हुआ हृदय प्रत्येक व्यक्ति का नहीं हो सकता। इसीलिए वाल्मीकि जी के जीवन का सत्य, प्रत्येक साधक के जीवन का सत्य नहीं है। इसके द्वारा यह प्रेरणा अवश्य प्राप्त होती है कि स्नेह भरे हृदय से पुकारा गया प्रभु का मङ्गलमय यह नाम ह ारे अन्तःकरण को भगवन्मय बना सकता है। अपनी मधुरता, सुगमता और सार्वजनीनता की दृष्टि से यह नाम सचमुच ही अद्वितीय सिद्ध होता है। अतः नामकरण करते हुए प्रभु के अनन्त नामों में उन्होंने यदि राम नाम का चुनाव किया तो इसे सर्वथा उपयुक्त ही कहा जा सकता है। स्वयं गुरु वशिष्ठ के द्वारा भी इस नाम की बड़ी विलक्षण व्याख्या की गई है। उनकी शब्द-योजना पर विचार करें। उन्होंने आनन्द, सुख और सुपास इन तीन शब्दों का प्रयोग प्रथम पंक्ति में किया।

जो आनंद सिंधु सुख रासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।

राम नाम आनन्द का सिन्धु और सुख की राशि है। भाषा-शास्त्र के प्रचलित प्रयोग में हम इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानने के अभ्यस्त हैं; किन्तु गोस्वामी जी इस प्रसङ्ग में इन दोनों के भिन्न अर्थ की ओर इङ्गित करते हैं। आनन्द निरपेक्षता का प्रतीक है, वह किसी का प्रतिद्वन्द्वी न होकर सहज एक रस स्थिति का परिचायक

है। किन्तु सुख सापेक्ष शब्द है। उसका प्रतिद्वन्द्वी दुःख है। जीवन के द्वन्द्व में सुख-दुख चक्राकार गति से आते रहते हैं। अतः सुख उस द्वन्द्व का एक अङ्ग है।

दुख-सुख, पाप-पुन्य, दिन-राती।
साधु-असाधु, कुजाति-सुजाती।।

आनन्द का सम्बन्ध अपने अन्तर्हृदय से है और सुख में वहिरङ्ग वस्तुओं का संस्पर्श सम्मिलित है। किन्तु जव ईश्वर में आनन्द और सुख दोनों की उपस्थिति का संकेत किया जाय, तव उसका तात्पर्य तात्त्विक दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। आनन्द ब्रह्म की अद्वैत स्थिति का परिचायक है। वह आनन्द-सिन्धु है; किन्तु सृष्टि-रचना के लिए जव ब्रह्म माया का आश्रय लेकर द्वन्द्वमयी जगती का निर्माण करता है, तव उसके लिए सुख-राशि शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। इसे यों भी कह सकते हैं कि आनन्द-सिन्धु शब्द यदि निर्गुण रूप का प्रतिपादक है, तो सुख-राशि में उसके सगुण साकार माया-नाथ रूप का दर्शन होता है। रूप की ही भाँति नाम की भी व्याख्या अगुण-सगुण दोनों रूपों में की गई है। नाम-वन्दना प्रसङ्ग में गोस्वामी जी नाम के इन दोनों अरूप-रूपों की ओर इङ्गित करते हैं।

विधि हरि हर मय वेद प्रान सो।
अगुन अनूपम गुन निधान सो।।

राम नाम अक्षर तत्त्व के रूप में साक्षात् अगुण ब्रह्म है। जव तक वह उच्चारण की सीमाओं में न आकर शुद्ध ज्ञान रूप में विद्यमान है, तव तक वह गुणातीत है; किन्तु लोक व्यवहार में उस ज्ञान के अभिव्यक्त होते ही उसका स्वरूप निर्गुण से सगुण हो जाता है। राम शब्द के उच्चारण के लिए कण्ठ, तालु आदि के संस्पर्श की आवश्यकता है और उच्चारण के वाद यदि उसे कागज पर आकृति प्रदान की जाय तो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्रदत्त की गई आकृति सर्वथा भिन्न होगी। जिस तरह निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर स्वयं को अनेक रूपों में व्यक्त करता है, इसी प्रकार साक्षात् ज्ञानमय नाम भी कण्ठ, भाषा आदि के पार्थक्य से उच्चारण और लेखनी में विविध रूप धारण कर लेता है। आनन्द-सिन्धु से जहाँ एक अखण्ड अद्वैत तत्त्व

का बोध होता है, वहाँ सुख-राशि में सुख के साथ जिस राशि (समूह) शब्द का प्रयोग किया गया है, वह विविधता का भी परिचायक है। जैसे यदि एक मात्र रस शब्द का प्रयोग करें तो उसमें विभाजन का कोई बोध नहीं होता, किन्तु साहित्य या भोजन में वही रस नव ग्रथवा षट् रूप धारण कर लेता है। ठीक इसी प्रकार एक ग्रानन्द तत्त्व विविध वस्तुग्रों के माध्यम से प्रगट होने पर सुख का रूप ग्रहण कर लेता है। इस तरह एक ग्रौर ग्रनेक के रूप में, यह नाम तत्त्व ग्रानन्द का प्रकाशक ग्रौर सुख का वितरक दोनों ही हैं। नाम-स्मरण करते हुए साधक दो भिन्न प्रकार की स्थितियों का ग्रनुभव करता है। निरन्तर नाम की ग्रावृति से एकाग्रता का उदय होता है। ग्रतः जिन लोगों की दृष्टि नाम के निर्गुण रूप पर है, वे एकाग्रता के माध्यम से ग्रानन्द में स्थित हो जाते हैं; किन्तु जिन भक्तों को नाम में ग्रगुणता ग्रौर सगुणता दोनों का बोध होता है, वे एकाग्रता के ग्रानन्द के साथ-साथ एक भिन्न सुख का भी ग्रनुभव करते रहते हैं। सगुण साकार रूप में नाम को स्वीकार करने पर, जब भक्त राम शब्द के ग्रर्थ का चिन्तन करता है तब उस ग्रर्थ में दशरथनन्दन राम की ग्रनुभूति होने से नाम के साथ रूप ग्रौर लीला की स्मृति ग्राना स्वाभाविक है। ग्रौर तब लीला-रस की विविधता से उसे एक विलक्षण सुख की उपलब्धि होती रहती है। ग्रतः निर्गुण निराकारवादी संतों का राम नाम जहाँ ग्रानन्दस्वरूप है, वहाँ भक्तों के राम नाम में ग्रानन्द ग्रौर सुख दोनों का प्रकाश है; क्योंकि राम नाम में ग्रानन्द ग्रौर सुख दोनों विद्यमान हैं। ग्रतः भक्त एकाग्रता ग्रौर लीला-रस के रूप में दुहरे लाभ का भागी बनता है।

ग्रानन्द ग्रौर सुख के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ एक दृष्टांत देना उपयुक्त होगा। मन्थरा द्वारा प्रभावित कैकेयी ग्रम्बा महाराज श्रीदशरथ से श्रीभरत के राज्याभिषेक ग्रौर श्रीरामभद्र के वनगमन का वरदान माँगती हैं। महाराज श्रीदशरथ उन्हें मनाने की चेष्टा में पूरी तरह विफल होकर मूर्छित हो जाते हैं। प्रातःकाल महाराज-श्री को ग्रपने बीच न पाकर पुरवासी सुमंत से ग्रनुरोध करते हैं कि वे जाकर सम्राट को जगावें। सुमंत राज-भवन में महाराज की

दशा देखकर व्याकुल हो जाते हैं। महारानी कैकेयी से जिज्ञासा प्रगट करने पर वे आदेश देती हैं कि आप जाकर पहिले श्रीरामभद्र को ले आवें। इसके पश्चात् स्वयं ही आपको प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जायेगा। सुमंत श्रीरामभद्र को लेकर आते हैं। प्रभु ने कैकेयी अम्बा से पिताश्री की पीड़ा का कारण पूछा। कैकेयी जी ने वड़ी आडम्बरयुक्त भूमिका के वाद श्रीराघवेन्द्र के समक्ष वस्तु सत्य का उद्घाटन किया। उन्हें आशा थी कि उनके द्वारा माँगे हुए वरदानों को सुनकर राम स्तब्ध हो जायेंगे; किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि श्रीराघवेन्द्र के मुख पर प्रसन्नता थिरक उठी। कैकेयी सोच ही नहीं पातीं कि राज्य छिन जाने और वन-गमन की वात सुनकर कोई व्यक्ति प्रसन्न हो सकता है? उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि श्रीरामभद्र की प्रसन्नता के लिए किसी वाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है। उनका तो स्वरूप ही आनन्दमय है। उनका आनन्द निरपेक्ष और सहज है। इसीलिए वहाँ गोस्वामी जी ने—"राम सहज आनंद निधानू" के रूप में स्मरण किया। उस मार्मिक प्रसङ्ग का चित्र गोस्वामी जी ने इस रूप में प्रस्तुत किया है।

जाइ दीख रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराजु।।

सूखहिं अधर जरइ सबु अंगू।
मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू।।
सरुष समीप दीखि कैकेई।
मानहुँ मीचु घरी गनि लेई।।
करुनामय मृदु राम सुभाऊ।
प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ।।
तदपि धीर धरि समउ विचारी।
पूँछी मधुर वचन महतारी।।
मोहि कहु मातु तात दुख कारन।
करिअ जतन जेहिं होइ निवारन।।
सुनहु राम सबु कारनु एहू।
राजहि तुम्ह पर वहुत सनेहू।।

देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना
मागेउँ जो कछु मोहि सोहाना ।
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू।
छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू ।।
सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु ।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु ।।
निधरक बैठि कहइ कटु बानी ।
सुनत कठिनता अति अकुलानी ।।
जीभ कमान बचन सर नाना ।
मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना ।।
जनु कठोरपन धरें सरीरू ।
सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू ।।
सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई ।
बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ।।
मन मुसुकाइ भानुकुल भानू ।
रामु सहज आनंद निधानू ।।

प्रभु सहर्ष वन जाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। श्रीसीता और लक्ष्मण भी प्रभु के साथ जाने का आग्रह करते हैं, क्योंकि उन दोनों का यह दृढ़ निश्चय है कि समग्र सुख प्रभु के सामीप्य में ही है।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे ।
सरद बिमल बिधु बदन निहारे ।।

सहजानंदमय श्रीराघवेन्द्र सर्वथा निरपेक्ष हैं, किन्तु भक्तों के लिए वे समस्त सुखों के केन्द्र हैं। प्रभु, वन में दोनों को ले जाने के लिए बाध्य होते हैं और वहाँ उनकी समस्त चेष्टाएँ श्रीलक्ष्मण और श्रीसीता को सुखी करने के लिए होती हैं।

सीय लषन जेहि बिधि सुख लहहीं ।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ।।

इस तरह आनन्दमय प्रभु के द्वारा भक्तों को निरन्तर सुख वितरित किया जाता है। भगवन् नाम का भी स्वरूप यही है। इसीलिए गुरु वशिष्ठ ने नाम की व्याख्या करते हुए कहा—जो

आनन्द का समुद्र और सुख की राशि है, वह अपने स्वरूप समुद्र के बिन्दु मात्र से समस्त सृष्टि को सुखी बना देता है। ब्रह्म अनन्त है और यही नाम का भी स्वरूप है। व्यक्ति में सुख-ग्रहण के सामर्थ्य की एक सीमा है। उसने सुख की जो परिभाषाएँ मान रखी हैं वे सर्वथा ससीम हैं। इसलिए अनन्त ब्रह्म के आनन्द का एक कण ही उसके लिए यथेष्ट है। बहुधा संसार के अधिकांश व्यक्ति जब ईश्वर के नाम का आश्रय लेते हैं, तब वे नाम से जिन वस्तुओं की कामना करते हैं, वे इतनी साधारण हैं कि नाम के अनन्त आनन्द के कण मात्र से ही वे पूर्ण हो सकती हैं। किन्तु धन्य हैं वे जो नाम से किसी वस्तु की याचना न करके उस नाम से ही स्वयं को एकाकार कर देते हैं। वे सीकर से सन्तुष्ट न होकर समुद्र की चाह करने वाले हैं।

गुरु वशिष्ठ ने प्रथम पंक्ति में आनन्द-सिन्धु और सुख-राशि शब्द का प्रयोग करने के बाद, द्वितीय पंक्ति में पुनः सुख की पुनरावृत्ति की।

सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक विश्रामा।।

इस तरह 'आनन्द-सिन्धु, सुख-रासी, त्रैलोक्य सुपासी, सुख-धाम और अखिल लोकदायक विश्राम' के रूप में नाम के पाँच गुणों की चर्चा की गई। इनमें सुख शब्द की दो बार आवृत्ति की गई। प्रथम पंक्ति में सुख की राशि के रूप में कल्पना की गई और दूसरे में धाम के रूप में। लगता है व्यक्ति को जीवन में जिन वस्तुओं की अपेक्षा है, उन सारी वस्तुओं के रूप मे यहाँ राम नाम को प्रस्तुत किया गया। एक व्यक्ति को रहने के लिए घर चाहिए, घर में सुविधा की समग्र सामग्री अपेक्षित है। पीने के लिए जल और भोजन के लिए अन्न की आवश्यकता है। कर्म करने के बाद श्रमित व्यक्ति जिस विश्राम की अपेक्षा करता है, उपर्युक्त चारों वस्तुएँ इसी की प्रतीक हैं। गुरु वशिष्ठ इन पाँचों को नाम की विशेषताओं में प्रस्तुत करते हैं। प्यास लगे तो 'आनन्द-सिन्धु' का जल पियें, भूख लगे तो 'सुख-राशि' से तृप्त हों, वस्त्र आदि अन्य सुविधाओं की अपेक्षा हो तो 'त्रैलोक्य-सुपासी' से उन्हें माँग लें, निवास के लिए गृह की आवश्यकता हो

तो 'सुख-धाम' में निवास करें और इस आनन्द और सुख के वातावरण में 'विश्राम' की उपलब्धि स्वाभाविक ही है। अतः अंत में 'अखिल लोकदायक विश्रामा' से नाम माहात्म्य का उपसंहार किया गया है।

सुख की दो बार पुनरावृत्ति ःत् किञ्चित् भिन्नता लिए हुए है। प्रथम अर्धाली में सुख के साथ 'रासी' शब्द का प्रयोग किया गया है और द्वितीय अर्धाली में सुख को धाम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मानसिक और शारीरिक दो प्रकार की सुखानुभूतियों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। धाम यदि शारीरिक सुरक्षा के लिए अपेक्षित है तो राशि मानसिक तृप्ति के लिए आवश्यक है। राशि का अर्थ है—समूह। मनुष्य की शारीरिक तृप्ति के लिए वस्तु की सीमित आवश्यकता है। यदि किसी व्यक्ति के सामने सैकड़ों मन अन्न की राशि एकत्र कर दी जाय; तब भी वह शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसमें से एक अत्यल्प भाग ग्रहण करेगा। फिर भी यदि व्यक्ति अन्न-राशि अथवा धन-राशि देखकर सुखी होता है तो इसका एकमात्र कारण उसकी मानसिक लालसा है। मन को आवश्यक वस्तु से नहीं अपितु वस्तु की वृहत्ता और राशि देखकर प्रसन्नता होती है। इस तरह नामकरण के अवसर पर इन शब्दों के माध्यम से गुरु वशिष्ठ ने नाम की व्यापक महिमा की ओर इङ्गित किया।

गुरु वशिष्ठ ने प्रथम बालक का नामकरण करने के पश्चात् द्वितीय बालक की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देखकर कहना प्रारम्भ किया—"यह विश्व का भरण-पोषण करने वाला है, अतः इस बालक का नाम भरत होगा।"

विस्व भरन पोषन कर जोई।
ताकर नाम भरत अस होई।।

केवल बहिरङ्ग दृष्टि से विचार करने पर इस पंक्ति की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। अन्तरङ्ग अर्थ में पैठकर ही 'विश्व भरन पोषन' का सच्चा तात्पर्य हृदयङ्गम किया जा सकता है। भरण-पोषण का साधारण अर्थ है, अन्न वस्त्रादि के द्वारा शरीर का संरक्षण। शरीर के वाह्य संरक्षण के लिए वस्त्र की अपेक्षा है तथा देह की पुष्टि

के लिए भोजन की। इन दोनों संरक्षणों को दृष्टिगत रखकर 'भरण-पोषण' शब्द का निर्माण किया गया है। वास्तव में श्रीभरत के द्वारा विश्व के आन्तरिक जीवन का भरण-पोषण होता है। शरीर के वाह्य संरक्षण के लिए जैसे वस्त्र की अपेक्षा है, उसी तरह से हमारे नग्न मन के लिए भी विशिष्ट प्रकार का वस्त्र चाहिए। गोस्वामी जी उसकी तुलना करते हुए कहते हैं कि––

साधु चरित सुभ सरिस कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू।।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
बंदनीय जग जेहि जस पावा।।

वस्त्र-निर्माण के लिए कपास की आवश्यकता है। यहाँ साधु चरित्र की तुलना कपास से की गई है। कपास जितना श्रेष्ठ होगा उससे उतने ही उत्कृष्ट वस्त्र की रचना होगी। कपास से अच्छे धागे के निर्माण के लिए उसे शुष्क (सूखा हुआ) होना चाहिए। धागे से निर्मित वस्त्र की उज्ज्वलता के लिए कपास का रंग भी श्वेत होना चाहिए। साधु चरित्र रूप कपास में यह दोनों गुण विद्यमान हैं। वासनाओं का अभाव होने के कारण संत का चरित्र वैराग्य की शुष्कता से नीरस प्रतीत होता है। कपास की स्वच्छता में संत के चरित्र की उज्ज्वलता और सात्विकता की ओर संकेत है। श्रीभरत के चरित्र में साधुता के सारे गुण विद्यमान हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि श्रीभरत रामायण के सर्वश्रेष्ठ साधु हैं। महर्षि भरद्वाज ने उन्हें "सब बिधि साधु" की उपाधि से अलंकृत किया।

तात भरत तुम सब विधि साधू।
राम चरन अनुराग अगाधू।।

'साधु' और 'सब बिधि साधु' इन दोनों शब्दों में पार्थक्य है। साधुता के समग्र गुण बहुधा एक ही व्यक्ति में विद्यमान नहीं होते। ऐसे महापुरुषों को जिनके चरित्र में साधुता के केवल कुछ ही अंश विद्यमान हैं, उन्हें हम साधु तो कह सकते हैं; पर 'सब बिधि साधु' स्वीकार करना सम्भव नहीं है। मानस में इसे अन्यत्र संत और विशुद्ध संत के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।
चितवहिं राम कृपा कर जेही।।

यह 'विशुद्ध संत' ही 'सब बिधि साधु' का पर्यायवाची है। भौतिक दृष्टान्त के रूप में हम स्वर्ण का उदाहरण ले सकते हैं। स्वर्ण और विशुद्ध स्वर्ण में जो भेद है, वही संत और विशुद्ध संत में विद्यमान है। स्वर्ण में जब किसी अन्य धातु का मिश्रण कर दिया जाता है, तब उसे स्वर्ण तो कहा जा सकता है, पर विशुद्ध स्वर्ण नहीं। स्वर्ण में मिलावट का उपयोग ग्राहक को ठगने के लिए भी किया जा सकता है। उसका एक उद्देश्य हो सकता है, साधारण मूल्य की धातु का मूल्यवान स्वर्ण के भाव में विक्रय। किन्तु मिलावट का उद्देश्य सदा ठगना ही नहीं होता है। कभी-कभी उसका सम्बन्ध आभूषण निर्माण की प्रक्रिया से होता है। शुद्ध स्वर्ण अत्यन्त कोमल होता है। ऐसी स्थिति में स्वर्णकार उसमें अपनी समग्र कला का प्रदर्शन नहीं कर सकता है। चाँदी या ताँबे जैसी धातुओं को मिला देने पर स्वर्ण में कुछ कठोरता आ जाती है और तब स्वर्णकार के लिए अपनी सूक्ष्म से सूक्ष्म आभूषण निर्माण की कला का प्रदर्शन करने में सुविधा हो जाती है। संत के जीवन की प्रक्रिया को भी हम स्वर्ण के माध्यम से समझ सकते हैं। स्वर्ण में मिलावट का प्रथम उद्देश्य (ठगी) तो संत के जीवन में हो ही नहीं सकता है। यदि व्यक्ति में प्रवञ्चना की यह वृत्ति विद्यमान हो तो उसे संत कहना उचित न होगा। किन्तु स्वर्णकार के ही समान ऐसे भी संत होते हैं जो लोकमंगल की भावना से मिश्रित वृत्ति स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें लगता है कि लोककल्याण के लिए साधुता के साथ-साथ व्यावहारिक बुद्धिमत्ता भी आवश्यक है। स्वभावत: ऐसे संत लोक व्यवहार की पटुता से समाज में अधिक उपयोगी और सम्मान्य सिद्ध हो सकते हैं; किन्तु यह सम्भावना हो सकती है कि इसमें लोक-कल्याण के साथसाथ बीज के रूप में लोकैषणा की वासना भी विद्यमान हो। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के महापुरुषों को संत तो स्वीकार करना ही होगा; किन्तु उन्हें विशुद्ध संत की उपाधि नहीं दी जा सकती। विशुद्ध संत में लोककल्याण की वृत्ति भी विद्यमान नहीं होती; क्योंकि वह सात्विक अहङ्कार

की प्रवृत्ति से भी मुक्त हो चुका होता है। उसकी मान्यता यह होती है कि लोककल्याण का भार ईश्वर पर है और उसी के लिए यह सम्भव भी है। ऐसे संत के जीवन में बुद्धिजन्य प्रयास का सर्वथा अभाव रहता है। वह तो सहजता की वृत्ति से ही परिचालित होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे संतों के द्वारा लोककल्याण नहीं होता या व्यावहारिक दृष्टि से उनका व्यवहार असंगत ही होता है। ऐसे संतों में लोककल्याण और व्यावहारिकता का दर्शन भी दूसरों को हो सकता है; किन्तु इसमें संत का कोई बुद्धिजन्य प्रयास अथवा पुरुषार्थ नहीं होता। ऐसे संत का मन, प्राण सभी ईश्वर से एकाकार हो जाता है। इस प्रकार के महापुरुषों को ही विशुद्ध संत की उपाधि हम दे सकते हैं। प्रेम-मूर्ति श्रीभरत के लिए विशुद्ध संत की उपाधि सर्वथा सार्थक है। महर्षि भरद्वाज को हम संत कह सकते हैं। जब उन्होंने श्रीभरत को 'सब विधि साधु' कहकर पुकारा तब इसके पीछे उनकी जो भावना थी, उसे महर्षि भरद्वाज और श्रीभरत के संवाद के माध्यम से समझा जा सकता है।

प्रेम-मूर्ति श्रीभरत महर्षि भरद्वाज के आश्रम में प्रविष्ट होकर मुनि के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। महर्षि ने उन्हें बैठने के लिए आसन प्रदान किया। आज्ञा पालन के लिए श्रीभरत उस आसन पर बैठ तो जाते हैं; किन्तु वे लज्जा और संकोच से इस प्रकार झुके जा रहे थे जैसे कोई संकोच के घर में छिप जाना चाहता हो। महर्षि भरद्वाज श्रीभरत का शील और उनकी नम्रता देखकर चकित रह गए। उन्हें स्मरण हो आया उस रात्रि का, जब भगवान श्रीराम ने इस आश्रम में निवास किया था। भरद्वाज ने अपनी कुटिया से सटी हुई पर्णशाला में ही प्रभु के विश्राम की व्यवस्था की थी। रात्रि के समय तीनों विलक्षण पथिकों की प्रेममयी वार्त्ता सुनने का लोभ वे संवरण नहीं कर पाए। किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ा कि सारी रात्रि केवल एक ही वार्त्ता में व्यतीत हो गई। उस वार्त्ता के एकमात्र विषय थे श्रीभरत और उनका पावन प्रेम।

लषन राम सीतहिं अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥

इस पंक्ति के माध्यम से महर्षि ने उसी रात्रि का संस्मरण श्रीभरत को सुनाया था। किन्तु आसन पर आसीन लज्जा, ग्लानि और संकोच में गड़े हुए श्रीभरत को देखकर, यह विश्वास करना भी कठिन प्रतीत होता है कि यही वे भरत हैं, जिनका नाम स्मरण करते ही प्रभु पुलकित हो जाते हैं, शरीर की सुधि-बुधि जाती रहती है। त्रिवेणी-सङ्गम पर स्नान करते हुए भी प्रभु जिनके गुणों का स्मरण कर प्रयाग की पावनता को भी विस्मृत कर देते हैं।

जाना मरम नहात प्रयागा।
मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा।।

किन्तु हठात् महर्षि के सामने मानो सारा रहस्य स्पष्ट हो गया। श्रीराम के वन-गमन का वास्तविक कारण समझने में कोई कठिनाई शेष न रही। उन्हें लगा, प्रभु ने मुझ जैसे साधकों पर कृपा करने के लिए ही यह लीला की है। हम जैसे लोग जो तपस्या साधना आदि के द्वारा स्वयं को सच्चा साधु मान बैठे हैं, उन्हें पूर्ण संतत्व की साकार प्रतिमा श्रीभरत का दर्शन करना ही अभीष्ट है। तभी उनके मुख से निकल पड़ा——

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेस।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यहि समय गनेस।।

उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि सारे विश्व के समस्त साधकों की अतृप्त आकांक्षा आज पूर्ण होने जा रही है। संसार के साधारण जीव अपने मन को विषय रस से तृप्त करना चाहते हैं, भले ही उसका परिणाम भीषण मानसिक रोगों की सृष्टि हो। पर साधु और साधक जिस रस से तुष्टि और पुष्टि का अनुभव करते हैं; जिस रस से उन्हें सच्ची तृप्ति का बोध होता है; वह है——श्रीराम प्रेम। आज वह प्रेम, विशुद्ध संत श्रीभरत के द्वारा वितरित किया जा रहा है; किन्तु वितरण करने वाले को स्वयं ही यह भान नहीं है कि वह कोटि-कोटि साधकों को प्रेमामृत देकर तृप्त कर सकता है। महर्षि भरद्वाज ने सारे राम भक्तों को सहर्ष आमंत्रित किया कि वे आकर अमृत का पान करें और अनन्त तृप्ति का अनुभव करें।

राम भगत अव अमिअ अघाहू ।
कीन्हेउ सुलभ सुधा वसुधाहू ।।

विशुद्ध संत श्रीभरत का चरित्र कपास की ही तरह नीरस भी है। वहाँ सांसारिक विषयासक्ति का सर्वथा अभाव है, उनका वैराग्य अतुलनीय है और चरित्र कपास के समान इतना उज्ज्वल है कि उसकी उज्ज्वलता के लिए इस चन्द्र की उपमा भी सार्थक सिद्ध नहीं है। महर्षि भरद्वाज उसकी तुलना के लिए एक नवीन चन्द्र की सृष्टि करते हैं। यह उज्ज्वल चन्द्र जिसमें मलिनता का सर्वथा अभाव है, जिसमें उदय के साथ अस्त होने का भय नहीं है, जो प्रतिक्षण वर्धमान है, जिसे राहु ग्रस नहीं सकता, ऐसे दिव्य चन्द्र से ही श्रीभरत के यश की तुलना की जा सकती है। क्योंकि श्रीभरत का पावन चरित्र इन सभी दोषों से मुक्त है।

नव विधु विमल तात जसु तोरा।
रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।।
उदित सदा अँथइहि कवहूँ ना।
घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना।।
कोक बिलोक प्रीति अति करिही।
प्रभु प्रताप रवि छविहि न हरिही।।
निसि दिन सुखद सदा सव काहू।
ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू।।
पूरन राम सुपेम पियूषा।
गुर अवमान दोष नहिं दूषा।।

श्रीभरत का उज्ज्वल चरित्र एक ओर कपास के समान सर्वथा नीरस है और दूसरी ओर चन्द्रमा के समान सरस। वैराग्य के कारण नीरस और रामप्रेम के कारण सरस है। अतः एक ओर यह विशुद्ध-चरित्र वस्त्र का रूप धारण कर व्यक्ति के छिद्रों को ढक देता है और दूसरी ओर अपने राम-प्रेम की सरसता के कारण भक्त के भावरस का पोषण करता है। इस तरह श्रीभरत के चरित्र में "भरण-पोषण" के दोनों गुण विद्यमान हैं। उन्होंने सर्वदा वस्त्र का रूप धारण करके दूसरे के दोषों को ढक दिया। यद्यपि उनका चरित्र सर्वथा निर्दोष है;

किन्तु अयोध्या में जो अनर्थ हुए उसका समस्त दोष वे स्वयं में ही आरोपित करते हैं। उन्हें लगता है यदि उनका जन्म न हुआ होता तो शायद अयोध्यावासियों के सामने यह समस्या आती ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टि में कैकेयी ने भी जो कुछ किया उसके पीछे भी उन्हें ही राज्य दिलाने की आकांक्षा थी। अतः वे एक वार स्वयं के द्वारा कैकेयी की आलोचना के लिए भी अपने को ही दोषी मानते रहे।

जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी।।
विनु समझे निज अघ परिपाकू।
जारेउँ जाइ जनन कहि काकू।।

यदि विश्व भरण-पोषण को वहिरङ्ग अर्थों में लेना चाहें, तो उसे राम-राज्य के संदर्भ में लिया जा सकता है। राजा का कर्त्तव्य प्रजा का भरण-पोषण है, पर अधिकांश राजा अपने इस कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। कैकेयी अम्वा द्वारा श्रीभरत के लिए राज्य का वरदान माँगे जाने पर, भगवान राम की प्रसन्नता का तात्पर्य इतना ही नहीं था कि राज्य उनके छोटे भाई को प्राप्त हो रहा था। यदि वे श्रीभरत में राजा के उपयुक्त गुणों का अभाव पाते तो कभी भी उनके राज्य का समर्थन नहीं करते; क्योंकि श्रीभरत के प्रति अनुराग के साथ, प्रजा के हित का संरक्षण भी उनका कर्त्तव्य था। किन्तु प्रभु की दृष्टि में राज्य-संचालन के लिए श्री भरत से अधिक उपयुक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं था। इसीलिए भगवान श्री राघवेन्द्र ने अपने विश्वास की घोषणा महर्षि वाल्मीकि से बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में की।

तात वचन पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु, सबु मम पुन्य प्रभाउ।।

चित्रकूट में तो शपथपूर्वक प्रभु ने श्रीभरत के समक्ष ही अपना यह निश्चय प्रगट किया--"भरत! मैं स्वभाव से ही सत्यवादी हूँ; फिर भी भगवान शिव की शपथ लेकर कहता हूँ कि यह पृथ्वी आपके द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है।"

कहहुँ सुभाव सत्य सिव साखी।
भरत भूमि रह राउरि राखी।।

राजा के जीवन में जब स्वार्थ और भोगलिप्सा का उदय है, तब वह शिव का संरक्षण करने के स्थान पर उनका शोषण करने वाला बन जाता है। प्राचीन इतिहास से लेकर वर्तमान काल तक ऐसे अनेक सत्ताधीश हुए हैं, जिन्होंने सद्‌गुणों के द्वारा सत्ता प्राप्त की और अन्त में सत्ता प्राप्त करते ही उन्मत्त होकर विषयोपभोग में लग गए। सेना सहित श्रीभरत के आगमन का समाचार सुनकर प्रेम-मूर्ति श्रीलक्ष्मण चकित हो गए। उन्हें लगा कि भरत सशस्त्र संघर्ष के लिए सेना लेकर आ रहे हैं। प्रारम्भ में वे इस कल्पना से ही मर्माहत हो गए कि श्रीभरत जैसा सद्‌गुण सम्पन्न व्यक्ति भी सत्ता पाते ही इतने निम्न धरातल पर उतर सकता है। पर बाद में उन्हें लगा, यह कोई ऐसी अभूतपूर्व घटना नहीं है कि जिसके लिए इतना क्षुब्ध हुआ जाय। सत्ता का सारा इतिहास ही ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। उन्हें इतिहास के एक के बाद दूसरे नामों का स्मरण आने लगा और प्रभु से वार्तालाप करते हुए प्राचीन इतिहास को दुहराने लगे।

भरतु नीति रत साधु सुजाना।
प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राज पदु पाई।
चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी।
जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू।
आए करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई।
आए दल बटोरि दोउ भाई॥
जौं जियँ होति न कपट कुचाली।
केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥
भरतहि दोसु देइ को जाएँ।
जग बौराइ राज पदु पाएँ॥
ससि गुर तिय गामी नहुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥

सहसवाहु सुरनाथु त्रिसंकु ।
केहि न राज़मद दीन्ह कलंकू ।।

भगवान राम ने भी राज-सत्ता से उत्पन्न होने वाले मद के विषय में श्रीलक्ष्मण की मान्यता का समर्थन किया; किन्तु श्रीभरत के जीवन में सत्ता का मद उत्पन्न हो सकता है, इसे उन्होंने ग्रस्वीकार कर दिया। प्रभु ने कहा——भाई लक्ष्मण ! तुमने राजनीति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इस राज-मद का जो लोग सेवन करते हैं वे उन्मत्त हो उठते हैं; फिर भी साधु-सभा का सेवन करने वाले इस मद से सर्वथा ग्रछूते रहते हैं। जहाँ तक श्रीभरत का सम्बन्ध है, वे ग्रयोध्या के राज्य की तो वात ही क्या ब्रह्मा, विष्णु ग्रौर शिव का पद पाकर भी उन्मत्त नहीं हो सकते।

कही तात तुम्ह नीति सुहाई ।
सव तें कठिन राज मदु भाई ।।
जो ग्रचँवत नृप मातहिं तेई ।
नाहिन साधु सभा जेहिं सेई ।।
सुनहु लखन भल भरत सरीसा ।
विधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ।।

भरतहि होइ न राजमदु, विधि हरि हर पद पाइ ।
कवहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु विनसाइ ।।

श्रीभरत स्वार्थ ग्रौर परमार्थ दोनों से ही उदासीन हैं। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा लोककल्याण को छोड़कर ग्रन्य कुछ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। राम-राज्य की स्थापना के पहिले श्रीभरत के पावन चरित्र की जो भूमिका है उसे हृदयङ्गम किए विना राम-राज्य का वास्तविक तात्पर्य समझ पाना कठिन है। राम-राज्य का जो रूप मानस में प्रस्तुत किया गया है वह राम के सिंहासन पर बैठने मात्र से पूर्ण नहीं हो गया। राम राज्य की विशेषता उसकी सुव्यवस्था मात्र नहीं है। वह एक मानसिक क्रान्ति है, जिसके वाद वाह्य व्यवस्था की कोई ग्रावश्यकता ही शेष नहीं रहती। इस क्रान्ति का श्रेय एक मात्र श्रीभरत को है। चौदह वर्ष तक ग्रयोध्या की प्रजा को जिस महापुरुष के शासन में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुग्रा था उसके साहचर्य

से प्रजा का अन्तःकरण ही पूरी तरह परिवर्तित हो गया। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही अर्थों में श्रीभरत 'विश्व का भरण-पोषण' करने वाले हैं।

श्रीभरत का नामकरण करने के पश्चात् अवस्थाक्रम की दृष्टि से ज्येष्ठ सुमित्रानन्दन का नाम रखा जाना चाहिए था। किन्तु गुरुदेव ने क्रम परिवर्तन करते हुए कनिष्ठ सुमित्रानन्दन का नामकरण पहिले किया। इस क्रम भङ्ग के कारण पर हम बाद में विचार करेंगे। पहिले सुमित्रा अम्बा के द्वितीय पुत्र का नामकरण करते हुए उन्होंने जिन शब्दों का प्रयोग किया है उसके तात्पर्य पर विचार करें।

जाके सुमिरन ते रिपुनासा।
नाम शत्रुहन बेद प्रकासा।।

"जिनके स्मरणमात्र से शत्रुओं का विनाश होता है उनका नाम शत्रुघ्न होगा, ऐसा वेद मत है।" चारों भाइयों के नामकरण में बहिरङ्ग दृष्टि से शत्रुघ्न जी का नामकरण बड़ा अटपटा प्रतीत होता है। मानस में शत्रुघ्न का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें एक भी ऐसा प्रसङ्ग नहीं है जहाँ शत्रुओं के विरुद्ध उनके संघर्ष अथवा विजय का कोई उल्लेख हो। भगवान राम और श्रीलक्ष्मण के शौर्य और शत्रु-विजय की गाथाएँ मानस में भरी पड़ी हैं। श्रीभरत यद्यपि कहीं युद्ध के लिए सामने नहीं आते फिर भी बिना फल के बाण के द्वारा महावीर श्रीहनुमान को गिराकर उन्होंने अपने अतुल बल का परिचय दे दिया। इसके अपवाद तो एकमात्र शत्रुघ्न हैं, जिनके चरित्र में कहीं भी युद्ध की कोई गाथा नहीं है। फिर भी उनका नाम शत्रुघ्न रखकर गुरुदेव ने आश्चर्य की सृष्टि कर दी। इस विरोधाभास पर विचार करते हुए हमें गोस्वामी जी के उस ग्रन्थ का ध्यान आता है जो अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध है। "रामाज्ञा प्रश्न" इस ग्रन्थ में शत्रुघ्न के नाम स्मरण का फल और भी अनोखा बताया गया है।

सुमिरि सत्रु सूदन चरन सगुन सुमंगल भानि।
पर पुर बाद बिबाद जय जूझ जुआ जय जानि।।

शत्रु विजय के साथ इसमें "वाद विवाद" और "द्यूत (जुए)" में विजय के लिए भी शत्रुघ्न के नामकरण को फलदायी बताया गया

पूरी तरह निश्चित है। उस पथ से उन्हें प्रभु भी विचलित नहीं कर सकते। श्री-रामभद्र ने उन्हें धर्म-पथ पर चलने की प्रेरणा दी थी। उत्तर कोरा मिल गया—"मैं जानता हूँ कि यह धर्म-पथ कहाँ पहुँचाता है। यह कीर्तिनगर भी पहुँचाता है, तथा स्वर्गपुर और ऐश्वर्यपुर जाने का मार्ग भी यही है। किन्तु मुझे वहाँ जाना कब है":

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति सुगति भूति प्रिय जाही॥

उन्होंने व्याकुल होकर चरण पकड़ लिए—"गहे चरन अकुलाय।" "मेरे लिए तो मार्ग स्पष्ट है। इन चरणों के साथ ही मुझे चलना है। ये चरण जिधर जाएँ, उधर ही जाना है।" प्रभु ने साथ ले लिया। महर्षि का यह सोचना स्वाभाविक ही था कि ऐसे प्रेमव्रती को मार्ग बताना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। रह गए निषादराज, सो उन्हें सखा का पद देकर प्रभु ने सिद्ध-स्थिति में पहुँचा दिया है। वे तो स्वयं मार्ग दर्शाने के दावेदार हैं। यह प्रश्न किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है, अतः हँसी का आना स्वाभाविक है; पर महर्षि ने उस हँसी को होठों तक नहीं आने दिया। मन-ही-मन हँसते रहे। बाहर से हँसना अशिष्ट और अमर्यादित प्रतीत होगा। उन्होंने सोचा, जब प्रभु अपने नाट्य का ठीक निर्वाह कर रहे हैं तो मुझे भी सही भूमिका का निर्वाह करना चाहिए।

उत्तर एक नन्हे-से वाक्य में था—"सारे मार्ग तुम्हारे लिए सुगम हैं।" जहाँ गन्तव्य की बाध्यता नहीं है, वहाँ मार्ग की समस्या भी नहीं है। यदि किसी को कहीं पहुँचना न हो तो वह जिधर भी चाहे टहलता रहे। साधना की दृष्टि से प्रत्येक साधक को उसके सामर्थ्य और संस्कार के अनुरूप ही मार्ग बताया जाना चाहिए। प्रभु सर्व-समर्थ और संस्कार-शून्य हैं। वे किसी भी पथ पर स्वेच्छा से चलते हुए उसका निर्वाह समग्रता से कर सकते हैं। कोसलेन्द्र ने अपने चरित्र के द्वारा तीनों मार्गों पर चलने की पद्धति का प्रवर्तन किया। इसलिए उनके लिए महर्षि का यह कथन सर्वथा सार्थक था—"सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं"

फिर भी उन्होंने प्रभु की आकांक्षा का समादर करते हुए मार्ग-दर्शन के लिए चार विद्यार्थियों को भेजा। ये चारों छात्र चार वेदों के प्रतीक हैं। आस्तिक-परंपरा में वेदों को परम प्रमाण माना गया है। ईश्वर की तुलना में भी वेद ही अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। यह मान्यता बड़ी युक्ति-संगत है। व्यक्ति के रूप में ईश्वर के अवतार की स्वीकृति के बाद एक समस्या सामने आती है। प्रत्येक अवतार यदि भिन्न प्रकार की आज्ञाएँ प्रचारित करे तो किसे प्रामाणिक स्वीकार किया जाए ? इसका समाधान इस रूप में किया गया है कि उसकी आज्ञा को वेद

की कसौटी पर कस कर देखना चाहिए। वेदानुकूल होने पर ही ईश्वर की आज्ञा को स्वीकार किया जाना चाहिए। गोस्वामीजी भी इस मान्यता का समर्थन करते हैं, "भगवान् बुद्ध पूज्य हैं, पर उनका मत वेद-विरुद्ध है इसलिए वह ग्राह्य नहीं है" :

अतुलित महिमा बेद की, तुलसी कीन्ह बिचार।
बेद निन्दि निन्दित भयउ, बिरित बुद्ध अवतार।। (दोहावली)

इस मान्यता की तुलना वर्तमान संवैधानिक स्थिति से भी की जा सकती है। राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रधान होते हुए भी संविधान से बँधा हुआ है। उसकी कोई आज्ञा यदि संविधान के विरुद्ध हो तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। वेद-शाश्वत संविधान है और ईश्वर को भी उसका आदर करना चाहिए।

चारों विद्यार्थियों के पीछे चलकर श्रीराम ने इसी मर्यादा का पालन किया

मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे।
जिन निज जनम सुकृत बहु कीन्हे।।

कवि मेना का वर्णन करने के लिए एक पंक्ति भी नहीं निकाल पाया।

भगवान राम का वन्दरों की सेना लेकर लङ्का पर आक्रमण करने के लिए जाना उनकी वाध्यता न होकर उनके आदर्श का ही परिचायक है। वे इस सत्य को प्रगट कर देना चाहते थे कि युद्ध शस्त्र और सेना से नहीं; अपितु दृढ़ संकल्प, आदर्श के प्रति समर्पित होने की भावना और मनोवल से जीता जाता है। लङ्का में कुशल योद्धा हैं, अस्त्रशस्त्रों की दृष्टि से लङ्का सवसे आगे है, पर सारी सेना को यह ज्ञात था कि वे किसी आदर्श के लिए नहीं; अपितु अपने स्वामी के अहं का समर्थन करने के लिए युद्ध कर रहे हैं। यह युद्ध उन पर वलात् लादा गया था। उनका मन अपने स्वामी के साथ नहीं था। भय और आतङ्क ही उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित कर रहा था। वहाँ तो रावण सैनिकों को खुली धमकी दे चुका है।

समर विमुख जो सुना मैं काना।
तो मैं हतव कराल कृपाना।।

भगवान राम की ओर से लड़ने वाला प्रत्येक सैनिक आदर्श से अनुप्राणित है। उसे ज्ञात है कि वह अन्याय के विरुद्ध युद्धरत है। उसके ऊपर अनुशासन थोपा नहीं गया है। वह स्वत:प्रेरित अनुशासन था जो श्रीरामभद्र के शील के कारण प्रत्येक वन्दर के हृदय में उत्पन्न हो चुका है। विभीषण के संशय का समाधान करते हुए भगवान राम ने उन मानवीय गुणों का वर्णन किया, जिन पर आरूढ़ होकर व्यक्ति विजय प्राप्त करता है। उनकी दृष्टि में वास्तविक रथ और कवच सद्गुण हैं।

इसी सन्दर्भ में श्रीराम ने "शत्रु" की व्याख्या करते हुए इस शब्द को एक नया अर्थ प्रदान किया। "सच्चा वीर वह है जो अजय 'संसार रिपु' को जीत लेता है।" शत्रु से संघर्ष करते हुए अधिकांश व्यक्ति उसकी निन्दा करते हुए अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु जिन दुर्गुणों को वढ़ा-चढ़ाकर विरोधियों की आलोचना की जाती है वे निन्दा करने वाले व्यक्ति के जीवन में भी विद्यमान होते हैं। ऐसी स्थिति में लड़ा जाने वाला युद्ध केवल अहंकार

की लड़ाई छोड़कर और कुछ नहीं होता। अतः दूसरों के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ करने से पहिले हमें अपनी दुर्बलताओं और दुर्गुण-दुर्विचारों को परास्त करना चाहिए। तभी हमारा संघर्ष वास्तविक लोक-कल्याण का साधन बन सकता है। इस संघर्ष में सत्य की विजय अनिवार्य है ; किन्तु यदि युद्ध केवल दो दुर्गुणों के बीच हो तो उसमें विजय इस बात पर निर्भर है कि कौन कितनी अधिक क्रूरता का उपयोग कर सकता है।

भगवान राम के द्वारा "संसार रिपु" शब्द प्रयोग करते हुए किसी विशेष दुर्गुण की ओर संकेत नहीं किया गया है। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि "संसार" शब्द का यहाँ वास्तविक तात्पर्य क्या है? संसार का तात्पर्य यदि इसमें रहने वाले व्यक्तियों से हो तो उन्हें शत्रु समझकर संघर्ष करना सर्वथा असम्भव है। मानस में संसार को माया की कृति बताया गया है। यह माया शक्ति ईश्वर के संकेत पर कार्य करने वाली है और उसके ही बल से सृष्टि-रचना का कार्य पूरा करती है।

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।

इस ईश्वरकृत सृष्टि में दुःख का निर्माण व्यक्ति की अपनी माया ने किया है। यह माया है "मैं" और "मेरा", "तू" और "तेरा"। यही माया संघर्ष की जड़ है।

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हेसि जीव निकाया।।

समाज के अधिकांश संघर्ष किसी आदर्श से प्रेरित न होकर केवल "अहं और मम" को लेकर होते हैं। जब तक व्यक्ति या समाज इस घेरे से स्वयं को मुक्त नहीं करता है तब तक किसी आदर्श की चर्चा केवल वितण्डा मात्र है। जब तक व्यक्ति न्याय और अन्याय की परिभाषा को अपने और पराए के दो पृथक् मानदण्डों से करता है तब तक संसार से अन्याय का मिटना सर्वथा असम्भव है। दूसरों के द्वारा किया जाने वाला छोटा-सा भी अन्याय हमें दण्डनीय प्रतीत होता है और अपनों के द्वारा किये जाने वाले अन्याय को या तो हम

सर्वथा अस्वीकार देते हैं या कदाचित् वाध्यता से स्वीकृति की स्थिति में भी उन्हें दण्डनीय के स्थान पर क्षम्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में दोषमुक्त समाज का निर्माण कैसे सम्भव है। भगवान राम के द्वारा रावण के विरुद्ध किया जाने वाला संघर्ष इस दोहरे मापदण्ड के दोष से मुक्त है। अत्याचारी चाहे वालि हो (देव शक्ति) अथवा रावण दोनों ही दण्ड के पात्र हैं। वालि के लिए यह समझ पाना कठिन हो रहा था कि श्रीराम ने उस पर क्यों प्रहार किया? क्योंकि उसका तर्क यह था कि राम के विरुद्ध उसने ऐसा कोई कार्य नहीं किया है जिसके लिए उसे दण्डित किया जाना चाहिए। वालि की मान्यता यह है कि सुग्रीव के विरुद्ध उसके संघर्ष से राम को क्या लेना-देना है। यह तो उसका और सुग्रीव का व्यक्तिगत संघर्ष था। वस्तुतः वालि की यह मान्यता प्रचलित धारणाओं पर आधारित थी। भगवान राम की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। वे यह मानकर चलते हैं कि अन्याय कहीं भी, किसी के द्वारा, किसी के भी प्रति किया जा रहा हो—दमनीय है। पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय को अपने और पराए में विभाजित करना सबसे बड़ा पाप और अन्याय है। इसीलिए वे रावण पर भी प्रहार करते हैं, जिसने उनकी प्रिया का अपहरण किया और उस वालि पर भी, जिसने अपने छोटे भाई की पत्नी को बलात् छीन लिया है। इसीलिए रावण के विरुद्ध उनके संघर्ष में रावण के लघु भ्राता विभीषण उनके साथ हैं; क्योंकि विभीषण को यह पूरी तरह विश्वास हो चुका है कि यह संघर्ष अन्याय और पाप के विरुद्ध है। इसीलिए संशयग्रस्त विभीषण को भगवान राम उस सत्य की स्मृति दिलाना चाहते हैं जिससे प्रेरित होकर विभीषण लंकाधिपति रावण को भरी सभा में चुनौती देकर श्रीराम की शरण में चले आए हैं।

राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल वस तोरि।
मैं रघुवीर सरन अव जाऊँ देहु जनि खोरि।।

विभीषण किसी दुर्बल या षड़यन्त्रकारी व्यक्ति की भाँति छिपकर श्रीराम के पास नहीं आए थे। उन्होंने अन्याय के विरुद्ध एक सत्याग्रही के समान व्यवहार किया था। यह आत्मविश्वास आध्यात्मिक मनोवल से ही प्राप्त है।

शत्रु विजय के प्रति भगवान राम की इस दृष्टि के प्रकाश में शत्रुघ्न नाम की सार्थकता पर विचार किया जा सकता है। वस्तुत: शत्रुघ्न ने संसार को पूरी तरह परास्त कर दिया है। उनके जीवन में खोजने पर भी अहं और मम के दर्शन नहीं होते हैं। सर्वथा मौन रहकर श्रीभरत का अनुगमन करना उनकी अहङ्कारशून्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपने व्यक्तित्व को शून्य बनाकर किसी के व्यक्तित्व में विलीन कर देना असम्भव-सा कार्य है। सारे पुराणों और इतिहासों का अध्ययन करने पर भी शत्रुघ्न जैसे पात्र दो चार से अधिक नहीं होंगे। हमारे पुराण और इतिहास लक्ष-लक्ष महापुरुषों की गौरव-गाथाओं से भरे पड़े हैं। उनका फहराता हुआ कीर्ति-ध्वज आज भी अभिनन्दन का पात्र है। किन्तु योग्यता और सामर्थ्य होते हुए भी दूसरों के यश-ध्वज को उठाने में ही जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को मिटा दिया; ऐसे पात्र कितने होंगे। श्रीभरत और श्रीलक्ष्मण भी इसी भावना से अनुप्राणित हैं, फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ आईं, जब इन दोनों की गौरव-गरिमा को संसार ने पहिचान लिया। इस तरह चार भाइयों में जहाँ तीन भाइयों की गौरव-गाथाओं का सर्वत्र गायन हो रहा हो वहाँ चौथे भाई का सर्वथा अदृश्य रहना संसार में अन्यत्र कहीं भी ईर्ष्या और मात्सर्य का कारण बन जाता। किन्तु शत्रुघ्न ने वस्तुत: समस्त दुर्गुणों को परास्त कर डाला था। ऐसे महापुरुष को शत्रुघ्न नाम देकर गुरु वशिष्ठ ने अपनी पैनी और अन्तर्मुखी दृष्टि का परिचय दिया।

'रामाज्ञा प्रश्न' में शत्रुघ्न के स्मरण से वाद-विवाद में विजय की जो बात कही गई है उसका रहस्य भी यही है। चारों भाइयों में तीन भाइयों के विलक्षण वक्तृत्व का दर्शन अनेक अवसरों पर होता है। भगवान राम तो वचन-रचना के आचार्य ही हैं। परशुराम तो उन्हें "वचन रचना-नागर" की उपाधि से विभूषित करते हैं।

विनयसील करुना गुन सागर।
जयति बचन रचना अतिनागर॥

श्रीभरत की वाणी तो सर्वथा अनुपमेय है। थोड़े शब्दों में अमित अर्थ वाली वाणी का प्रयोग उनकी अपनी विशेषता है। उनका

प्रत्येक वाक्य सारगर्भित और अकाट्य होता है। इसीलिए ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जैसे भाषणकला के आचार्य भी उनकी प्रतिभा के समक्ष नत-मस्तक होकर अवाक् रह जाते हैं। अयोध्या और चित्रकूट दोनों ही स्थानों में अवसर आए; जब गुरु वशिष्ठ और श्रीभरत के भाषण साथ हुए। परिणाम सदा एक ही रहा। गुरुदेव का पाण्डित्यपूर्ण भाषण वह प्रभाव नहीं डाल पाता था जो भरत की भाव भरी वाणी द्वारा संभव हो जाता था। महाराज दशरथ की मृत्यु के वाद ननिहाल से श्रीभरत बुलवाए गए। समस्त पितृकर्म की समाप्ति के वाद अयोध्या की राजसभा में गुरु वशिष्ठ ने श्रीभरत से राज्य लेने का अनुरोध करते हुए जो भाषण दिया वह कई दृष्टियों से अनुपम था। एक लम्बी भूमिका के बाद ही गुरुदेव ने श्रीभरत से राज्य लेने का अनुरोध किया। भूमिका में उन्होंने धर्म का स्वरूप उपस्थित किया। सारा समाज अपने वर्णाश्रम धर्म से सञ्चालित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी भूमिका का ठीक-ठीक पालन करे। तुम्हारे पिता ने धर्म के रहस्य को जाना ही नहीं था; उसके लिए उन्होंने वहुत वड़ा त्याग भी कर दिखाया। सत्य की रक्षा के लिए उन्होंने राम का त्याग कर दिया और राम प्रेम के लिए उन्होंने प्राण का परित्याग करके धर्म और प्रेम दोनों की मर्यादा का संरक्षण किया। ऐसे महान् पिता के पुत्र आप हैं अतः सभी लोग आपसे यह आशा करते हैं कि "महाराजश्री के वचनों की रक्षा करने के लिए आप राज्य स्वीकार कर लेंगे।" मन्त्रियों ने उनके भाषण का तत्काल समर्थन किया और कौशल्या अम्वा ने अनुमोदन करते हुए उनसे प्रजा के संरक्षण का अनुरोध किया। गोस्वामी जी ने इसे इन शब्दों में प्रस्तुत किया।

रायँ राज पदु तुम कहुँ दीन्हा।
पिता वचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
तजे रामु जेहि बचनहि लागी।
तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥
नृपहि वचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना।
करहु तात पितु वचन प्रमाना॥

करहु सीस धरि भूप रजाई।
हइ तुम कहँ सब भाँति भलाई।।
परसुराम पितु अग्या राखी।
मारी मातु लोक सब साखी।।
तनय जजातिहि जौबनु दयऊ।
पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ।।
अनुचित उचित विचारु तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, वसहिं अमरपति ऐन।।
अवसि नरेस बचन फुर करहू।
पालहु प्रजा सोकु परिहरहू।।
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू।
तुम्ह कहँ सुकृत सुजसु नहिं दोषू।।
बेद बिदित संमत सबहीं का।
जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।।
करहु राजु परिहरहू गलानी।
मानहु मोर बचन हित जानी।।
सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं।
अनुचित कहब न पंडित केहीं।।
कौसल्यादि सकल महतारीं।
तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी।।
परम तुम्हार राम कर जानिहि।
सो सब बिधि तुम सन भल मानिहि।।
सौंपेहु राजु राम कें आएँ।
सेवा करेहु सनेह सुहाएँ।।

गुरु वशिष्ठ के इस भाषण में धर्म राजनीति का समन्वय तो था ही उसमें श्रीभरत की भावनाओं का समादर करने के लिए यह संशोधन जोड़ दिया गया था कि श्रीभरत यदि चाहें तो श्रीरामभद्र के लौट कर आने के बाद उन्हें राज्य समर्पित कर दें। इस तरह उन्होंने एक ऐसा प्रस्ताव रखा था जिसकी स्वीकृति में किसी वर्ग के विरोध की आशङ्का नहीं थी। सभी मंत्री प्रस्ताव के पक्ष में एक स्वर से बोल उठे।

कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आएँ उचित जस तस तव करव वहोरि।।

मंत्रियों में तात्कालिक व्यग्रता है। चौदह वर्ष बाद क्या होगा? इस प्रश्न पर बाद में विचार किया जा सकता है ऐसी उनकी मान्यता है। राजनीति का स्वरूप भी यही है। धर्म की दृष्टि व्यापक है। उसे समाज और व्यक्ति दोनों के हित की चिन्ता है। उसे न केवल इसलोक की अपितु परलोक की भी रक्षा अभीष्ट है। इसीलिए गुरुदेव ने श्रीभरत को यह भी आश्वासन दिया था—"वसहिं अमरपुर ऐन"। सुख और सुयश के साथ स्वर्ग का समन्वय लोक-परलोक दोनों की उपलब्धि की सूचना देता है। राजनीतिज्ञ इस विवाद में नहीं उलझना चाहता। उसे परलोक की नहीं, लोक संरक्षण की चिन्ता है। मंत्रियों की भाषा में राजनैतिक चातुरी है। वे अभी से श्रीभरत को किसी वन्धन में नहीं वाँधना चाहते कि श्रीराम के आने के वाद उन्हें राज्य लौटाना ही होगा। अत: वे इस प्रश्न को वाद के लिए टाल देना चाहते हैं।

कौशल्या अम्वा के अनुमोदन में उनका सरल वात्सल्य बोल रहा है। वे श्रीभरत की भावना को पूरी तरह समझती हैं। किन्तु उन्हें लगता है कि गुरुदेव के प्रस्ताव से भरत सहित सारे समाज का कल्याण है। वे श्रीभरत से राज्य स्वीकार करने का अनुरोध करती हैं। श्रीराम के लौटकर आने पर उन्हें राज्य समर्पित करने का प्रस्ताव उन्हें स्वीकार नहीं है। वे श्रीरामभद्र की प्रकृति से परिचित हैं। यदि श्रीभरत राज्य स्वीकार करें तो सर्वाधिक प्रसन्नता श्रीराम को होगी। वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि चौदह वर्ष वाद राज्य उन्हें दे दिया जाय। कौशल्या अम्वा का भाषण उनके स्वरूप के अनुरूप है।

श्रीभरत, प्रस्ताव का उत्तर देने के लिए उठ खड़े होते हैं। उनकी आँखों से अनवरत अश्रु-प्रवाह हो रहा है। श्रीभरत की इस स्नेहमयी दशा का दर्शन करते ही सारा समाज विह्वल हो उठा, सभी लोग एक स्वर से श्रीभरत के सहज स्नेह की सराहना करने लगे।

सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु व्याकुल भए।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत विरह उर अंकुर नए।।
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहिं सुधि देह की।
'तुलसी' सराहत सकल सादर सीवँ सहज सनेह की।।

भाषण के पहिले ही वक्ता के दर्शनमात्र से सारा समाज जिस विलक्षण स्थिति में पहुँच जाता है वह विश्व के इतिहास में अनुपमेय है। सच्चा वक्तृत्व केवल वाणी से अभिव्यक्त नहीं होता। भाषण में अधिकांश वक्ताओं का बुद्धि-कौशल ही प्रगट होता है। ऐसा वक्ता वाणी के द्वारा अपने चातुर्य को प्रगट करके ही सम्मान का अधिकारी बनता है। किन्तु जिनका रोम-रोम प्रेम-रस में सराबोर है, जिनके जीवन में बुद्धि और मन का अन्तर्द्वन्द्व सर्वथा समाप्त हो चुका है; उनके दर्शनमात्र से ही व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो बैठता है। श्रीभरत ऐसे महापुरुषों में भी अग्रगण्य हैं।

इसके पश्चात् श्रीभरत ने गुरु वशिष्ठ सहित सारे समाज को जो उत्तर दिया उसमें धर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और राजनीति का सार-सर्वस्व विद्यमान था। उसमें पूर्ववर्ती वक्ताओं के सारे तर्कों का खण्डन था। फिर भी उन तर्कों में इतनी मिठास थी कि सुनने वालों ने कहीं भी उसमें प्रहार की पीड़ा का अनुभव नहीं किया।

भरतु कमल कर जोरि धी धुरंधर धीर धरि।
बचन अमियँ जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि।।

श्रीभरत का भाषण समाप्त होते ही सारा समाज एक स्वर से उनका समर्थन करने लगा।

अवसि चलिअ बन राम जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलम्बनु दीन्ह।।

श्रीभरत के मिठास भरे भाषण से भिन्न श्रीलक्ष्मण का वक्तृत्व ओजस्विता की सीमा है। उनके भाषण का शौर्य, सृष्टि को कँपा कर रख देता है। अन्याय उन्हें सह्य नहीं है। जहाँ अन्याय हो वहाँ वे चुप नहीं रह सकते और जब वे एक बार किसी संकल्प का उद्घोष करते हैं तब प्रत्येक व्यक्ति यह समझ लेता है कि श्रीलक्ष्मण में संकल्प को साकार करने की क्षमता है।

महाराज श्रीजनक ने निराशा के क्षणों में कह दिया--"पृथ्वी वीरों से शून्य है। आपलोग अपने घरों को लौट जाँय।" श्रीलक्ष्मण को यह असह्य प्रतीत हुआ कि श्रीरघुवीर के रहते कोई इस प्रकार की धृष्टता भरी वाणी बोलने का दुस्साहस करे और तव उन्होंने उन्हें इस बुरी तरह फटकारा कि ज्ञानि-शिरोमणि जनक लज्जा में गड़ गए। पर उस भाषण का प्रभाव सारे ब्रह्माण्ड पर पड़ा।

लषन सकोप वचन जब बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले।।
सकल लोक सब भूप डेराने।
सिय हिय हर्ष जनक सकुचाने।।

इस तरह चार भाइयों में तीन के भाषण की अपनी शैली है और तीनों ही अद्वितीय प्रवक्ता हैं। पर चौथा भाई सर्वथा मौन। ऐसा मौन कि खोजने पर भी कहीं कोई नन्हाँ वाक्य भी न निकले। फिर भी गोस्वामी जी वाद-विवाद में विजय के लिए शत्रुघ्न का स्मरण ही आवश्यक वताते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे वाद-विवाद में विजय के लिए भाषण के स्थान पर मौन को आवश्यक मानते हैं। यही यथार्थ सत्य भी है। कोई भी वक्तृत्व के द्वारा वाद-विवाद में सर्वदा विजय प्राप्त नहीं कर सकता। किसी न किसी अन्य प्रतिभाशाली वक्ता के समक्ष उसे पराजित होना पड़ेगा। किन्तु मौन अपराजित है। मौन को व्यक्ति की असमर्थता के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है। वह वाणी के असामर्थ्य को सुरक्षित रखने का कवच भी है, किन्तु मौन ज्ञान और विश्वास की चरम सीमा भी है। अनेक चतुर वक्ता तर्क के द्वारा मिठाई की मिठास का स्वरूप निश्चित करना चाहते थे। वे परस्पर आवेश में एक दूसरे का खण्डन कर रहे थे। उनकी आकृतियों पर क्रोध और श्रम के चिह्न थे। वहीं पास में एक व्यक्ति इस विवाद से दूर मौन बैठा हुआ था। उसके मुख पर तृप्ति के भाव विद्यमान थे। विवाद करने वालों को इस व्यक्ति की मस्ती पर आश्चर्य हो रहा था। विवादियों में किसी ने कहा कि मित्र, तुम भी तो कुछ कहो। फिर भी वह मुस्कुराता हुआ मौन रहा। सत्य तो यह था कि वह बोलता

भी कैसे, क्योंकि उसके मुख में वही मिष्टान्न विद्यमान था जिसके स्वाद पर सामने वाले लोग विवाद कर रहे थे। मौन रसानुभूति है, सच्चिदानन्द का रसास्वाद है। भाषणों के द्वारा साधारण मिष्टान्न का स्वाद भी दूसरों को नहीं बताया जा सकता फिर भला उस ब्रह्म का बोध वाणी से कैसे सम्भव है--"मूकास्वादनवत्।"

वाणी समुद्र के जल में तैरने की प्रक्रिया है और मौन समुद्र की अतल गहराइयों में डुबकी लगाने की प्रक्रिया। तैराकी का भी महत्त्व है। उसमें तैरने की कला और पुरुषार्थ का दर्शन होता है। किन्तु डुबकी समुद्र की अतल गहराइयों से मोती खोज ले आती है। तैरता हुआ व्यक्ति बोल सकता है पर डूबे हुए व्यक्ति के लिए बोलना सम्भव ही नहीं है। देवर्षि नारद भक्ति-सूत्र में कहते हैं--"वादो नावलम्ब्यः।" भक्त को वाद-विवाद का आश्रय नहीं लेना चाहिए। क्योंकि तर्क किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाते। "तर्कऽप्रतिष्ठानात्"। तर्क से सत्य का नहीं, तार्किक व्यक्ति की प्रतिभा का ज्ञान होता है। भक्त दिव्य भावराज्य में प्रभु की सेवा में तल्लीन रहता है। उसे न तो कुछ समझना है और न तो उसमें समझाने की लोकवासना का ही लेश है। अतः मौन उसकी असमर्थता का नहीं, उसकी उपलब्धि, तृप्ति और पूर्णता का परिचायक है। श्रीशत्रुघ्न का मौन इसी कोटि का है। विवाद में सच्ची विजय इस मौन के द्वारा उपलब्ध होती है।

'द्यूत' के साथ बहुधा क्रीड़ा शब्द का प्रयोग किया जाता है। लोकभाषा में भी "जुआ के खेल" के रूप में ही इसकी चर्चा होती है। द्यूत के प्रति व्यक्ति का आकर्षण बहुत पुराना है। इतिहास के अनेक महापुरुषों में भी जुआ का व्यसन विद्यमान था। महाराज नल और युधिष्ठिर जैसे सत्पुरुषों को द्यूत के कारण घोर कष्ट उठाना पड़ा। क्रीड़ा शब्द से एक प्रकार के आनन्द का बोध होता है। यों तो यह एक खेल ही है पर इसे हम दूरगामी परिणाम वाला खेल कह सकते हैं। यह खेल कम, व्यसन अधिक हो जाता है। अतः इसका परिणाम बहुधा दुःखद ही होता है। फिर भी मानव मन में इसके प्रति जो तीव्र आकर्षण है उसके कुछ कारण हैं। व्यक्ति बहुधा

सफलता के लिए छोटे मार्ग की खोज में रहता है। कम श्रम में अधिक लाभ की आकांक्षा व्यक्ति का सहज स्वभाव है। द्यूत इसी इच्छा का साकार रूप है। जहाँ व्यक्ति को धनोपार्जन के लिए व्यापार और श्रम की आवश्यकता नहीं है, वह खेल-खेल में अधिक से अधिक लाभ की आशा कर सकता है। द्यूत में एक बार की विजय व्यक्ति को सदा आशान्वित रखती है। पता नहीं कब हमें पुनः सफलता प्राप्त हो जाय। जुआ में पुरुषार्थ का स्थान भाग्य ले लेता है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को पहिचानने में भूल नहीं करता किन्तु भाग्य कौन बता सकता है? अतः साधारण से साधारण व्यक्ति भी भावी विजय में आशा लगा सकता है। इसलिए सृष्टि के आदिकाल से लेकर अब तक जुआ अपने अनगिनत रूपों में व्यक्ति के आकर्षण का केन्द्र है।

एक व्यसन के रूप में गोस्वामी जी द्यूत के पूरे विरोधी हैं। फिर भी वे उसे पूरी तरह अस्वीकार न कर उस पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं। यदि द्यूत क्रीड़ा का कोई प्रेमी यह निर्णय कर ले कि वह 'रामाज्ञा प्रश्न' से देखने के बाद ही जुआ खेलेगा तो ऐसी स्थिति में स्वभावतः उसे जुआ खेलने का बहुत कम अवसर प्राप्त होगा। इसलिए रामाज्ञा में उन्होंने अनेक विषयों के प्रश्न के साथ-साथ जुआ को भी उसमें सम्मिलित कर लिया। प्रश्न निकालने पर यदि भाग्य से यही दोहा निकले तो गोस्वामी जी की मान्यता के अनुकूल उसे द्यूत क्रीड़ा में विजय प्राप्त होगी; किन्तु द्यूत के प्रारम्भ में उसे शत्रुघ्न का स्मरण करना चाहिए। श्रीशत्रुघ्न जीवन में सदा अपराजित रहे। द्यूत न सही, पर अन्य खेलों में विजय ने सदा उनका वरण ही किया। उसका एकमात्र कारण यह था कि वे सर्वदा श्रीभरत के साथ अनुगामी के रूप में रहे। भगवान राम श्रीभरत को खेल में जिताकर ही आनन्द का अनुभव करते थे। श्रीशत्रुघ्न विजयनिष्ठ नहीं थे। जो लोग जीवन में विजय को ही अपना इष्ट मानते हैं, उनका अवसरवादी होना स्वाभाविक ही है। ऐसे लोग सर्वदा स्वयं को परिवर्तित करते रहते हैं। श्रीशत्रुघ्न, संत भरत के सच्चे अनुगामी हैं। इसलिए उनके जीवन में सिद्धान्त के प्रति सच्ची निष्ठा विद्यमान है। सिद्धान्तहीन व्यक्ति

विजय में भी सर्वदा पराजित होता है; क्योंकि उसे प्रतिक्षण पराजय की आशङ्का संत्रस्त बनाए रखती है। एक सिद्धान्तवादी जय अथवा पराजय में भी विजयी ही होता है, क्योंकि वह अपनी निष्ठा से कभी च्युत नहीं होता। श्रीशत्रुघ्न की विजय भी उनकी निष्ठा और समर्पण में ही निहित है। इसीलिए गोस्वामी जी सर्वत्र विजयी होने के लिए श्रीशत्रुघ्न का स्मरण आवश्यक बताते हैं।

इस नामकरण की प्रक्रिया में सुमित्रा अम्बा के ज्येष्ठ पुत्र का नामकरण सबसे अन्त में किया जाता है। अवस्थाक्रम की दृष्टि से उचित न होने पर भी भावक्रम के संरक्षण के लिए गुरु वशिष्ठ ने इस अनोखी पद्धति का आश्रय लिया। भावक्रम में भी श्रीशत्रुघ्न भरत के प्रति पूरी तरह समर्पित हैं। श्रीलक्ष्मण भी समग्र मन प्राण से श्रीमद् रामभद्र के अनुगामी हैं।

वारेहि ते निज हित पति जानी।
लछिमन राम चरन रति मानी॥
भरत शत्रुहन दूनउ भाई।
प्रभु सेवक जस प्रीति बड़ाई॥

श्रीलक्ष्मण के लिए भगवान राम से दूर होना सर्वथा असह्य है और ठीक इसी तरह शत्रुघ्न भी श्रीभरत से विलग नहीं रह सकते। नामकरण के समय गुरु वशिष्ठ के सामने यह कठिन प्रश्न था कि यदि वे अवस्थाक्रम से नाम रखते हैं तो श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों ही अपने आराध्यों से दूर हो जाते हैं। भावक्रम की रक्षा करने के लिए यदि वे भगवान राम के बाद श्रीलक्ष्मण का नामकरण करें तो कैकेयी अम्बा को इससे आघात लगेगा। इसलिए उन्होंने एक ऐसे चतुर्दल पद्म की कल्पना की जिससे भावरस सुरक्षित रह सके। नामकरण की प्रक्रिया ज्योतिषशास्त्र का अंग है। इसलिए नामकरण में उन्होंने उस पद्धति का आश्रय लिया जिसमें जन्म-चक्र की रचना की जाती है। ग्रह स्थान में यदि क्रमशः लिखा जाय तो वे एक सीध में एक से बारह तक लिखे जायेंगें। ऐसी स्थिति में द्वितीय स्थान का ग्रह सर्वाधिक पास होगा और द्वादश का सबसे दूर। किन्तु चक्राकार जन्म पत्र में प्रथम स्थान के निकट ही द्वादश भी आ जाता है। ऐसी

स्थिति में एक के जितने निकट द्वितीय स्थान है उतना ही निकट द्वादश भी है। नामकरण में भी इसी चतुराई का प्रयोग किया गया है। इसे चक्र के रूप में इस क्रम से स्थापित किया जा सकता है।

इसमें श्रीराम और श्रीलक्ष्मण तथा श्रीभरत और शत्रुघ्न का सामीप्य बना हुआ है। साथ ही अवस्था और भावक्रम दोनों ही दृष्टियों से श्रीभरत और भगवान राम का सामीप्य भी सुस्थिर है। श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न दोनों ही सुमित्रा अम्बा के पुत्र हैं, अत: उनके लिए इसमें कोई पार्थक्य बोध भी सम्भव नहीं है, जैसा कि श्रीलक्ष्मण का नामकरण श्रीभरत से पूर्व करने पर महारानी कैकेयी को हो सकता था।

चारों भाइयों के नामकरण में भगवान राम के नाम के समान श्रीलक्ष्मण के नाम की व्याख्या भी अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। तुलनात्मक दृष्टि से श्रीभरत और शत्रुघ्न के नाम की व्याख्या संक्षेप में प्रस्तुत की गई है।

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु वशिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।।

"जिनमें समस्त लक्षण निवास करते हैं, जो राम के प्रिय हैं और सारी सृष्टि के आधार हैं; गुरु वशिष्ठ ने उनका उदार 'लक्ष्मण' नामकरण किया।"

श्रीलक्ष्मण के नाम का विस्तृत विवेचन विशेष उद्देश्य से किया गया है। चारों भाइयों के चरित्र में सर्वाधिक विवादास्पद चरित्र श्रीलक्ष्मण का है। श्रीलक्ष्मण के तात्त्विक स्वरूप को हृदयङ्गम किए बिना उनके चरित्र की समीक्षा में भ्रान्ति का होना स्वाभाविक है। अनेक समालोचकों ने श्रीलक्ष्मण के चरित्र की कटु आलोचना करते हुए उन्हें क्रोधी और अमर्यादित सिद्ध करने का प्रयास किया है। बहुतों की दृष्टि में अत्यधिक आवेश के कारण उनमें घोर उच्छृङ्खलता आ गई है। ऐसी आलोचनाओं के मूल में मानस का उथला अध्ययन है। मानस के विभिन्न प्रसङ्ग में जिन मुखर शब्दों में श्रीभरत की सराहना की गई है उनको आधार बना कर वे लक्ष्मण की न्यूनता सिद्ध करना चाहते हैं। यदि भगवान राम ने श्रीभरत की प्रशंसा में यह कह दिया कि—"लक्ष्मण! भरत के समान पवित्र भाई संसार

में हुआ ही नहीं।" तो इसे परम प्रमाण मानकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि किन दुर्बलताओं के कारण प्रभु ने श्रीभरत की तुलना में लक्ष्मण को न्यून मान लिया।

लषन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।।

ऐसे लोग शाब्दिक पकड़ की चेष्टा में मनोविज्ञान के साधारण आधार भी भूल जाते हैं। उन्हें यह ध्यान ही नहीं आता कि उपर्युक्त पंक्ति प्रभु ने श्रीलक्ष्मण से ही कही थी। साधारण शिष्ट व्यक्ति भी इस प्रकार की तुलना करके एक भाई के हृदय में पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहेगा। फिर श्रीलक्ष्मण जैसे सर्वत्यागी भाई को हीन सिद्ध करने की चेष्टा का उद्देश्य क्या हो सकता है? और यह प्रयास शील, सौजन्य के मूर्तिमान रूप रामभद्र के द्वारा किया जाय यह कितनी असङ्गत वात है। इसकी तुलना में एक दूसरा प्रसङ्ग रखा जा सकता है। लङ्का-विजय के पश्चात् श्रीराघवेन्द्र अवध पधारते हैं। अपनी मित्र-मण्डली का परिचय देते हुए गुरु वशिष्ठ से उन्होंने यह वाक्य कहे--

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे।।
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहिं अधिक पिआरे।।

इनमें वन्दरों की सराहना करते हुए उन्होंने जो वाक्य कहे हैं उसमें श्रीभरत से तुलना करके उन्हें श्रीभरत से अधिक गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। क्या इसका तात्पर्य यह है कि श्रीभरत की अपेक्षा वन्दरों का चरित्र अधिक उदात्त है। ऐसी मान्यता उपहासास्पद सिद्ध होगी। यह तो अपनत्व और शिष्टाचार का समन्वय है। जो दूर के हैं उनकी थोड़ी भी सेवा को अधिक महत्त्व देना प्रत्येक शिष्ट और सभ्य व्यक्ति का कर्त्तव्य है। वन्दर श्रीराघवेंद्र के दूरागत अतिथि हैं अतः वन्दरों के लघुत्याग की सराहना प्रभु के लिए स्वाभाविक है। श्रीभरत उनके अपने हैं। श्रीभरत के शील-स्वभाव से प्रभु परिचित हैं। उन्हें यह ज्ञात है कि इस तुलना से श्रीभरत को रञ्चमात्र दुःख नहीं होगा। श्रीलक्ष्मण और श्रीभरत के सन्दर्भ में भी यही मनो-

वैज्ञानिक आधार कार्य कर रहा है। श्रीलक्ष्मण और प्रभु में जिस प्रकार की अभिन्नता है वह सर्वथा अनुपमेय है। श्रीभरत के प्रति अपनत्व का बोध न हो ऐसा भी नहीं है। पर उस अपनत्व में आदर और संकोच का सर्वथा अभाव नहीं है। जब प्रभु श्रीभरत को "सुचि सुबंधु" की उपाधि देते हैं तब यह श्रीभरत की प्रशंसा तो है पर इसमें लक्ष्मण के प्रति अपनत्व की पराकाष्ठा है। जब हम किसी को प्राण से अधिक प्रिय कहते हैं तब यह प्राण की निन्दा न होकर प्राण से अपनी अभिन्नता की स्वीकृति है। प्रभु प्राणप्रिय के स्थान पर किसी को लक्ष्मण से अधिक बताकर लक्ष्मण को प्राण का ही स्थान देते हैं। जिस भाई पर इतना अधिक विश्वास हो कि वह इस प्रकार की तुलना से रुष्ट न होकर प्रसन्न होगा उसमें जिस आस्था का परिचय मिलता है वह शत-शत प्रशंसाओं से बढ़कर है। श्रीभरत तो श्रीलक्ष्मण के समान प्रारंभ से ही प्रभु के सम्पर्क में हैं, वहाँ तो तुलना की कुछ सार्थकता भी हो सकती है। पर श्रीहनुमान जी से तो प्रथम मिलन के कुछ क्षण बाद ही उन्हें श्रीलक्ष्मण से दूना प्रिय बता दिया गया।

सुनु कपि जनि जिय मानसि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना।।

वस्तुतः यहाँ भी वही उपर्युक्त मनोभावना कार्य कर रही है। नहीं तो बाल्यावस्था से लेकर वन के कठिन कष्टों के बीच जिस सर्वत्यागी ने अहर्निश सेवा की हो, दो क्षण के परिचित श्रीपवननन्दन को उससे दूना कहना अन्याय की पराकाष्ठा होती। पर यह तो प्रीति की भाषा है। अपनत्व की इस भाषा का आनन्द लेने के लिए शाब्दिक जोड़-तोड़ की बहिरङ्ग शैली का त्याग करना ही अभीष्ट है।

मानस में भगवान राम के बाद श्रीभरत के चरित्र का सर्वाधिक विस्तार है। अयोध्याकाण्ड का उत्तरार्ध श्रीभरत की गौरव-गाथा से भरा हुआ है। श्रीलक्ष्मण का चरित्र अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। यह स्वाभाविक भी था। श्रीलक्ष्मण निरन्तर प्रभु के साथ हैं। उनके चरित्र का अधिक विस्तार प्रधान नायक के चरित्र को गौण बना सकता था। ऐसी स्थिति में उनके चरित्र को प्रभु की लीला की पृष्ठ-भूमि में रखकर ही देखना होगा। गोस्वामी जी अपनी काव्य-भाषा में

इसे एक भिन्न रूप में रखते हैं। "भगवान राम के क़ीर्तिध्वज के लिए श्रीलक्ष्मण का यश, दण्ड की भाँति है।"

रघुपति कीरति विमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका।।

ध्वज अपने गौरवपूर्ण उत्थान और फहराते रहने के लिए पूरी तरह दण्ड पर आश्रित है। किन्तु नमन तो प्रत्येक व्यक्ति ध्वज को ही करता है। दण्ड तो मूक वलिदानी है उसे किसी विज्ञापन की आवश्यकता नहीं है। ध्वज की कोमलता की तुलना में दण्ड कितना कठोर है। पर उसकी कठोरता में ही "झण्डा ऊँचा रहे हमारा" का रहस्य छिपा हुआ है। भगवान राम के व्यक्तित्व में ही लक्ष्मण का व्यक्तित्व समा गया है। अपने व्यक्तित्व को उन्होंने कभी पृथक् उठाने या चमकाने की चेष्टा ही नहीं की। उनके व्यक्तित्व का कण-कण श्रीराम के लिए सर्मापित है। वे श्रीराम को ऊपर उठाते हैं, उन्हीं का विज्ञापन करते हैं। ऐसी स्थिति में उनके चरित्र का पृथक् विस्तृत वर्णन सम्भव ही नहीं था। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके चरित्र में कोई न्यूनता या त्रुटि रही हो।

परिस्थिति विशेष के कारण श्रीलक्ष्मण का चरित्र कुछ गौण-सा जान पड़ता है। इसके परिमार्जन के लिए ही कवि ने वन्दना और नामकरण के प्रसङ्ग में अन्य भाइयों की अपेक्षा श्रीलक्ष्मण को ही अधिक महत्त्व दिया। वन्दना प्रसङ्ग में श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न की वन्दना जहाँ क्रमशः दो और एक पंक्तियों में की गई है, वहाँ श्रीलक्ष्मण जी की वन्दना चार पंक्तियों में की गई है। इतना ही नहीं, श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न की वन्दना में जहाँ इन दोनों को भक्त और भक्तानुगामी के रूप में चित्रित किया गया है वहाँ श्रीलक्ष्मण की वन्दना करते हुए भक्त के साथ-साथ उनके आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों का भी वर्णन किया गया है। यहाँ तीनों के तुलनात्मक विवेचन के लिए वन्दना प्रसङ्ग की चौपाइयाँ उद्धृत की जाती हैं।

श्रीभरत प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।।

राम चरन पंकज मन जासू।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।।

* * *

श्रीशत्रुघ्न

रिपुसूदन पद कमल नमामी।
सूर सुसील भरत अनुगामी ।।

* * *

श्रीलक्ष्मण

वंदउँ लछिमन पद जल जाता।
सीतल सुभग भगत सुखदाता ।।
रघुपति कीरति विमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका ।।
सेष सहस्र सीष जगकारन।
जो अवतरेउ भूमि भय टारन ।।
सदा सो सानुकूल रहु मो पर।
कृपा सिंधु सौमित्र गुनाकर ।।

विनय-पत्रिका में भी इसी परम्परा का पालन किया गया है। श्रीभरत और शत्रुघ्न की वंदना एक-एक पदों में की गई है; वहीं श्रीलक्ष्मण जी की वन्दना के लिए दो पद दिए गए हैं। मानस के वंदना-प्रसङ्ग की ही भाँति एक पद में श्रीलक्ष्मण के भक्त रूप की भावमयी वन्दना है और दूसरे पद में उनके ऐश्वर्यमय आधिदैविक रूप की ओर संकेत किया गया है। दोनों ही पद सूत्र रूप में श्रीलक्ष्मण-चरित्र को समझने का आधार प्रस्तुत करते हैं।

विनय पत्रिका (३७)

लाल लाड़िले लखन, हित हौ जन के।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी,
पालक कृपालु अपने पन के ।।१।।
धरनी धरनहार भंजन-भुवनभार,
अवतार साहसी सहसफन के ।।
सत्य संध, सत्य ब्रत, परम धरमरत,
निरमल करम वचन अरु मन के ।।२।।

रूप के निधान, धनु बान पानि,
तून कटि, महाबीर बिदित, जितैया बड़े रन के ।।
सेवक-सुख-दायक, सबल, सब लायक,
गायक जानकीनाथ गुन गन के ।।३।।
भावते, भरत के, सुमित्रा-सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घन के ।।
बल्लभ उरमिला के, सनेह बस,
धनी धन तुलसी से निरधनके ।।४।।

पद संख्या (३८)

जयति
लक्ष्मणानत भगवत भूधर, भुजग-
राज, भुवनेश भूभार हारी।
प्रलय-पावक-महा ज्वाल माला-बमन,
समन-संताप लीलावतारी ।।१।।
जयति दाशरथि, समर-समरथ, सुमित्रा-
सुवन, शत्रुसूदन, राम-भरत बंधो।
चारु-चंपक-बरन, बसन-भूषन-धरन,
दिव्यतर, भव्य, लावण्य-सिंधो ।।२।।
जयति गाधेय-गौतम-जनक-सुख-जनक,
बिस्व-कंटक-कुटिल-कोटि हंता।
वचन-चय-चातुरी-परशुधर गरब हर,
सर्वदा रामभद्रानुगंता ।।३।।
जयति सीतेश-सेवा सरस, विषय रस-
निरस, निरुपाधि धुर धर्मधारी।
विपुल वल मूल शार्दूल विक्रम जलद-
नाद-मर्दन, महाबीर भारी ।।४।।
जयति संग्राम-सागर-भयंकर-तरन,
राम हित-करन बर बाहु सेतू।
उर्मिला-रवन कल्याण-मंगल-भवन,
दास तुलसी-दोष-दवन-हेतू ।।५।।

गुरु वशिष्ठ ने श्रीलक्ष्मण के नाम की व्याख्या करते हुए उन्हें "सकल जगत आधार" बताया। यह संकेत उनके शेषावतार सम्बन्धी मान्यता से सम्बद्ध है। वंदना प्रसङ्ग में उन्हे स्पष्ट रूप से शेष का अवतार वताया गया है। पौराणिक मान्यता यह है कि सारी पृथ्वी शेष के सिर पर सुशोभित है। शेष का वर्णन सहस्रशीर्ष सर्प के रूप में किया गया है। गोस्वामी जी ने सहस्रशीर्ष शेष को सृष्टि का आदि कारण भी वताया है और लंकाकाण्ड में उन्हें सृष्टि के प्रलय का हेतु भी बताया गया है। विनय-पत्रिका में भी इस मत की पुष्टि की गई है।

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू।
जारइ भुवन चारिदस आसू॥
सक संग्राम जीति को ताही।
सेवहिं सुरनर अग जग जाही॥

* * *

जयति

लक्ष्मणानंत भगवंत भूधर भुजग-
राज, भुबनेश भूभार हारी।
प्रलय-पावक-महा ज्वाल माला-वमन,
समन-संताप लीलावतारी॥ विनय-पत्रिका॥

इस तरह आधिदैविक रूप में शेषावतार श्रीलक्ष्मण के तीन कार्य वताये गए हैं। सृष्टि का सृजन, उसका धारण और संसार का प्रलय। अन्य पात्रों में श्रीराम और आद्याशक्ति सीता को ही इन त्रिविध कार्यों का हेतु वताया गया है। इन्हें हम आध्यात्मिक अर्थों में ईश्वर, शक्ति और काल कह सकते हैं। ब्रह्माण्ड के सृजन, स्थिति और संहार में इन तीनों को कारण वताकर गोस्वामी जी ने अपनी दार्शनिक मान्यता का परिचय दिया है। पौराणिक दृष्टि से सृष्टि के उद्‌भव की गाथा इस प्रकार है।

आदिकाल में समस्त ब्रह्माण्ड प्रलयकालीन जल में डूब गया। उस समय महासमुद्र में नारायण शेष-शय्या पर शयन कर रहे थे। बहुत काल व्यतीत होने पर नारायण ने नेत्र खोलकर चारों ओर

दृष्टि डाली। अकेलेपन से ऊबकर उन्होंने सृष्टि के निर्माण का संकल्प किया। इस तरह सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।"

आस्तिक दर्शन समस्त सृष्टि-रचना के मूल में ईश्वर का संकल्प स्वीकार करते हैं। पर ईश्वर उस समय भी अकेला नहीं होता। वह जिस शय्या पर शयन करता है वह जड़ न होकर चैतन्य है। उसका नामकरण किया गया--"शेष"। प्रलयकाल में देश और व्यक्ति की सत्ता का अभाव दिखाई देता है। वस्तुतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उस समय देश और व्यक्ति अपनी आकृति खोकर ईश्वर में सुषुप्त रहते हैं। प्रलयकाल में काल गणना के लिए कोई मापक न होने से काल का अभाव जैसा प्रतीत होता है; पर उस समय भी अखंडकाल शेष के रूप में विद्यमान रहता है। इसके लिए व्यक्ति की निद्रा का दृष्टान्त दे सकते हैं। निद्रा के समय संसार का अभाव जैसा हो जाता है, देश या व्यक्ति को कोई अनुभूति शेष नहीं रह जाती; फिर भी सोने वाला मन में या बाहर घड़ी के रूप में "काल" की कोई कल्पना लेकर सोता है--"मुझे इतने समय बाद उठना है"। काल सचेत न रहकर व्यक्ति को जगा देता है। वह संकल्प या घड़ी के दोनों में से किसी के माध्यम से ऐसा कर सकता है। विराट भी शेष (काल) का आश्रय लेकर सोता है और समय पर जागृत होकर सृष्टि की रचना का संकल्प करता है। सृष्टि-रचना की प्रक्रिया क्या है? क्या ईश्वर एक इन्द्रजाली की भाँति संसार को तत्काल बना देता है? नहीं, ब्रह्माण्ड सृजन को उसने काल से सम्बद्ध कर दिया है। संसार का प्रत्येक पदार्थ काल-चक्र के द्वारा परिचालित है। वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य, सभी में कालक्रम का यही नियम कार्य कर रहा है। बीज, उसका क्रमशः अंकुरित और परिवर्धित होना यह सब सुनिश्चित रूप में ही आगे बढ़ता है। वस्तु की उत्पत्ति के बाद उसका परिवर्धन और धीरे-धीरे उसका क्षीण होकर विनष्ट हो जाना, काल (समय) के ही अधीन तो है। इसलिए "शेष" को यदि सृष्टि के सृजन, पालन और संहार के क्रम में कारण कहकर पुकारें तो यह काव्य-कल्पना न होकर यथार्थ है। शेष का सहस्र-सिर काल की अनन्तता का प्रतीक है। काल अनन्त है, इसीलिए मानस में

श्रीलक्ष्मण का एक नाम अनन्त बताया गया है। "क्रोधवंत तब भयउ अनन्ता"। पृथ्वी कहाँ टिकी हुई है! ब्रह्माण्ड का आधार कौन है? मानस में कहा गया "शेष" लक्ष्मण।

ब्रह्मांड भुबन विराज जाके एक सिर जिमि रज कनी।

जैसे व्यक्ति के शिर पर धूल का एक कण पड़ जाने पर किसी भार की अनुभूति नहीं होती इसी प्रकार शेष को ब्रह्माण्ड के भार का कोई भान नहीं होता। वस्तुतः सारा ब्रह्माण्ड काल पर ही तो स्थित है। आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि प्रत्येक ग्रह नक्षत्र में अपनी गुरुत्वाकर्षण की क्षमताओं के कारण टिका हुआ है। उसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं है। वैज्ञानिक और पौराणिक मान्यता में तात्त्विक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रत्येक ग्रहपिण्ड में जो गुरुत्वाकर्षण है वह कहाँ से आया? विज्ञान इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देता। वह कहता है "ऐसा है"। आस्तिक 'शक्ति' की सत्ता स्वीकार करता है। उसके लिए यह भी ईश्वरीय शक्ति है उसे आप कोई नाम दें। पर इस गुरुत्वाकर्षण में भी काल की ही मुख्यता है। प्रत्येक ग्रह नक्षत्र पृथ्वी की गति में काल का ही तो नियंत्रण है। यदि किसी ग्रह नक्षत्र में कालक्रम की मर्यादा नष्ट हो जाय तो वे विचलित होकर टकरा जाँयगे और तब प्रलय अवश्यम्भावी है। अतः यह कहना सर्वथा ठीक है कि शेष (काल) के शिर पर ही सारा ब्रह्माण्ड आधारित है।

चाहे प्रलय हो चाहे सृष्टि की स्थितिकाल, शेष निरन्तर जागृत हैं। नारायण जब शयन करते हैं, जब वे स्वरूप में स्थित होते हैं; तब भी शेष यथावत् स्थित रहते हैं। काल कभी सोता नहीं। वह सदा स्थिर है। सारी सृष्टि गतिशील है। हम कहते हैं काल-चक्र गतिशील है। हम अपनी ही परिवर्तनशीलता उस पर आरोपित कर लेते हैं। सर्प से सभी भयभीत रहते हैं। सर्प काल ही का प्रतीक है।

काल व्याल कराल भूषण धरं गङ्गा शशाङ्क प्रियं

* * * ०

काल व्याल कर भच्छक जोई।
सपनेहु समर की जीतिय कोई॥

फिर सहस्त्रशीर्ष शेष से भय लगना स्वाभाविक है। श्रीलक्ष्मण के चरित्र में निरन्तर जागृत रहने का जो वर्णन प्राप्त होता है वह उनके "शेषावतार" होने का सूचक है। श्रीलक्ष्मण भयावह जान पड़ते हैं, यह सहस्त्रशीर्ष का सहज प्रभाव है। पर उनसे भयभीत वे ही होते हैं जिनकी दृष्टि शेष के मुख पर है। सर्प का मुख ही सबसे अधिक भयावना लगता है। अनन्त के हृदय पर दृष्टि जाते ही भय का लेश भी नहीं रह जाता; क्योंकि वहाँ तो नारायण का निवास है। यही स्थिति मानस में श्रीलक्ष्मण की है। उनकी वाणी की कठोरता से ब्रह्माण्ड काँपता है। पर जिनकी दृष्टि उनके हृदय पर चली जाती है उन्हें स्पष्ट दिखाई देता है कि वहाँ श्रीराम और उनकी कोमलता ही विद्यमान है। गोस्वामी जी इसीलिए उन्हें कृपा सिन्धु की उपाधि देते हैं।

सदा सो सानुकूल रहु मो पर।
कृपा सिंधु सौमित्रि गुनाकर।।

भगवान उनको शय्या बनाकर शयन करते हैं। मानो प्रभु अपने सखा जीव को उपदेश देते हैं कि काल से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। वह तो शयन और विश्राम के लिए बने हुए हैं। रात्रि को शय्या पर सोते हुए हम अपनी सम्पत्ति, परिवार सभी से दूर हो जाते हैं। फिर भी निद्रा इतनी प्रिय है कि हमें उसके लिए प्रियजनों से पृथक् होने में दुःख का अनुभव नहीं होता। मृत्यु और प्रलय भी मनुष्य जीवन के लिए विश्रामालय के सदृश हैं। सभी कहते हैं सारा संसार भगवान का है। व्यक्ति केवल एक घर नष्ट हो जाने पर इतना दुःखी होता है कि रात्रि को नींद नहीं आती। यहाँ भगवान अपनी सृष्टि को अपने समक्ष नष्ट होते देखकर अन्त में नेत्र मूंदकर आनन्द से सो जाते हैं। वह शयन भी काल की शय्या पर। भगवान के ही समान उनके जो भी भक्त हृदय में उनको धारण करते हैं वे भी काल के भय से मुक्त अनन्त भगवान की गोदी में विश्राम का अनुभव करते हैं। उत्पत्ति और स्थिति की ही भाँति प्रलय को भी काल की सहज प्रक्रिया मानकर वे इसमें भी अनन्त भगवान की कृपा के दर्शन करते हैं।

श्रीलक्ष्मण के चरित्र पर विचार करते हुए हमें उनके इस आध्यात्मिक स्वरूप को विस्मृत नहीं करना चाहिए। इसी तथ्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करने के लिए गोस्वामी जी दो प्रसङ्गों में विलक्षण रूप से अनन्त भगवान के "सकल जगत आधार" स्वरूप का बोध कराते हैं। लङ्का के युद्ध में श्रीलक्ष्मण की मूर्च्छा के दो प्रसङ्ग आते हैं। उन्हे मूर्च्छित करने का गौरव मन में अनुभव करने वाले पात्र हैं—मेघनाद और रावण। श्रीलक्ष्मण के ऊपर शक्ति का प्रहार करने के बाद मेघनाद निर्भय होकर उनके निकट चला जाता है। उसने सोचा, क्यों न विजयोपहार के रूप में लक्ष्मण को महाराज रावण के चरणों में अर्पित कर दें। किन्तु लाख प्रयास करने के बाद भी वह श्रीलक्ष्मण के शरीर को उठा नहीं पाता। अपनी सहायता के लिए मेघनाद ने लङ्का के कुशलतम योद्धाओं को बुलाया; किन्तु उसे पुनः निराशा का सामना करना पड़ा।

मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ ।।

मेघनाद जैसे अनगिनत योद्धाओं के द्वारा श्रीलक्ष्मण को न उठा सकना भौतिक दृष्टि से असंगत है; किन्तु गोस्वामी जी इसका उत्तर आध्यात्मिक दृष्टि से देते हैं। उनकी दृष्टि में इसमें कोई असंगति नहीं है, क्योंकि लक्ष्मण जगदाधार शेष हैं। ब्रह्माण्ड में कोटि-कोटि व्यक्ति हैं और उस समस्त ब्रह्माण्ड को शेष ने अपने मस्तक पर धारण कर रखा है। स्वयं मेघनाद पृथ्वी के एक देश पर स्थित है। जिस आधार पर वह स्वयं टिका हुआ है, उसे उठा पाना उसके लिए कैसे सम्भव हो सकता है। "जगदाधार शेष" कहकर वे मेघनाद के अविवेक पर भी व्यङ्ग करना चाहते हैं। यदि आधेय स्वयं आधार को नष्ट करना चाहे तो इसका तात्पर्य यही होगा कि वह स्वयं को ही विनष्ट करना चाहता है। गोस्वामी जी का तीसरा तात्पर्य यह भी है कि यह मूर्च्छा वास्तविक नहीं है। शेष न विनष्ट होता है और न तो मूर्च्छित ही। उनकी मूर्च्छा सारे ब्रह्माण्ड के विनाश का कारण बन जायगी। यह मूर्च्छा तो लीला में अनेकों उद्देश्यों की सिद्धि के लिए स्वीकार की गई थी। इस प्रसङ्ग के पूरक सन्दर्भ

के रूप में श्रीलक्ष्मण को शक्ति लगने का दूसरा प्रसङ्ग भी मानस में आता है। रावण भी श्रीलक्ष्मण पर ब्रह्म-शक्ति का प्रयोग करता है। ठीक पूर्व प्रसङ्ग की भाँति उन्हें रावण उठाकर ले जाना चाहता है। उसकी असमर्थता के बाद श्रीहनुमान जी उन्हें उठाकर प्रभु के निकट ले आते हैं। यहाँ तक दोनों प्रसङ्गों में समानता है।

छन्द—सो ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही।
परयो बीर बिकल उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही।।
ब्रह्मांड भवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रज कनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुअन धनी।।

* * * *

अस कहि लछिमन कहुँ कपि ल्यायो।
देखि दसानन बिसमय पायो।।

किन्तु इसके बाद प्रसङ्ग में नितान्त भिन्नता है। प्रथम बार की तरह वैद्य औषधि विलाप का कोई उपक्रम नहीं किया गया। प्रभु ने श्रीलक्ष्मण से केवल एक वाक्य कहा और उतने में ही शक्ति और मूर्च्छा का कहीं पता भी नहीं लगा। उस वाक्य में श्रीराघवेन्द्र ने अपने चमत्कार का कोई प्रयोग नहीं किया। उसमें केवल श्रीलक्ष्मण को यह स्मरण दिलाया गया था कि उनका स्वरूप क्या है?

कह रघुबीर समुझु जियँ भ्राता।
तुम कृतान्त भच्छक सुरत्राता।।

इस वाक्य से श्रीलक्ष्मण चैतन्य हो जाते हैं।

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला।
गई गगन सो सकति कराला।।

इन विभिन्न प्रसङ्गों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलक्ष्मण के चरित्र पर विचार करते हुए हमें प्रचलित मानदण्डों को आधार बनाकर उनकी समीक्षा नहीं करनी चाहिए। विनय-पत्रिका में उन्हें "समन सन्ताप लीलावतारी" कहा गया है। मानस में उन्हें "जो अवतरेउ भूमि भय टारन" वताया गया है। लीला को चरित्र मानकर ही अधिकांश समीक्षक उनके विषय में भ्रान्त हो जाते हैं। वे क्रोधी नहीं है इसीलिए उन्हें गोस्वामी जी "शीतल" कहते हैं।

वन्दउँ लछिमन पद जल जाता।
शीतल सुभग भगत सुख दाता।।

फिर भी वे लोककल्याण के लिए क्रोध का अद्‌भुत अभिनय करते हैं। उनके चरित्र के अन्तर्निहित गुणों को गुरु वशिष्ठ नामकरण में प्रगट करते हैं। नामकरण करते हुए गुरुदेव ने सबसे पहले "लक्षण धाम" शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का तात्पर्य है जिसमें समस्त शुभ लक्षण विद्यमान हों। यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि लक्षण शब्द के द्वारा किसके लक्षणों की ओर इङ्गित किया गया है। लक्षण बड़ा ही व्यापक शब्द है, वह कहीं भी जोड़ा जा सकता है। जैसे ईश्वर का लक्षण, जीव का लक्षण, संत का लक्षण आदि। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि गुरुदेव ने इस प्रसङ्ग में लक्षण शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है। पर श्रीलक्ष्मण का चरित्र इतना व्यापक है कि उनमें सारे शुभ लक्षण देखे जा सकते हैं। वे ईश्वर, जीव, संत आदि के समस्त लक्षणों से युक्त हैं।

गोस्वामी जी ने समस्त शुभ लक्षणों की एक ही व्याख्या प्रस्तुत कर दी है।

दच्छ सकल लच्छन जुत सोई।
जाके पद सरोज रति होई।।

उनकी दृष्टि में प्रभु के मङ्गलमय श्रीचरणों में रति का होना ही वास्तविक शुभ लक्षण है। इस कसौटी पर श्रीलक्ष्मण से अधिक कोई अन्य पात्र खरा नहीं उतरता है। बाल्यावस्था से ही उनकी अनन्य रति श्रीरामभद्र के पादपद्मों में है।

बारेहि ते निज हित पति जानी।
लछिमन राम चरन रति मानी।।

इस व्रत को छोड़कर उन्होंने किसी अन्य धर्म को स्वीकार ही नहीं किया। वन-यात्रा के प्रारम्भ में प्रभु ने श्रीलक्ष्मण को लोक-धर्म का उपदेश देकर कर्त्तव्य कर्म की ओर प्रेरित करना चाहा था। बड़े ही मार्मिक शब्दों में उन्होंने लक्ष्मण के समक्ष तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण किया और उनसे अनुरोध किया कि वे अयोध्या में रुककर प्रजा को संरक्षण प्रदान करें। प्रभु ने बड़े ही युक्ति-युक्त शब्दों में

वन-यात्रा से विरत करने की चेष्टा की; किन्तु श्रीलक्ष्मण सर्वदा अडिग रहे। प्रभु ने यदि अपने उपदेश में युक्तियों का प्रयोग किया तो लक्ष्मण ने अपने उत्तर में प्रेम का आश्रय लिया। तर्क, प्रेम के सामने परास्त हो गया। प्रभु ने कहा—

बोले वचनु राम नय नागर।
सील सनेह सरल सुख सागर।।
तात प्रेम बस जनि कदराहू।
समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू।।
मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनक कर नतरू जनमु जग जायँ।।
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई।।
भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं।।
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा।
होइ सर्बाहि विधि अवध अनाथा।।
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू।
सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू।।
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि वड़ दोषू।।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।।
रहहु तात असि नीति बिचारी।
सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी।।

किन्तु प्रेममूर्ति श्रीलक्ष्मण ने प्रभु से एक प्रश्न किया था। "कृपासिंधु! मन, बचन, कर्म से जो आपके चरणों में रत है, क्या आप उसका परित्याग कर देंगे?" यह नन्हाँ-सा वाक्य प्रभु के सारे तर्कों से अधिक शक्तिशाली था। प्रभु ने श्रीलक्ष्मण से धर्मपालन का अनुरोध किया था; किन्तु यह नन्हाँ-सा वाक्य उनके लिए चुनौती वनकर खड़ा हो गया। क्या अनन्याश्रित चरणानुरागी का परित्याग

करने पर स्वयं प्रभु के धर्म की रक्षा हो सकेगी। यदि ईश्वर ही अपने धर्म का परित्याग कर देगा तो क्या जीव से यह आशा की जा सकती है कि वह अपने धर्म पर दृढ़ रह सकेगा? प्रभु ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और श्रीलक्ष्मण को वन में साथ चलने की आज्ञा प्राप्त हो गई।

महिमामयी सुमित्रा अम्बा ने इस अनन्यानुरागी को दिव्य चरण रति का आशीर्वाद देते हुए जिन शब्दों का प्रयोग किया वे मानस में सर्वथा अनुपम हैं।

छंद—उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरें राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं।।
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई।।

चरण रति समस्त साधनों का फल है।

सम जम नियम फूल फल ग्याना।
हरि पद रति रस बेद बखाना।।

सुमित्रा अम्बा ने चरण रति के साथ तीन और विशेषण जोड़ दिए। "अविरल" "अमल" "नित नित नई"। अविरल का तात्पर्य है जहाँ सन्धि का अभाव हो, दूरी का अभाव हो, उसे अविच्छिन्न भी कह सकते हैं। प्रभु के चरणो में रति हो जाने पर भी यदि किसी कारण विस्मृति या दूरी उत्पन्न हो गई तो उसे अविरल रति नहीं कह सकते। इसका एक दृष्टान्त सुग्रीव का चरित्र है। प्रभु को पहचानते ही वे चरणों में बार-बार नमन करते हैं।

बार बार नावइ पद सीसा।
प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।।

वे श्रीरामभद्र से प्रार्थना करते हैं कि ऐसी कृपा करें जिससे सब कुछ छोड़कर हम आपकी सेवा करें।

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजन करउँ दिन राती।।

किन्तु राज्य प्राप्त करते ही सुग्रीव विषय-सेवन में लगकर श्रीचरणों को भुला बैठते हैं। इसे अविरल रति न कहकर बिरल

रति कहना उपयुक्त होगा। श्रीलक्ष्मण के चरित्र में विरलता का कोई प्रश्न नहीं है। वहाँ तो शारीरिक धर्म से उत्पन्न होने वाली विरलता भी विद्यमान नहीं है। जीवन भर जागृत अवस्था में चरणों में प्रीति करने वाला व्यक्ति भी तो रात्रि में शयन करेगा ही, अतः निद्रा जन्य विरलता को तो स्वीकार करना ही होगा। किन्तु श्रीलक्ष्मण के जीवन में तो निद्रा का भी सर्वथा अभाव है। इसलिए श्रीलक्ष्मण जैसी अविरल रति सृष्टि में सर्वथा असम्भव है।

अमल का तात्पर्य है मलिनता और अपवित्रता का अभाव। विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने मल की बड़ी विस्तृत व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति, मन और इन्द्रियों सहित समग्र जीवन में मल से ओतप्रोत हो गया है।

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जमई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित, अधिक अधिक लपटाई।।१।।
नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय संग लागे।
हृदय मलिन बासना-मान-मद, जीव सहज सुख त्यागे।।२।।
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे, वचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ-चरन बिसराये।।३।।
तुलसीदास ब्रत-दान, ग्यान तप, सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।।४।।

राम-चरित-मानस में ममता को मल बताया गया है। बहिरङ्ग दृष्टि से कितना भी प्रबल वैराग्य क्यों न हो यदि अन्तर्मन में ममत्व शेष है तो उसे भी अमल वैराग्य नहीं कह सकते।

जोग अगिनि करि प्रगट तब, करम सुभा सुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ।।

इन्द्रिय जन्य वासनाओं की कामना और ममता, मन का मल ही तो हैं। श्रीलक्ष्मण के जीवन में समग्र प्रकार के मलों का सर्वथा अभाव है। उनका समग्र जीवन, शरीर, मन, प्राण प्रभु की सेवा में समर्पित हैं। अपने लिए किसी भी कामना का वहाँ अभाव है। वे तो प्रतिक्षण प्रभु को सुखी और संतुष्ट देखना चाहते हैं।

सेवहिं लखन करम मन बानी।
जाइ न सील सनेह बखानी।।

विभीषण के जीवन में प्रभु के चरणों में रति होते हुए भी कामना का मल तो आ ही जाता है। प्रभु के मङ्गलमय चरणों का चिन्तन करते हुए उनके मन में लंका के राज्य की कामना उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि वह क्षणिक ही थी। इसे उन्होंने स्वीकार किया।

उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।

श्रीलक्ष्मण के जीवन में ममत्व का लेश भी नहीं है। चित्रकूट में चतुरङ्गिणी सेना सहित श्रीभरत के आगमन का समाचार सुनकर श्रीलक्ष्मण शस्त्र-सन्नद्ध हो जाते हैं। उनका एक दृढ़ संकल्प था कि प्रभु के विरूद्ध जो भी आवेगा, विनष्ट कर दिया जायगा। उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात था कि श्रीभरत के साथ उनके सहोदर भ्राता श्रीशत्रुघ्न भी आ रहे हैं; किन्तु उनके वध का दृढ़ निश्चय भी वे कर चुके हैं।

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।।
तैसेहिं भरतहिं सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता।।

अतः श्रीलक्ष्मण के अनुराग और रति को निर्मल कहना स्वाभाविक ही है। उनकी निर्मलता पर प्रभु को इतना विश्वास है कि वे पुष्प-वाटिका में अपनी अन्तर्दशा के सम्बन्ध में निर्णय श्रीलक्ष्मण से जानना चाहते हैं। प्रारम्भ में श्रीसीता के आभूषणों की ध्वनि सुनकर प्रभु में जिस विलक्षण शृङ्गार-भावना का उदय हुआ; उसका वर्णन श्रीलक्ष्मण से करने में, उन्हें किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं हुआ। दोनों ही प्रसङ्गों में श्रीलक्ष्मण के प्रति भगवान राम का अगाध विश्वास प्रगट होता है। इसीलिए प्रभु जव लक्ष्मण को श्रोता वनाकर अपने हृदय की बातें कहने लगे तव गोस्वामी जी ने उन्हें "सुचिमन" की उपाधि प्रदान की।

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपन दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि।।

पुरातन वस्तु में प्रौढ़ता भले ही हो किन्तु पुरातनता का भान रसानुभूति में बाधक है। हर नवीनता प्रामाणिक नहीं होती। समय की कसौटी पर कसकर ही मनुष्य के स्नेह की गहराई को परखा जा सकता है। इस तरह पुरातनता और नवीनता में एक एक दोष विद्यमान है। इसीलिए रसिकों ने प्रीति में दोनों के समन्वय की आवश्यकता को स्वीकार किया है। प्रीति पुरातन होते हुए भी 'नित्य नूतन' जैसी प्रतीत हो, तभी प्रेम की समग्र सार्थकता है। पुष्प-वाटिका प्रसङ्ग में श्रीसीता के अनुराग की चर्चा इन दोनों के समन्वय के रूप में ही प्रस्तुत की गई है। श्रीसीता और भगवान राम का अनुराग अनादि काल से है। इसलिए उसे हम पुरातन कह सकते हैं।

चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई।।

किन्तु पुरातन होते हुए भी उसमें बासीपन और विरसता का अभाव है। इसीलिए उसे नवीन प्रीति भी कह सकते हैं।

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकत सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।।

श्रीलक्ष्मण भी निरन्तर प्रभु के समीप रहने वाले हैं। अत्यधिक सामीप्य से रसानुभूति में न्यूनता आ जाती है। व्यक्ति में अवज्ञा के भाव भी उदित हो जाते हैं। इसी दोष के परिहार के लिए सुमित्रा अम्बा ने "नित नित नई" रति का आशीर्वाद दिया था। श्रीलक्ष्मण के जीवन में विरसता और अवज्ञा का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। वे तो जीवन में सर्वदा प्रभु और श्रीसीता जी के चरणों को ही देखते रह जाते हैं। उन्हें चरण में इतनी रसानुभूति होती है कि संसार की तो बात ही क्या वे प्रभु के श्रीविग्रह के अन्य अङ्गों की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता नहीं समझते।

छिन छिन लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेह।
करत न सपनेहुँ लखन चित बंधु मातु पितु गेह।।

अतः यदि लक्षणों का तात्पर्य प्रभु के मङ्गलमय श्रीचरणों में रति मानें तो श्रीलक्ष्मण सर्वथा अद्वितीय हैं।

गुरु वशिष्ठ ने नामकरण का अर्थ करते हुए जिस द्वितीय शब्द का प्रयोग किया, वह है—"रामप्रिय"। प्रेमी और प्रिय दोनों शब्द भिन्न अर्थों के बोधक हैं। प्रेमी का तात्पर्य है प्रेम करने वाला और प्रिय का अर्थ है जिससे प्रेम किया जाय। नामकरण के पहिले विशेषण में श्रीलक्ष्मण के श्रीराम के प्रति प्रेम का संकेत दिया गया और दूसरे विशेषण में 'रामप्रिय' कहकर श्रीराम द्वारा लक्ष्मण के प्रति किए जाने वाले प्रेम का परिचय दिया गया। श्रीलक्ष्मण 'रामभद्र' के अनन्यानुरागी हैं तो श्रीराघवेन्द्र भी उनसे प्रगाढ़ प्रेम करते हैं। दोहावली में गोस्वामी जी ने जीवन की सार्थकता के लिए दो सूत्र प्रस्तुत किए हैं।

"की तोहि लागैं राम प्रिय, की तु रामप्रिय होहि।"

या तो तुम्हें राम प्रिय लगें अथवा तुम राम से प्रेम करो। यही वे दो महामन्त्र हैं जो ऊपर के दोहे में कहे गए हैं। यद्यपि ईश्वर और जीव का प्रेम एकाङ्गी नहीं होता फिर भी इन दो सूत्रों का तात्पर्य साधना या कृपा में किसी एक को विशेष महत्त्व देने से है। कुछ साधकों की यह मान्यता है कि जीव का कर्त्तव्य प्रभु से प्रेम करना है। ईश्वर की प्रीति और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए वे विविध जप तप आदि का आश्रय लेते हैं। दूसरी ओर स्वयं को असमर्थ समझने वाले साधकों की यह मान्यता है कि जीव अपनी किसी साधना के द्वारा प्रभु को प्रसन्न नहीं कर सकता; कृपामय प्रभु ही अपनी करुणा के द्वारा जीव को धन्य बनाते हैं।

जब कब निज करुणा सुभाव तें द्रवहुँ तौ निस्तरिए।
तुलसीदास बिस्वास आन नहिं कत पचि-पचि मरिए॥

इन दो सिद्धान्तों के संदर्भ में ही उपर्युक्त दोहे का अर्थ लिया जाना चाहिए। "की तोहि लागैं रामप्रिय" का तात्पर्य है, प्रभु को प्रसन्न करने की साधना और "की तु राम प्रिय होहि" का अर्थ है भक्तवत्सल भगवान की कृपा की निरन्तर अनुभूति। श्रीलक्ष्मण के जीवन में इन दोनों सिद्धान्तों की ऐसी समग्रता है कि यह कहना ही कठिन है कि वे इन दोनों में से किसे अपनी आराधना का केन्द्र

मानते हैं। एक ओर वे प्रवल पुरुषार्थवादी हैं; किसी कार्य को प्रारब्ध अथवा दैव पर टालना उन्हें असह्य है। समुद्र तट पर अनशन के लिए प्रस्तुत भगवान राम के समक्ष उन्होंने सिंह-गर्जना करते हुए कहा--

नाथ दैब कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा।।
कादर मन कर एक अधारा।
दैब दैब आलसी पुकारा।।

दूसरी ओर वन-यात्रा के प्रसङ्ग में जब श्रीराघवेन्द्र कर्त्तव्य-कर्म के लिए उद्‌बोधित करते हुए लक्ष्मण की वीरता की स्मृति दिलाते हुए कहते हैं--

तात प्रेम बस जनि कदराहू।
समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू।।

श्रीलक्ष्मण इस उद्‌बोधन के बदले में अपनी असमर्थता का ज्ञापन करते हुए प्रभु से स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि मैं तो आपके स्नेह के द्वारा पालित नन्हाँ शिशु हूँ।

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मंदर मेरु कि लेइ मराला।।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहिरङ्ग जीवन में श्रीलक्ष्मण पुरुषार्थ को ही प्रधानता देते हैं। पर उनका हृदय प्रभु के वात्सल्य और उनकी कृपा को ही सब कुछ मानता है। और यही समन्वय सम्भवतः लोक जीवन के लिए उपयोगी भी है, क्योंकि यह सम्भावना हो सकती है कि व्यक्ति अपनी निष्क्रियता और आलस्य को छिपाने के लिए कृपा-सिद्धान्त का दुरुपयोग करे। पुरुषार्थ की प्रधानता में भी व्यक्ति के अहङ्कारी हो जाने का भय है।

श्रीभरत और शत्रुघ्न भी रामप्रिय हैं। अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मानस में रामप्रियता की प्रसिद्धि में श्रीभरत ही सबसे आगे हैं। श्रीभरत के प्रति प्रभु का प्रेम मुखर है। वे वहुधा श्रीभरत के प्रति अपने प्रेम की घोषणा किया करते हैं।

भरत सरिस प्रिय को जग माहीं।
इहै सगुन फल दूसर नाहीं।।

*   *   *

भरत प्रान प्रिय पावइ राजू।
बिधि सबबिधि मोहि सनमुख आजू।।

अन्य लोगों की भी यह सुनिश्चित धारणा है कि श्रीभरत से बढ़कर राम का कोई प्रिय पात्र नहीं है। निषादराज और महर्षि भरद्वाज दो भिन्न श्रेणी और वर्गों के होते हुए भी एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं। श्रीनिषादराज घोषणा करते हैं––

तुलसी न तुमसों राम प्रीतम कहत हौं सौंहे किए।
परिणाम मंगल जानि अपने आनिए धीरज हिए।।

महर्षि भरद्वाज भी यही मत प्रगट करते हैं––

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।
प्रेम पात्र तुम सम कोउ नाहीं।।

श्रीलक्ष्मण के प्रति प्रभु का प्रेम प्रगट न होकर गुप्त है। फिर भी गुरु वशिष्ठ ने चारों भाइयों का नामकरण करते हुए श्रीभरत और शत्रुघ्न की अपेक्षा श्रीलक्ष्मण के साथ "रामप्रिय" जोड़ना अधिक आवश्यक समझा। वस्तुतः श्रीलक्ष्मण के प्रति भगवान राम का प्रेम सर्वथा अन्तरङ्ग है। श्रीलक्ष्मण के प्रति अपनी भावनाओं को प्रभु लोक-दृष्टि से ओझल रखना चाहते हैं। इसके पीछे प्रभु का व्यवहार दर्शन-कार्य कर रहा है। श्रीलक्ष्मण का प्रभु के प्रति व्यक्तिनिष्ठ अनुराग है। वे प्रभु से स्पष्ट शब्दों में यह कहते हैं कि मैं आपको छोड़कर गुरु, माता, पिता, धर्म, समाज किसी को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ। श्रीभरत आदि अन्य भक्त प्रभु के आदर्शनिष्ठ सेवक हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्तिगतनिष्ठा को अधिक महत्त्व दिया जाय अथवा आदर्शनिष्ठा को। यद्यपि यहाँ व्यक्तिनिष्ठा और आदर्शनिष्ठा परस्पर एक दूसरे की विरोधी न होकर, पूरक हैं। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि समाज में दोनों निष्ठाएँ एक दूसरे के पूरक रूप ही आवें। ऐसी स्थिति में किसी भी महापुरुष के समक्ष यह प्रश्न हो सकता है कि लोककल्याण

के लिए इन दोनों निष्ठाओं में से वह किसे समाज में अधिक समादृत होने दे। साधारण व्यक्ति तो सर्वदा ही व्यक्तिगत निष्ठाओं को महत्त्व देते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि आत्मकेन्द्रित होती है। महापुरुष का अन्तःकरण लोककल्याण की भावना से भरा हुआ होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में आदर्श के प्रति निष्ठा का अभाव है उसे महापुरुष स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। अतः किसी भी महापुरुष के द्वारा आदर्शनिष्ठ अनुयाइयों को महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक से अधिक आवश्यक है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि महापुरुष व्यक्तिगत निष्ठा की उपेक्षा करता है; क्योंकि यह भी एक अस्वाभाविक प्रक्रिया होगी। एक सहृदय व्यक्ति किसी के स्नेह को कैसे अस्वीकार कर सकता है। दोनों निष्ठाओं की स्वीकृति दिए जाने के पश्चात् आवश्यकता उनमें उचित-उचित सन्तुलन स्थापित करने की है।

व्यक्तिगत निष्ठा को सार्वजनिक महत्त्व देना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से असङ्गत है। सार्वजनिक रूप से तो उसी निष्ठा को महत्त्व दिया जाना चाहिए, जिसमें समाज के स्वार्थ की सिद्धि होती हो। समाज उस व्यक्ति को क्यों महत्त्व देना चाहेगा जो उसकी चिन्ता करता ही नहीं। उसके लिए तो वही व्यक्तित्व आदर्श है जिसमें लोक सेवा की भावना विद्यमान है। व्यक्तिगत निष्ठा सर्वथा निजी वस्तु है। एक आदर्श व्यक्तिनिष्ठ साधक सार्वजनिक मंच से अपनी सराहना कैसे चाह सकता है! यदि वह समाज की चिन्ता नहीं करता तो उसे भी समाज से सम्मान की चाह नहीं करना चाहिए। भगवान राम लोक-व्यवहार में उन्हीं को सम्मान और प्रशंसा प्रदान करते हैं जो श्रीभरत के समान आदर्श-निष्ठ हैं। लक्ष्मण का स्नेह उनकी निजी वस्तु है। अतः उनके अन्तर्मन में लक्ष्मण के प्रति अपनत्व की कितनी ही गहरी भावना क्यों न हो उसे सार्वजनिक अभिव्यक्ति देना उन्होंने उचित नहीं समझा। पर अपनी इस निजी भावना की स्वीकृति एकान्त क्षणों में देने में, वे संकोच भी नहीं करते।

अयोध्या के मणिमय प्राङ्गण में अपने अनन्य अनुरागी काग-

भुशुण्डि के समक्ष इसकी व्याख्या वे निज सिद्धान्त के रूप में करते हैं। "निज सिद्धान्त सुनावउँ तोही"। मानस के पृथक्-पृथक् प्रसङ्गों में प्रभु की प्रियता के भिन्न-भिन्न पात्र सामने आते हैं और कभी-कभी तो यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि वस्तुतः इनमें सर्वाधिक प्रिय कौन है। श्रीसीता जी की वन्दना करते हुए गोस्वामी जी ने उन्हें करुणानिधान की अतिशय प्रिया कहकर उनका स्मरण किया।

जनक सुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपा निरमल मति पावउँ।।

प्रिय, अति प्रिय और अतिशय प्रिय के रूप में विभाजित कर, कभी-कभी यह सिद्ध किया जाता है कि यह प्रियता की सर्वश्रेष्ठ कोटि है। शाब्दिक दृष्टि से इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है; किन्तु मानस में इसके प्रतिकूल दृष्टान्त भी हैं। अयोध्या काण्ड में भगवान राम ने श्रीभरत को संसार में सबसे अधिक प्रिय घोषित किया।

भरत सरिस प्रिय को जग माहीं।
इहै सगुन फल दूसर नाहीं।।

इस पँक्ति के अनुकूल श्रीभरत से बढ़कर प्रभु का कोई प्रिय है ही नहीं; किन्तु गुरु वशिष्ठ के समक्ष बन्दरों का परिचय देते हुए प्रभु स्वयं ही बन्दरों को श्रीभरत से अधिक प्रिय बना देते हैं।

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे।।
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहुँ ते मोहि अधिक पिआरे।।

इन वाक्यों में परस्पर एक विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। कागभुशुण्डि और प्रभु के संवाद में इसका निराकरण हो जाता है। इसे समझाने के लिए प्रभु ने अनेक पुत्रों वाले पिता का दृष्टान्त दिया। एक ही पिता के अनेक पुत्र होते हैं। उनके स्वभाव, गुण और आचार में भिन्नता होती है। पिता के लिए-सभी पुत्र समान रूप से प्रियता

के पात्र होते हैं। कोई भी पुत्र जब किसी कार्य में विशेष सफलता प्राप्त करता है, तब पिता उस समय उसको प्रोत्साहित करने के लिए उसी पुत्र की सर्वाधिक प्रशंसा करता है। ऐसी स्थिति में उसका तात्पर्य अन्य पुत्रों की न्यूनता सिद्ध करना नहीं होता है। यह तो तात्कालिक सफलता के प्रति पिता के स्नेह और वात्सल्य का परिचायक है। ऐसे वाक्यों के आधार पर पुत्रों की परस्पर तुलना नहीं की जा सकती है।

एक पिता के बिपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा।।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता।
कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।।
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई।
सब पर पितहि प्रीति सम होई।।

मानस के भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में पृथक्-पृथक् पात्रों की प्रियता का तात्पर्य भी यही है। फिर भी पिता अन्तर्मन में किसी न किसी पुत्र से अधिक स्नेह करता है। प्रभु ने भी अपने अन्तर्मन के इस रहस्य को भुशुण्डि के समक्ष प्रगट कर दिया। "भुशुण्डि! इन पृथक् गुण शील आचार वाले पुत्रों में एक पुत्र ऐसा है जो मन-बचन-कर्म से पिता का भक्त है और स्वप्न में भी दूसरा धर्म नहीं जानता। भले ही वह पुत्र अन्य दृष्टियों से अयोग्य हो पर पिता को वह प्राणों के समान प्रिय होता है।" स्वभावतः अन्य पुत्रों के समान इस पुत्र को सराहना के वाक्य सुनने को नहीं मिल सकते। अपनी अथवा अपने प्राण की कोई प्रशंसा बार बार करे तो सुनने में कितना अशोभन लगता है। यद्यपि प्रशंसा का यह अभाव प्रियता की कमी का परिचायक न होकर गहराई का परिचायक है। प्रभु ने अपने सुयोग्य पुत्रों में इस अयोग्य पुत्र के प्रति जिस अपनत्व का परिचय दिया; यही उनके अन्तस्तल की गहराई में छिपे भाव का वास्तविक परिचायक है।

एक पितु भगत बचन मन कर्मा।
सपनेहु जान न दूसर धर्मा।।

सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।
जद्यपि सो सब भाँति अयाना।।

इन पँक्तियों को पढ़ते ही बरबस श्रीलक्ष्मण का चित्र और चरित्र सामने आ जाता है। "एक पितु भगत वचन मन कर्मा" की तुलना में श्रीलक्ष्मण का वाक्य "मन क्रम वचन चरन रत होई" का स्मरण आना स्वाभाविक है। "सपनेहु जान न दूसर धर्मा" के सिद्धान्त को मानने वाला श्रीलक्ष्मण को छोड़कर कौन अन्य पात्र सिद्ध होगा। प्रभु के सभी भक्त धर्मज्ञ हैं और सन्त शिरोमणि श्रीभरत तो अपने चरित्र के द्वारा सारे धर्मों का सच्चा स्वरूप ही प्रगट कर देते हैं। मानस की मान्यता तो यही है।

जौ न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुरि धरनि धरत को।।

इन सबसे पृथक् श्रीलक्ष्मण हैं। वे किसी भी धर्म को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं। वहाँ स्पष्ट स्वीकृति है।

नर बर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति के तेइ अधिकारी।।

* * *

धरम नीति उपदेशिय ताही।
कीरति सुगति भूति प्रिय जाही।।

वस्तुतः श्रीलक्ष्मण के प्रति प्रभु का प्रेम, मञ्च और सार्वजनिक अभिव्यक्ति के स्थान पर सर्वथा ऐकान्तिक है। उसके लिए वाणी से स्वीकृति देने की आवश्यकता भी नहीं है। गुरु वशिष्ठ ने "राम प्रिय" कहकर राम से उनके ऐकान्तिक प्रेम की गरिमा को ही प्रगट किया है।

श्रीलक्ष्मण का नामकरण करते हुए उनके लिए उदार विशेषण का भी प्रयोग किया है। बहिरङ्ग दृष्टि से यह उपाधि अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। औदार्य का सम्बन्ध यदि धन अथवा दान आदि से जोड़ा जाय तो श्रीलक्ष्मण में इस प्रकार की उदारता के दर्शन नहीं होते। पर उदारता का व्यापक अर्थ हृदयङ्गम कर लेने पर प्रेममूर्ति श्रीलक्ष्मण के औदार्य में रञ्चमात्र सन्देह नहीं रह जाता

है। साधारण व्यक्ति देते हुए घबराता है; क्योंकि उसे देने में स्वसुख का वितरण करना होता है। जिन्हें अपने सुख में अपूर्णता का भान है वे उसमें दूसरों को वितरण करने के लिए कैसे प्रस्तुत हो सकते हैं। वे बेचारे कृपण हैं। देना जिसका स्वभाव है, जो उसके विना रह नहीं सकता, वही सच्चा उदार है। किन्तु उदारता की परीक्षा केवल धन के वितरण में नहीं है। धन देकर भी व्यक्ति उसके वदले में यश प्राप्त करता है। अतः इस औदार्य के पीछे भी व्यापार-वृत्ति की सम्भावना हो सकती है। श्रीलक्ष्मण ने अपना समग्र यश ही भगवान राम के श्रीचरणों में अर्पित कर दिया। स्वयं कलङ्क लेकर भी भगवान राम की यशस्विता की वृद्धि करते रहना किसी साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं है। यह उदारता श्रीलक्ष्मण के समग्र चरित्र में पग-पग पर विद्यमान है।

इस तरह महर्षि वशिष्ठ के द्वारा चारों भाइयों का नामकरण सम्पन्न हुआ। गुरु वशिष्ठ महाराजश्री को यह स्मरण कराना नहीं भूले कि राम साक्षात् ब्रह्म हैं। उनके शब्दों में "दशरथ के चारों पुत्र वेदों के तत्त्व हैं। मुनियों का धन, भक्तों का सर्वस्व और शिव का प्राण ही आज वाल-क्रीड़ा करने के लिए तुम्हारे गृह में अवतरित हुआ है।"

धरे नाम गुर हृदयँ विचारी।
बेद तत्व नृप तव सुत चारी।।
मुनि धन जन सरवस सिव प्राना।
वाल केलि रस तेहिं सुख माना।।

यह महाराजश्री के सौभाग्य की सराहना थी। उनके द्वारा अभिव्यक्त वात्सल्य का रसास्वादन करने के लिए ब्रह्म का लालायित हो उठना प्रेम की सबसे बड़ी विजय है। इसी को दृष्टिगत रखकर महर्षि भरद्वाज ने बड़े भाव भरे शब्दों में महाराज दशरथ का स्मरण किया।

दशरथ गुन गन वरनि न जाहीं।
अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं।।
जासु सनेह सकोच वस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कवहुँ निरखे नहीं अघाइ।।

"अद्भुत रूप अखंड"

वात्सल्य और माधुर्य की मधुमयी झाँकियों के बीच ऐश्वर्य और ज्ञान की स्मृति दिलाने के लिए शिशु ने एक अनोखी लीला का सृजन किया। श्रद्धामयी कौशल्या अम्बा ने अपने कुल के इष्टदेव के पूजन का संकल्प किया। बालक पूजन में बाधक न बने, अतः इसे सुलादेना ही माँ को उपयुक्त जान पड़ा। माँ ने स्नान करा कर बालक का श्रृंगार किया। सुसज्जित पालने में श्रीरामभद्र को सुला दिया। बालक की ओर से निश्चिन्त होकर वे इष्टदेव के पूजन में संलग्न हो गईं। माँ ने श्रद्धाभरे हृदय से इष्टदेव को नैवेद्य अर्पित किया। नैवेद्य अर्पित करने के पश्चात् माँ शयन करते हुए बालक को देखने के लिए पालने के पास आईं। बालक को निश्चिन्तता की नींद सोते देख कर माँ सन्तोषभरे हृदय से पूजागृह में प्रवेश करती हैं। वहाँ का दृश्य देखते ही वे स्तब्ध रह गईं। इष्टदेव को अर्पित किए गये नैवेद्य का बालक द्वारा रसास्वादन करते देख कर वे भयभीत हो उठीं। बालक का स्वतः पालने से उतर कर पूजागृह में प्रवेश कैसे सम्भव था। संशय के निवारण के लिए वे पुनः उस स्थान पर जाती हैं जहाँ बालक पालने में सुलाया गया था। आश्चर्य ! बालक पूरी तरह प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न था। चकित माँ पूजागृह में पुनः लौट कर आती हैं। यहाँ भी बालक नैवेद्य ग्रहण करता हुआ दिखाई दिया। माँ को प्रतीत हुआ कि कहीं मैं उन्मादग्रस्त तो नहीं हो गई हूँ। माँ की व्याकुलता देखते ही शिशुब्रह्म मुस्करा उठा और तब कौशल्या अम्बा को उसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का साक्षात्कार हुआ। गोस्वामी जी ने इस घटना का शब्द-चित्र इन पँक्तियों में प्रस्तुत किया है।

एकबार जननीं अन्हवाए।
करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए।।
निज कुल इष्टदेव भगवाना।
पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना।।
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा।
आपु गई जहँ पाक बनावा।।

वहुरि मातु तहवाँ चलि आई।
भोजन करत देख सुत जाई।।
गै जननी सिसु पहिं भयभीता।
देखा वाल तहाँ पुनि सूता।।
वहुरि आइ देखा सुत सोई।
हृदयँ कंप मन धीर न होई।।
इहाँ उहाँ दुइ वालक देखा।
मतिभ्रम मोर कि आन विसेषा।।
देखि राम जननी अकुलानी।
प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी।।
दो० देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि व्रह्मंड।।
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन।
वहुगिरि सरित सिंधु महि कानन।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ।
सोउ देखा जो सुना न काऊ।।
देखी माया सव विधि गाढ़ी।
अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।।
देखा जीव नचावइ जाही।
देखी भगति जो छोरइ ताही।।
तन पुलकित मुख वचन न आवा।
नयन मूदि चरननि सिरु नावा।।

पूजा की प्रक्रिया और उसके परिणाम का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप इस प्रसङ्ग में प्रस्तुत किया गया है। पूजा की इस प्रणाली में कर्म, उपासना और ज्ञान का समग्र समन्वय दृष्टिगोचर होता है। पूजा केवल कर्मकाण्ड की एक प्रणालीमात्र ही नहीं है। क्रिया के साथ भावना और दर्शन का समुच्चय ही पूजा को पूर्णता प्रदान करता है। पूजा क्या है? पूज्य के प्रति, चाहे वह प्रतिमा के रूप में हो अथवा व्यक्ति के रूप में, उसे प्रसन्न करने की चेष्टा में जिन प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है, उन्हीं को पूजन के नाम से पुकारा जाता है।

प्रतिमा-पूजन की प्रणाली के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा चुका है। सन्त परम्परा भी इस विषय में दो भागों में विभक्त है। एक ओर कबीर जैसे सन्त और विचारक हैं। जिनकी रचनाओं में प्रतिमा-पूजन का उपहास दिखाई देता है। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने प्रतिमा की पूजा का प्रखर विरोध किया। दूसरी ओर सारी पौराणिक परम्परा प्रतिमा-पूजन के माहात्म्य से भरी हुई है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस विषय में पौराणिक परम्परा को ही स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में एक तृतीय वर्ग भी है जो इस विवाद के कारण संशयग्रस्त हो जाता है। उसके लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वस्तुतः सत्य क्या है। यह भी स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि दोनों ही परम्पराएँ ईश्वर को सर्वव्यापक स्वीकार करती हैं। किन्तु इस सर्वव्यापकता से निकाला जाने वाला निष्कर्ष सर्वथा भिन्न है। निर्गुण निराकारवादी की दृष्टि में सर्वव्यापक ईश्वर को प्रतिमा के रूप में स्वीकार करना उसे देश और काल से परिच्छिन्न बना देना है। दूसरा पक्ष यह कहता है कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक है तो उसकी पूजा किसी भी स्थान में की जा सकती है। यद्यपि प्रचलित मान्यता यह है कि बुद्धिवादी प्रतिमा-पूजन का विरोध करता है। और भावुक हृदयवाले उसका समर्थन करते हैं। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह धारणा सर्वथा भ्रान्त प्रतीत होती है। वस्तुतः ऐसा जान पड़ता है कि प्रतिमा-पूजन का विरोध ऊपर से युक्तिसङ्गत प्रतीत होते हुए भी केवल भावनात्मक भय पर आधारित है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बहुसंख्यक प्रतिमा-पूजकों की दुर्बलता को ही प्रतिमा-पूजन की हीनता के दृष्टान्त के रूप में स्वीकार कर लिया गया। ईश्वर को निर्गुण निराकार स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति उन अनेक प्रश्नों से बच जाता है जिनका समाधान सरल नहीं है। ईश्वर को सगुण साकार स्वीकार करते ही अनगिनत प्रश्न उठ खड़े होते हैं। किन्तु प्रश्नों के भय से निर्गुण निराकार के सुरक्षा-कवच मे छिप जाना सच्ची बौद्धिक वीरता नहीं है। बहुधा जिन तर्कों के आधार पर निर्गुण निराकारवादी सगुण साकार ईश्वर की सत्ता का खण्डन करते हैं, वे ही तर्क किसी न किसी रूप में निर्गुणनिराकारवादियों के विरुद्ध

भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। इतिहास मूर्ति-भञ्जन की गाथाओं से भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में प्रतिमा-पूजन के विरोधियों के लिए ऐसा तर्क प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है कि जब विधर्मियों के प्रहार से मूर्ति का तथाकथित देवता अपनी ही रक्षा नहीं कर पाता, तब फिर वह पूजन करने वालों को कैसे संरक्षण प्रदान कर सकता है। किन्तु ऐसा तर्क करने वालों से यह पूछा जा सकता है कि यदि उनके सर्व-शक्तिमान निराकार ईश्वर पर कोई व्यक्ति कठोर वाक्यों का प्रहार करे तो क्या उनका तथाकथित ईश्वर ऐसे व्यक्ति को दण्डित कर सकता है? यदि नहीं तो फिर निराकार ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता भी संदिग्ध हो सकती है।

प्रतिमा-पूजन सही अर्थों में एक वैज्ञानिक और बुद्धिसंगत पद्धति है। असीमता का वैज्ञानिक सत्य सीमाओं में ही ग्राह्य बन सकता है। किसी भी पदार्थ को ग्रहण करने की यही उपयुक्त प्रणाली है। विद्युत शक्ति का उपयोग करते हुए केवल इतना ही ध्यान रखना यथेष्ट नहीं है कि विद्युत केन्द्र में कितनी क्षमता है। व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की सीमाओं का भी परिज्ञान होता है। और तब वह अपनी आवश्यकता के अनुकूल बल्ब के माध्यम से प्रकाश ग्रहण कर लेता है। ससीम उपलब्धि से वस्तु की सीमाओं का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अपरिच्छिन्नता का सत्य परिच्छिन्न होकर ही लोककल्याण का हेतु बन पाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने शयन-कक्ष में सीमित क्षमता वाले बल्ब का प्रयोग इसलिए न करे कि इससे तो प्रकाश अल्प और परिच्छिन्न सिद्ध हो जायेगा, तब असीमता का ऐसा आग्रह उसे अन्धकार में रहने को ही बाध्य कर देगा। प्रतिमा में असीम ब्रह्म की उपस्थिति व्यक्ति की सीमाओं का ही स्मरण दिलाती है, न कि ब्रह्म की परिच्छिन्नता का। विचार, भावना शब्द अथवा प्रतिमा की सीमाओं में घिर कर ही ईश्वर व्यक्ति के लिए ग्राह्य बन सकता है। जिन लोगों को ईश्वर विचार और भावना में घिरकर परिच्छिन्न नही जान पड़ता और केवल प्रतिमा में आकृति का रूप ग्रहण करते ही सीमित जान पड़ता है—परिच्छिन्नता की उनकी परिभाषा सर्वथा असङ्गत है। पदार्थ की ही भाँति प्रत्येक

व्यक्ति के विचार और भावना की भी एक सीमा होती है। अतः परिच्छिन्नता का यह अतिरंजित भय व्यक्ति को नास्तिकता की सीमा तक पहुँचा सकता है। इसीलिए भक्तों ने अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक को केवल विश्वपति या अयोध्यापति कह कर ही अधिक सन्तोष का अनुभव किया। भगवान राम के राज्याभिषेक के पश्चात् गोस्वामी जी ने सप्तद्वीपा वसुन्धरा के सम्राट के रूप में उनका उल्लेख किया।

भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला।।

पर इसके पश्चात् प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य का स्मरण दिलाया। जिन प्रभु के रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का निवास है, उन प्रभु के लिए यह उपाधि अत्यन्त तुच्छ है।

भुअन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु वहुत न तासू।।
सो महिमा समुझत प्रभु केरी।
यह बरनत हीनता घनेरी।।

कवि से यह प्रश्न किया जा सकता था कि प्रभु के इस अनन्त ऐश्वर्य का बोध होते हुए भी श्रीराम को इस तुच्छ उपाधि से विभूषित करने की क्या आवश्यकता थी? गोस्वामी जी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक अनोखी वात कहते हैं। "जिन महर्षियों को प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य का बोध है वे भी प्रभु की इस राज्याभिषेक की लीला में रस का अनुभव करते हैं; क्योंकि उस विराट के अनन्त ऐश्वर्य के वोध का फल भी यही लीला है।

सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी।
फिर एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी।।
सोउ जाने कर फल यह लीला।
कहहिं महामुनिवर दम सीला।।

सूत्र रूप में कथित ये पँक्तियां प्रारम्भिक दृष्टि में बड़ी अटपटी प्रतीत होती हैं। किन्तु इसके अन्तरङ्ग रहस्य पर विचार करते ही गोस्वामी जी की अन्तर्दृष्टि का दिव्यदर्शन प्राप्त होता है। इन पंक्तियों का

सारा रहस्य 'फल' शब्द की अर्थवत्ता में प्रगट किया गया है। एक आम्र-वृक्ष की विशालता की तुलना में उसका फल कितना लघु प्रतीत होता है। वृक्ष का मूल शाखा, प्रशाखा और पत्तों का विस्तार कितना विस्तृत है। किन्तु किसी व्यक्ति की तृप्ति के लिए वृक्ष की विशालता का ज्ञान उतना अपेक्षित नहीं है जितना उस वृक्ष के फल की उपलब्धि। वृक्ष की समग्रता का ज्ञान होने पर भी व्यक्ति फल के अभाव में भूखा ही रह सकता है। इसी तरह ईश्वर के अनन्त ऐश्वर्य का बोध भी व्यक्ति और समाज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। तत्त्वतः ईश्वर ही अनन्त ब्रह्माण्डों का स्वामी है। अनादि-काल से अनन्तकाल तक एकमात्र उसी का राज्य विद्यमान है—यह सत्य होते हुए भी लोक-जीवन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु अवतार लेकर जब वे रामराज्य की स्थापना करते हैं तब उनके इस राज्य में दुखों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिए यह कहना सर्वथा उपयुक्त ही है कि यदि श्रीराम का कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का स्वामित्व वृक्ष के समान है, तो उनका अयोध्याधिपत्त्त्व उसका फल है; क्योंकि वही जन-जीवन को तृप्ति प्रदान करता है। गंगा के अविरल जलप्रवाह में भी अपनी प्यास बुझाने के लिए व्यक्ति को उसे किसी नन्हें पात्र अथवा चुल्लू में लाना पड़ता है। विराट ईश्वर को एक प्रतिमा में प्रतिष्ठापित करना इसी प्रक्रिया का परि-चायक है।

किन्तु प्रतिमा-पूजन के आलोचकों का आरोप सर्वथा निराधार हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रतिमा-पूजन के दार्शनिक और भावनात्मक पक्ष की उपेक्षा करके मात्र यान्त्रिक प्रणाली के रूप में प्रतिमा का पूजन व्यक्ति में ऐसी संकीर्णता की सृष्टि करता है जिसे देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या ईश्वर-भक्ति का यही स्वरूप है? जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पौराणिक परम्परा में प्रतिमा-पूजन को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। फिर भी महर्षि वेदव्यास ने इसके द्वितीय पक्ष की उपेक्षा नहीं की। श्रीमद्भागवत में उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की है कि समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा में स्थित ईश्वर की उपेक्षा करके जो केवल प्रतिमा

अनेक प्रेमी प्रिय-वियोग में प्राण देना चाहते हैं, किन्तु दे नहीं पाते। क्योंकि यह प्राण-त्याग आत्म-हत्या के स्थान पर व्याकुलता के मार्ग से होना चाहिए। किन्तु जीवन प्रारब्ध से सम्बद्ध है, इसीलिए व्यक्ति चाह कर भी मर नहीं पाता। किन्तु दशरथ के लिए शाप उनकी अमरता का हेतु बन गया। धर्म के प्रमाद के लिए यदि उन्हें दण्डित होना पड़ा, तो राम-प्रेम के कारण वह दण्ड भी उनके लिए वरदान बन गया :

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयउ सुर-धाम॥

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवँहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय बिषाद मन माहिं॥

× ×

सजि आरती मुदित उठि धाई।
द्वारेहिं भेंटि भवन लेइ आई॥

× ×

सुतहि ससोच देखि मनु मारें।
पूँछति नैहर कुसल हमारें॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई।
पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥

× ×

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।
भूपति सुरपतिपुर पगु धारेउ॥

× ×

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति।
मनहुँ जरे पर लोनु लगावति॥

× ×

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा।
पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥

अर्थ—नगर के लोग श्रीभरत को मिलते थे, किन्तु वे उनसे कुछ बोलते नहीं थे, तथा प्रणाम करके चुपचाप निकल जाते थे। श्रीभरत किसी से कुशल-क्षेम पूछ नहीं पा रहे थे; उनके मन में भय एवं विषाद समाया हुआ था।

उठीं। किन्तु लगता है कौशल्या अम्बा के पूजन से सन्तुष्ट प्रभु उन्हें अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराने का निश्चय कर चुके थे।

एक ही काल में माँ के समक्ष ईश्वर के दो रूप अभिव्यक्त होते हैं। एक रूप में वह पालने में सुषुप्त हैं, और दूसरे रूप में वे भोक्ता बन कर नैवेद्य का स्वाद ले रहे हैं। वेदान्त का ब्रह्म अकर्त्ता और अभोक्ता दोनों ही है। वह आत्माराम है, क्योंकि उससे कोई भिन्न पदार्थ है ही नहीं। पालने पर सुषुप्त ब्रह्म वेदान्त के ब्रह्म का ही प्रतीक जान पड़ता है। अपने तुरीय स्वरूप में स्थित ब्रह्म जगत्व्यापार से सर्वथा निर्लेप है। किन्तु दूसरी ओर भक्तों की दृष्टि में सब कुछ ईश्वर ही करता है। वह अभोक्ता न होकर भाव का भूखा है। कौशल्या अम्बा के पूजागृह में इसी रूप में विद्यमान है। वहाँ वह कौशल्या अम्बा के द्वारा अर्पित किए हुए नैवेद्य का रसास्वादन कर रहा है। मानों इन दो भिन्न झाँकियों के माध्यम से भी गोस्वामी जी समन्वय का तत्त्व प्रगट करते हैं। यहाँ यह भी संकेत प्राप्त होता है कि एक देश अथवा किसी विशेष काल में ब्रह्म के प्रगट होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह उस काल में अन्य देशों में विद्यमान नहीं है। एक ही ब्रह्म का स्वरूप, भावना की भिन्नता से पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। उसमें किसी को सत्य और किसी को मायिक स्वीकार करना दुराग्रह मात्र है। जैसे एक ही व्यक्ति जाग्रत और सुषुप्ति अवस्था में भिन्न-भिन्न सा प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अलग नहीं है। उसी तरह ब्रह्म भी भावना भेद से पृथक् प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः एक ही होता है।

माँ के समक्ष भ्रान्ति की वही समस्या विद्यमान है जो अधिकांश साधकों के जीवन में पाई जाती है। जब वे भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म और ईश्वर के पृथक् स्वरूपों का वर्णन पढ़ते अथवा सुनते हैं, तब उनके मन में यही प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर अनेक हैं?

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।
मतिभ्रम मोरि कि आन बिसेषा।।

माँ की व्याकुलता देख कर प्रभु के होठों पर मधुर हँसी खेल उठती

है। और वे कौशल्या अम्बा के समक्ष अपना अखंड रूप अभिव्यक्त करते हैं। जिसके रोम-रोम में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्मा, शिव की गणना करना सम्भव ही नहीं था। विशाल पर्वत, वन और नदियों की तो कथा ही क्या; काल, कर्म, गुण, ज्ञान और स्वभाव सभी वहाँ साकार रूप में दृष्टिगोचर हो रहे थे। जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा था उसके विषय में पहले कुछ सुना हुआ भी नहीं था। लोक सम्मोहिनी माया हाथ जोड़कर प्रभु के समक्ष खड़ी थी। उसके मुख पर भय के भाव अंकित थे। जीव को मुक्त करने वाली महारानी भक्ति भी वहाँ विद्यमान थीं। वहाँ माया और भक्ति के मध्य में जीव भी विद्यमान था। इस अद्भुत दृश्य को देखकर कौशल्या अम्वा नेत्र मूँद कर प्रभु के चरणों में प्रणत हो जाती हैं।

देखि राम जननी अकुलानी।
प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी।।
देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।।
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन।
वहुगिरि सरित सिंधु महि कानन।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ।
सोउ देखा जो सुना न काऊ।।
देखी माया सव विधि गाढ़ी।
अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।।
देखा जीव नचावइ जाही।
देखी भगति जो छोरइ ताही।।
तन पुलकित मुख वचन न आवा।
नयन मूदि चरननि सिरु नावा।।

वात्सल्यमयी कौशल्या अम्वा को अपने अखण्ड रूप का साक्षात्कार कराकर शतरूपा के रूप में कौशल्या अम्वा को दिये गये वचनों की पूर्ति की। उपर्युक्त पंक्तियों में गोस्वामी जी ने प्रभु के स्वरूप के लिए 'अद्भुत' और 'अखण्ड' दो शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रह्म

तो अखण्ड है ही किन्तु अद्भुतता यही है कि जहाँ खण्ड की प्रतीति हो रही थी, वहीं खण्ड में अखण्ड का साक्षात्कार हो रहा है। अनन्त ब्रह्माण्डों में नन्हीं पृथ्वी, पृथ्वी का एक खण्ड जम्मूदीप, जम्मूदीप का लघु खण्ड भारतवर्ष, भारतवर्ष के लघु भाग में स्थित अयोध्यानगर और उस अयोध्या नगर के लघु पूजा-प्रकोष्ठ में नन्हाँ शिशु स्वयं में अनन्त ब्रह्माण्डों का साक्षात्कार करा देता है। वस्तुत: अखण्ड खण्डित नहीं हो सकता; फिर भी ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिससे अखण्ड में खण्ड की प्रतीति होने लगे। इसके लिए सूर्यग्रहण का दृष्टान्त दिया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के ग्रहणों के लिए ज्योतिष-शास्त्र में अनेक नाम दिये गये हैं। जब सूर्य का एक अंश अन्धकार-ग्रस्त दिखाई देता है तब ज्योतिषशास्त्र की भाषा में उसे खण्डग्रास कहते हैं। और जब समग्र सूर्य अन्धकारग्रस्त हो जाता है तब उसे खग्रास की संज्ञा दी जाती है। पर वस्तुत: खग्रास और खण्डग्रास दोनों ही शब्द कोई अर्थ नहीं रखते। क्योंकि विश्व के एक भाग में जब खग्रास या खण्डग्रास दिखाई देता है, तब विश्व के अन्य भागों में सूर्य पूरी तरह से प्रकाशित होता रहता है। भारतवर्ष के अनेक भागों में सूर्य को ग्रहण से मुक्त करने के लिए प्रार्थना, जप, और उपासनाएँ की जाती हैं। जब कि उसी समय अन्यत्र सूर्य में किसी संकट की प्रतीति नहीं होती। ग्रहण, अन्धकार, संकट, इनका सम्बन्ध व्यक्ति की सीमित दृष्टि से ही है। सूर्य के स्वरूप से इसका कोई रञ्चमात्र सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप भी सूर्य की ही भाँति है।

राम सच्चिदानंद दिनेसा।
नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।।
सहज प्रकास रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।।

प्रभु भी अवतार काल में परिच्छिन्न से प्रतीत होते हैं। उनमें भी हर्ष, विषाद, रोष आदि के भाव दिखाई देते हैं। किन्तु यह सब व्यक्ति की दृष्टि की प्रतीति मात्र है। श्रीसीता के अपहरण की लीला सम्पन्न हो जाने के पश्चात् प्रभु पम्पासर के निकट वृक्ष की

छाया में आसीन हैं। गोस्वामी जी उस समय की छवि का चित्र प्रस्तुत करते हुए इन पंक्तियों का प्रयोग करते हैं।

'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'

अगले ही क्षण देवर्षि नारद प्रभु का दर्शन करने के लिए आते हैं, और उन्हें प्रभु की मुखमुद्रा पर व्यथा और दुःख के भाव अंकित दिखाई देते हैं।

बिरहवंत भगवंतहि देखी।
नारद मन भा सोच बिसेषी।।

भगवान शिव को प्रभु परम प्रसन्न दिखाई देते हैं और देवर्षि नारद को परम व्यथित। श्रीसीता और भगवान राम का वियोग वास्तविक नहीं है अतः व्यथा का कोई प्रश्न ही नहीं था। अपने अन्तःकरण को ही प्रभु में आरोपित कर देवर्षि नारद प्रभु के व्यथित न होने पर भी स्वयं शोकग्रस्त हो जाते हैं।

इसीलिये रामचरितमानस में भावोत्कर्ष के चरम क्षणों में जब व्यक्ति स्वयं को रस में सराबोर पाता है, तब हठात् उसे गोस्वामी जी रसप्रवाह से पृथक् कर विवेक की भूमि में खड़ा कर देते हैं। वे उसे यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि यह सब लीला और अभिनय मात्र है। मानस-चिन्तन के प्रथम खण्ड में इस प्रश्न पर एक भिन्न दृष्टि से विचार किया जा चुका है। किन्तु इसे एक भिन्न दृष्टि से भी देखा जा सकता है। बालकों के लिए पाठ्यक्रम का निर्धारण करते हुए उनके सर्वांगीण विकास का ध्यान रखा जाता है। स्वभावतः भिन्न-भिन्न बालकों की किसी विषय में विशेष अभिरुचि होती है, किन्तु उसकी अभिरुचि के साथ-साथ उसके सन्तुलित विकास के लिए यह अपेक्षित है कि उसे रुचि से भिन्न विषयों का भी प्रशिक्षण प्रदान किया जाए। साहित्य और विज्ञान की दिशाएँ भिन्न हैं। साहित्य की कक्षा में बैठे हुए छात्र के समक्ष चन्द्रमा का एक मधुर और आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया जाता है। नन्हें बालकों के लिए वह चन्दामामा है, जो रजतपात्र में किरण का अमृत लेकर अपने दुलारे भानजों को पिलाने के लिए आकाश में उदित होता है। युवकों के लिए वह सौन्दर्य का प्रतीक है। चन्द्रमा को देखकर उसे अपनी

प्रेयसी के मुख की स्मृति आती है। साहित्य की कक्षा में बैठे हुए छात्र के लिए काव्यानन्द की अनुभूति के लिए यह सभी यथार्थ है। किन्तु विज्ञान की कक्षा में प्रवेश करते ही साहित्य का सत्य उसके लिए सर्वथा गौण हो जाता है। न तो वहाँ वह मामा ही है और न ही सौन्दर्य का प्रतीक। वहाँ उसके समक्ष चन्द्रमा का वह चित्र होता है जिसमें ज्वालामुखी के बड़े-बड़े गर्त दिखाई देते हैं। जहाँ प्राणवायु का सर्वथा अभाव है। साहित्य का चन्द्रमा उसे मानसिक रसानुभूति का दान देता है तो दूसरी ओर चन्द्रमा का वैज्ञानिकस्वरूप उसकी बौद्धिक-जिज्ञासा का उपशमन करता है। जीवन को दोनों की ही अपेक्षा है। इसी तरह भक्त भी ईश्वर के विराट विश्वविद्यालय का एक छात्र है और ईश्वर, भक्त के सन्तुलित विकास के लिए उसे भावना, विवेक, और कर्म के समन्वयात्मक रूप का परिचय देना चाहता है। इसीलिए वह कौशल्या अम्बा की गोद में नन्हाँ शिशु बन कर किलक उठता है। माँ के अन्तःकरण को वात्सल्यरस से ओतप्रोत कर देता है। और दूसरे ही क्षण अपने अद्भुत अखण्ड रूप का दर्शन कराकर वह माँ को अध्यात्म सत्य की अनुभूति कराना चाहता है।

एक नन्हें से प्रकोष्ठ में अगणित ब्रह्माण्डों का दर्शन कैसे सम्भव हुआ? इस प्रश्न का समाधान कई रूपों में किया जा सकता है। ब्रह्माण्ड क्या है? उसका निर्माण कैसे होता है? ब्रह्माण्ड निर्माण के मूलतत्त्व क्या हैं? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त ब्रह्माण्डों का निर्माण किसी स्थूल पदार्थ से न होकर ईश्वर के संकल्प से होता है। इसलिए यह भी कह सकते हैं कि इन ब्रह्माण्डों की अवस्थिति ईश्वर के संकल्प में ही है। ईश्वर के संकल्प से एकाकारता प्राप्त होते ही अमित ब्रह्माण्डों का साक्षात्कार होना स्वाभाविक ही है।

अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि वस्तु के विस्तार को देखने में नेत्र की सीमाएँ बाधक हैं। किसी अवरोध को भेद कर देख पाना नेत्र के सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है। और जहाँ किसी अवरोध के न होने पर वह बहुत बड़ी दूरियों तक देख पाता है तब भी वह

वस्तु का यथार्थ रूप नहीं होता। खुले आकाश के नीचे व्यक्ति के नेत्र सहस्रों ग्रह-नक्षत्रों को देख लेते हैं, किन्तु वह ग्रह-नक्षत्रों का यथार्थ रूप न होकर प्रकाश-विन्दु के रूप में ही प्रतीत होता है। दृष्टि की क्षमता में विस्तार भौतिक विज्ञान के माध्यम से भी किया जाता है। अवरोध के पार देखने के लिए वह ऐक्सरे (X-ray) का प्रयोग करता है। आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रों का स्वरूप देखने के लिए दूरवीक्षण यंत्र का प्रयोग करता है। पर इन पदार्थों की क्षमता भी सीमित ही है। सर्वसमर्थ ईश्वर जव किसी को विराट ब्रह्माण्डों का साक्षात्कार कराना चाहता है तव वह भक्त के नेत्रों के इस असामर्थ्य को समाप्त कर देता है। इसी को हम दिव्यचक्षु कह सकते हैं। महाभारत में अर्जुन को विराट रूप का साक्षात्कार कराने से पहले भगवान श्रीकृष्ण उसे दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। रामचरित मानस में कौशल्या अम्वा और कागभुसुण्डि को विराट रूप का साक्षात्कार कराया जाता है। किन्तु दोनों ही प्रसङ्गों में दिव्यदृष्टि दिए जाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यद्यपि यहाँ भी इसी दिव्य-दृष्टि की कल्पना की जा सकती है। अर्जुन को जिन परिस्थितियों में विराट रूप का दर्शन कराया जाता है, वह कौशल्या अम्वा और कागभुसुण्डि की मनःस्थिति से सर्वथा भिन्न हैं। महाभारत में विराट रूप का साक्षात्कार उपदेश के मध्य में कराया जाता है। अर्जुन तार्किक मुद्रा में संशय का समाधान पाने के लिए प्रस्तुत है। उसका स्वयं अपनी दृष्टि के प्रति आग्रह है। विराट रूप का दर्शन होने के पश्चात् वह यह कह सकता है कि नेत्र की सीमित सामर्थ्य को देखते हुए उसे जो कुछ दिखाई दिया, वह उसका मतिभ्रम तो नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके दर्शन को युक्तिसङ्गत रूप में प्रस्तुत करने के लिए श्रीकृष्ण को दिव्यदृष्टि देने की घोषणा करनी पड़ती है।

कौशल्या अम्वा और कागभुसुण्डि की मनःस्थितियाँ सर्वथा भिन्न थीं। कागभुसुण्डि जी प्रभु के स्वरूप से परिचित हैं। केवल कुछ क्षणों के लिए प्रभु की कौतुक-भरी वाल लीला देख कर वे भ्रमित हो उठे हैं। स्वयं उनमें भी प्रकृति के सप्तावरण में प्रविष्ट होने की सामर्थ्य है। अपनी क्षमता भर वे ब्रह्माण्ड के एक छोर तक

पहुँच कर आँखें मूँद लेते हैं और तव प्रभु अपने उदर में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का दर्शन कराते हैं। कौशल्या अम्वा के अन्तःकरण में स्वतः इस प्रकार की कोई जिज्ञासा नहीं थी। उनके लिए यह सर्वथा अप्रत्याशित था। मानों उनकी सरल पूजा से प्रसन्न होकर प्रभु ने स्वतः अपनी ओर से विराट रूप का साक्षात्कार कराना आवश्यक समझा। इसलिए अर्जुन के प्रसङ्ग की भाँति कागभुसुण्डि अथवा कौशल्या अम्वा को यदि दिव्यदृष्टि प्रदान भी की गई तो उसे घोषित करने की कोई आवश्यकता न थी।

कौशल्या अम्वा, कागभुसुण्डि और अर्जुन के विराट रूप-दर्शन में कुछ पार्थक्य विद्यमान है। अर्जुन ने विराट रूप में भीष्म द्रोणादि महारथियों को मृत रूप में देखा। कागभुसुण्डि ने प्रभु के उदरस्थ कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में अपने ही कोटि-कोटि रूपों के दर्शन किये। कौशल्या अम्वा को विराट रूप दर्शन में काल, कर्म, स्वभाव, गुण, माया, भक्ति आदि के साकार रूप के दर्शन होते हैं। यहाँ भी तीनों की अवस्था के भेद से ही यह भिन्नता परिलक्षित होती है। अर्जुन के समक्ष मुख्य रूप से युद्ध की समस्या थी। उसे अपने ही पूज्य परिजनों पर शस्त्र का प्रयोग करने में संकोच का अनुभव हो रहा था। उसके कर्त्तृत्व की भ्रान्ति मिटाने के लिए यह वताना आवश्यक था कि ईश्वर के संकल्प में वे पहले ही मृत हो चुके हैं।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च।
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्॥
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

कागभुसुण्डि को अव्याहत गति का आशीर्वाद प्राप्त था। इसमें स्वयं के प्रति उनमें अद्वितीयता की भ्रान्ति हो सकती थी। इसलिए इस भ्रान्ति के निवारण के लिए उनको ही उनके अनेक रूपों का साक्षात्कार कराया गया। कौशल्या अम्वा के समक्ष ऐसी कोई समस्या नहीं थी। इसलिए प्रभु ने उनके समक्ष आध्यात्मिक तत्त्व के सभी पक्षों को व्यक्त कर दिया।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में ईश्वर, जीव, माया, भक्ति, ज्ञान, दुःख के हेतु

ग्रौर दुःख निवारण के उपायों का सङ्केत प्राप्त होता है। ग्ररण्यकाण्ड में भक्ताग्रगण्य श्रीलक्ष्मण ने भगवान राम से जिन प्रश्नों का उत्तर चाहा था उनमें वैराग्य को छोड़कर शेष सभी प्रश्नों का सांकेतिक उत्तर विराट रूप के दर्शन में प्राप्त होता है। वैराग्य के स्थान पर दुःख ग्रौर उसके निवारण के उपाय को रखा जा सकता है। क्योंकि वैराग्य ही दुःख की निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

ईश्वर ग्रसीम ग्रौर ग्रविभाज्य है। समस्त ब्रह्माण्डों का निवास उसके एकांश में है। माया ग्रौर भक्ति की उपस्थिति के द्वारा उसके बंधन ग्रौर मोक्ष प्रदान करने की सामर्थ्य का परिचय प्राप्त होता है। ग्रगणित ब्रह्मा ग्रौर शिव के निवास से श्रीराम की सर्वपरता सिद्ध होती है। भगवान राम ने ग्ररण्यकांड में ईश्वर की यही संक्षिप्त परिभाषा स्वीकार की है।

दो० माया ईस न ग्राप कहँ जान कहिए सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्व पर माया प्रेरक सींव।।

जीव की परिभाषा का संकेत इस वाक्य में प्राप्त होता है।

देखा जीव नचावइ जाही।

जीव ईश्वर का ग्रंश है। ग्रतः तत्त्वतः वह भी उन्हीं लक्षणों का ग्रधिकारी है। किन्तु ग्रपने स्वरूप को भूल कर जव वह माया के संकेत पर नृत्य करने लगता है, तव उसे जीव कह कर पुकारते हैं। ग्रतः "देखा जीव नचावइ जाही" कह कर उसी सत्य की ग्रोर संकेत किया गया है। दुःख के हेतु के रूप में मानस में चार कारणों की चर्चा की गई है।

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म स्वभाव गुन घेरा।।

यहाँ पर विराट रूप के दर्शन में भी इन चारों की उपस्थिति का दिग्दर्शन कराया गया। इन चारों के साथ इन पर विजय पाने के लिए ज्ञान की भी उपस्थिति स्वीकार की गई है।

काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ।
सो देखा जो सुना न काऊ।।

माया की सामर्थ्य का परिचय देने के लिए उसके साथ "गाढ़ी" शब्द

का प्रयोग किया गया है। वन्धन की कठोरता के लिए प्रगाढ़ शब्द का प्रयोग करते हैं। 'गाढ़ी' प्रगाढ़ता का ही संक्षिप्त रूप है। प्रगाढ़ माया भयभीत है—यह भक्ति की उपस्थिति की ओर संकेत करता है। उत्तरकाण्ड में यह वताया गया है कि माया नर्त्तकीमात्र है। भक्ति रघुबीर की प्रिया है। इसलिए माया भक्ति से भयभीत रहती है।

पुनि रघुबीरहिं भगति पिआरी।
माया खलु नर्तकी बिचारी।।
भगतिहि सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया।।

भक्ति का कार्य है जीव को बन्धन से मुक्त कर देना। इसीलिए वे भी विराट रूप में प्रभु के समीप ही खड़ी हैं। इस तरह प्रभु ने संक्षेप में सभी आध्यात्मिक प्रतीकों को साकार रूप में माँ के समक्ष प्रगट कर दिया। कौशल्या अम्वा इस अद्भुत दृश्य को देखते ही भयभीत होकर नेत्र मूँद लेती हैं। नेत्र मूँदने की यह प्रक्रिया विराट रूप दर्शन की मानस के दोनों प्रसङ्गों में समान रूप से प्राप्त है।

मूँदेउँ नयन तृसित जब भयऊँ।
पुनि चितवत कौसलपुर गयऊँ।।

किसी वस्तु की सिद्धि के लिए जिन प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है—उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार नेत्र हैं। जब किसी वस्तु को हम अपनी आँखों से देख लेते हैं, तब उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। वहुधा नास्तिकों द्वारा ईश्वर के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण की माँग की जाती है। क्या वस्तुतः नेत्रों का प्रमाण इतना प्रवल है कि उन्हीं के द्वारा ईश्वर को प्रमाणित करना होगा? नेत्र की अपनी सीमाएँ हैं। किसी वस्तु का न दिखाई देना उसके अभाव का ही परिचायक नहीं है। आवरण और अन्धकार जैसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे वस्तु के होते हुए भी नेत्र उसका साक्षात्कार न कर सकें। अन्धकार ही क्यों, तीव्र प्रकाश में भी आँखें चौंधिया जाती हैं। आँखे स्वतः मुँद जाती हैं। ईश्वर को देखते हुए आँखों का मुँद जाना प्रमाणों की असमर्थता का परिचायक है। मानों असीम को देख कर

ससीम को अपनी क्षुद्रता का भान हो जाता है। प्रमाण व्यक्ति के अपने आत्मसन्तोष के लिए होते हैं। ईश्वर अप्रमेय है। प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। उसके द्वारा व्यक्ति अपने ही संशयालु मन को सन्तोष देने का प्रयास करता है।

कौशल्या अम्बा विस्मय से स्तम्भित हो गई। वे वार-वार सोचने लगीं—जगतपिता को पुत्र मान कर मैंने उनका कितना वड़ा अनादर किया है। प्रभु उनकी इस मन:स्थिति को देखते ही पुन: नन्हें शिशु के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। किन्तु कौशल्या अम्बा अव भी ऐश्वर्य ज्ञान की मुद्रा में हैं। उन्होंने प्रभु की स्तुति करना चाहा, किन्तु जैसे वाणी भी सर्वथा मूक हो गई हो। नेत्र के द्वारा जो कुछ दिखाई देता है, वाणी उसी को भाषा के माध्यम से व्यक्त करती है। जहाँ आँखें अपनी असमर्थता को स्वीकार करके मुँद गई हों, वहाँ वाणी स्तुति करके अपनी सामर्थ्य का परिचय कैसे देती। वाणी के मौन में उसकी असमर्थता का परिचय प्राप्त होता है।

मन समेत जेहि जान न वानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।।
महिमा निगम नेति कहि कहई।
जो तेहुँ काल एक रस अहई।।

तत्त्वज्ञ महाराज श्रीजनक की वाणी में इसी स्थिति का सङ्केत प्राप्त होता है। कौशल्या अम्बा वड़ी ही कठिनाई से वाणी के द्वारा कुछ शब्दों का प्रयोग कर पाती हैं। उन्होने प्रभु से प्रार्थना की—प्रभु! अव कभी भविष्य में मेरी वुद्धि माया से भ्रान्त न हो। मुझे सर्वदा आपके इस स्वरूप का ज्ञान वना रहे। किन्तु प्रभु कौशल्या अम्वा के इस अनुरोध को स्वीकार नहीं करते। वे तत्काल उन्हें माँ कह कर सम्बोधित करते हैं और उनसे अनुरोध करते हैं कि "माँ! आप इस अनुभूति का वर्णन किसी से न करें।" ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि प्रभु ने कौशल्या अम्वा को वात्सल्यरस में ही निमग्न रहने क्यों नहीं दिया। और यदि विराटरूप में दर्शन देकर उन्हें विवेक की स्थिति में लाना आवश्यक था, तव फिर कौशल्या अम्वा का अनुरोध स्वीकार कर लेने में उन्हें क्या आपत्ति थी। इस

प्रसङ्ग में प्रभु मानों ज्ञान और भक्ति के समन्वय का तत्त्व प्रगट करते हैं। भोजन में जिस षड् रस को स्वीकार किया जाता है वे परस्पर भिन्न ही नहीं; अपितु विरोधी भी जान पड़ते हैं (मधुर, कटु, तिक्त, अम्ल, लवण और कषाय) किन्तु सन्तुलित मात्रा में इनमें से प्रत्येक का प्रयोग भोजन के स्वाद की बृद्धि करता है। न केवल स्वाद की दृष्टि से ही; अपितु शरीर की स्वस्थता के लिए भी विविध रसों का होना आवश्यक है। शरीर को उचित मात्रा में समस्त रसों की आवश्यकता होती है।

भक्ति साधना की प्रणाली में यही सूत्र निहित है। साधना मन को स्वस्थ और सन्तुष्ट रखने की पद्धति ही तो है। असन्तुष्ट और अस्वस्थ व्यक्ति स्वयं अपने साथ-साथ अन्य लोगों के लिए भी समस्या वन जाता है। स्वास्थ्य का सिद्धान्त क्या है? शरीर जब किसी अतिरेक की स्थिति में होता है, तब उसकी स्वस्थता के लिए सारा ध्यान उसी अतिरेक पर केन्द्रित कर देते हैं। किन्तु अतिरेक की स्थिति समाप्त होते ही शरीर को पुनः सन्तुलित स्थिति में पहुँचाने की चेष्टा की जाती है। चिकित्सक के पास एक ऐसा व्यक्ति आता है जिसने भोजन के अतिरेक में उदर को अजीर्णता की स्थिति में पहुँचा दिया है। ऐसी स्थिति में चिकित्सक के द्वारा भोजन का निषेध स्वाभाविक ही है। उसे वह कुछ समय तक उपवास की स्थिति में रखता है। और धीरे-धीरे सुपाच्य वस्तु देता हुआ नियमित भोजन की स्थिति तक ले आता है। यही स्वस्थता की सहीं प्रणाली है। कई बार रोगी को अस्वस्थता के काल में जो वस्तु अधिक अनुकूल जान पड़ती है, उसके प्रति आसक्त होकर साधारण स्थिति में भी उसी को ग्रहण करना चाहे, तो निश्चित रूप से उसके शरीर का सन्तुलित विकास रुक जायेगा। साधना प्रणाली में भी कभी-कभी इसी प्रकार की भूल दुहराई जाती है। ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म के अतिरेकवादी सिद्धान्तों में यही समस्या कार्य करती है। वेदान्त का एकाङ्गी प्रचार व्यक्ति के मन को सर्वथा शुष्क वना देता है। बौद्धिकता शक्ति की उपलब्धि के मार्ग में सहायक हो सकती है क्योंकि इससे व्यक्ति अन्धविश्वास, और मिथ्या दुराग्रह तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त हो सकता है। किन्तु

बौद्धिकता का अतिरेक व्यक्ति को एक जड़यन्त्र के रूप में भी परिवर्तित कर सकता है। यन्त्र का प्रत्येक कार्य सुनियोजित वैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित है। फिर भी वह चैतन्य नहीं है। उससे हमारी वाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, किन्तु वह व्यक्ति की मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। ऐसे यंत्र का निर्माण सम्भव है जो नियमित रूप से सुस्वादु व्यञ्जन प्रस्तुत कर सके। सम्भव है पत्नी की तुलना में वह अधिक त्रुटिमुक्त हो। किन्तु पत्नी के स्नेह, अपनत्व और आग्रह की पूर्ति कैसे कर सकता है? यन्त्र और व्यक्ति दोनों की ही उपयोगिता अपने स्थान पर है। कभी-कभी व्यक्ति और समाज के जीवन में मूढ़ता और अन्ध श्रद्धा का अतिरेक फैल जाता है। और तव वह ऐसे संक्रामक रोग का रूप धारण कर लेता है कि जिसे विनष्ट करने के लिए अत्यधिक निर्मम वन जाना पड़ता है। उस समय अंध श्रद्धा पर ही नहीं; अपितु समग्र श्रद्धा पर ही प्रहार किया जाने लगता है। और कभी-कभी यह आवश्यक भी हो जाता है; क्योंकि यह भय सम्भावित है कि यदि श्रद्धा और अन्ध श्रद्धा का भेद करके एक का खण्डन और दूसरी का समर्थन किया जाए, तो श्रद्धा की आड़ में अन्ध श्रद्धा ही जीवन में पुनः प्रविष्ट हो जाए। यदि चिकित्सक रोगी को ही सुपाच्य भोजन के चुनाव की सुविधा दे दे तो यह सम्भावित ही है कि रोगी की चटोरेपन की प्रवृत्ति अपनी स्वाद-वृत्ति को ही सुपाच्यता का नाम दे दे।

इसीलिए अनेक महापुरुषों ने कभी-कभी वड़ी ही निर्ममता से ऐसी वस्तुओं पर भी प्रहार किया है, जो उस परिस्थिति के सन्दर्भ से हट कर विचार करने पर अन्यायपूर्ण जान पड़ता है। भगवान बुद्ध के द्वारा वेद के प्रामाण्यवाद के खण्डन को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। वेद के परम प्रामाण्य के नाम पर वैदिक यज्ञों में जिस प्रकार घोर पशुवध की प्रवृत्ति का व्यापक प्रचार किया जा रहा था, जिस प्रकार हिंसा और पाखण्ड की प्रवृत्ति का पोषण हो रहा था, उसे देख कर किसी सहृदय व्यक्ति का व्यथित हो जाना स्वाभाविक ही था। अव हिंसा और पाखण्ड से उच्छेद के लिए उनके सामने दो ही विकल्प हो सकते थे। या तो वे वेद की व्याख्याओं को लेकर विवाद और

शास्त्रार्थ की स्थिति स्वीकार करते ग्रौर तव उन्हें ऐसे ग्रनावश्यक विवाद में उलझना पड़ता कि जो केवल पाण्डित्य प्रदर्शन की दुर्गम घाटियों में पहुँचा देता; क्योंकि विवाद ग्रौर शास्त्रार्थ सत्य के स्थान पर बौद्धिक चमत्कार के ही ग्रधिक परिचायक होते हैं। भगवान बुद्ध को द्वितीय विकल्प ही ग्रधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ा होगा। ग्रौर वह विकल्प यह था कि वे वेदों की परम प्रामाणिकता को ही ग्रस्वीकार कर देते। इस प्रकार ग्रधिक सरलता ग्रौर शीघ्रता से उनका उद्देश्य पूर्ण हो सकता था। उन्होंने दूसरे विकल्प का वरण किया ग्रौर ग्रपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की। वेदों के खण्डन में उनका मुख्य उद्देश्य पाखण्ड ग्रौर हिंसा के खण्डन से ही था। सम्भवतः इसीलिए वेद को परम प्रमाण मानने वाले गोस्वामी जी ने जहाँ दोहावली रामायण में वेदों का खण्डन करने के लिए भगवान बुद्ध की ग्रालोचना की—

ग्रतुलित महिमा बेद की तुलसी कीन्ह बिचार।
बेद निंद निंदित भयउ बिदित बुद्ध ग्रवतार।।

वहाँ दूसरी ग्रोर वे भाव भीने शब्दों में विनय-पत्रिका में भगवान बुद्ध की वन्दना करते हैं। विनय-पत्रिका की पंक्तियों में वे खण्डन के पीछे छिपे हुए सद्भाव को स्वीकार कर लेते हैं।

प्रवल पाखण्ड महि-मंडलाकुल देखि, निद्यंकृत ग्रखिल मखकर्म जालं।
सुद्ध बौधेकघन, ज्ञान-गुणधाम, ग्रज बौद्ध ग्रवतार बंदे कृपालं।।

पर वाद में उनके ग्रनुयायी मूल लक्ष्य को भूल कर पाण्डित्य प्रदर्शन की उन्हीं घाटियों में खो गये, जिससे भगवान बुद्ध सर्वदा वचते रहे। ग्रौर तब उनके लिए हिंसा की ग्रपेक्षा वेद ही ग्रधिक खण्डनीय हो गया। ऐसी स्थिति में चिकित्सा ने स्वयं रोग का रूप धारण कर लिया। ग्रनवरत रूप से ग्रतिरेक का यह चक्र समाज में चलता ही रहता है। इसलिए गोस्वामी जी जैसे महापुरुष समाज के लिए ग्रधिक उपयोगी हैं, जो ग्रतिरेक के स्थान पर सन्तुलित दृष्टि को ही समाज के समक्ष उपस्थित करते हैं। भक्त हृदय होते हुए भी गोस्वामी जी ने भक्ति की ग्रतिरेकवादी मान्यताग्रों से सर्वदा ग्रपने को सुरक्षित रखा। उनके समकालीन ग्रौर पूर्ववर्त्ती कृष्णभक्ति काव्य में यह ग्रतिरेक

पग-पग पर परिलक्षित होता है। स्वयं श्रीकृष्ण का चरित्र वड़े व्यापक परिवेशवाला है। पर भावुकता के अतिरेक ने उन्हें उस सीमा तक पहुँचा दिया, जब बृन्दावन की तो वात क्या, भक्तों ने निकुञ्ज से भी वाहर श्रीकृष्ण का निकलना स्वीकार नहीं किया। रसानुभूति में डूबे हुए किसी महापुरुष का ऐसा आग्रह भावराज्य का यथार्थ हो सकता है, पर जीवन के यथार्थ का इससे कोई सम्वन्ध नहीं। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने लीला-काल में लोक-कल्याण की भावना से भले ही गोपियों के अनुराग वन्धन को भुला दिया हो, किन्तु कृष्ण काव्यों में सव कुछ वही वन बैठा। और तव कोई आश्चर्य नहीं कि अन्तर्मुख महात्माओं की अपेक्षा घोर विलासी राजाओं और पलायनवादी राजाओं को श्रीकृष्ण के चरित्र में अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ हो। यह एक अद्भुत आश्चर्य है कि जहाँ भगवान कृष्ण अपने सारे चरित्र में अन्याय और अत्याचार का खुल कर विरोध करते हुए उसे मिटाने के लिए वद्धपरिकर रहे, वहाँ उनके अनुयायी भक्त कवियों ने तत्कालीन अन्याय और अनाचार के विरुद्ध कुछ भी लिखने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। भावुकता का अतिरेक ही इसका एकमात्र कारण है।

गोस्वामी जी इस दुष्परिणाम के प्रति पूर्ण सजग हैं। इसीलिए उनके महाकाव्य में भक्ति की मधुरता के साथ-साथ विवेक का उत्कृष्ट रूप भी दिखाई देता है। किन्तु वे ऐसे विवेक के पक्षपाती नहीं हैं, जो हृदय को रसप्रवाह से सर्वथा शुष्क वना दे। इसीलिए उनके राम की वाल-लीला में वात्सल्य का भाव भरा चित्र तो है ही, पर उसके साथ-साथ विराट ब्रह्म के दिव्य प्रकाश को प्रस्तुत करना वे नहीं भूलते। जिस भवन की आधार-शिला जितनी कठोर और ठोस भूमि पर आधारित होती है, वह उतना ही स्थाई सिद्ध होता है। भावुकता का भव्य भवन विवेक की ठोस भूमि पर स्थित रह कर एक रस रह सकता है। किन्तु जैसे भवन के सौन्दर्य के लिए नींव का अप्रकट रहना ही आवश्यक है, ठीक इसी प्रकार विवेक गुप्त रह कर ही भावना के सौन्दर्य की रक्षा कर सकता है।

भगवान राम कौशल्या अम्वा के भव्य भाव भवन को विवेक

की सुस्थिर नींव पर स्थित कर देते हैं। पर इसके साथ-साथ उनका यह अनुरोध भी स्वाभाविक ही है कि यह विवेक गुप्त रहे। प्रगट होकर कहीं वात्सल्य और भाव के भवन को खोखला न बना दे।

"बाल-क्रीड़ा और आध्यात्म तत्त्व"

ऐश्वर्य की इस लीला के पश्चात् गोस्वामी जी रामभद्र की वात्सल्य श्रौर माधुर्य से श्रोत-प्रोत लीला का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। महाराज श्रीदशरथ के समक्ष स्वर्णथाल में विविध प्रकार के व्यञ्जन परोसे गए। उन्होंने रामभद्र को बुलाकर लाने का श्रादेश दिया। किन्तु वे तो वाल-क्रीड़ा में तन्मय हो रहे थे, उस श्रादेश को श्रनसुना कर किया गया। महाराज ने महारानी कौसल्या से यह श्रनुरोध किया कि वे स्वयं जाकर राघवेन्द्र को ले श्रावें, कौसल्या श्रम्वा को श्राते देखकर शिशु ब्रह्म भाग खड़ा होता है। पैरों में नूपुर वज उठते हैं। श्रागे-श्रागे श्रीराम श्रौर पीछे-पीछे कौसल्या श्रम्वा एक श्रनोखा ही दृश्य श्राँखों के सामने थिरक उठता हैं। वेद ईश्वर का वर्णन नेति-नेति कहकर करते हैं। भगवान शिव भी जिनकी सीमाश्रों को नहीं जान पाते, उनको पकड़ने के प्रयास में कौशल्या श्रम्वा संलग्न हैं। दौड़ते हुए श्रीरामभद्र धूल-धूसरित हो जाते हैं श्रौर तव मुस्कराते हुए कौशल्या श्रम्वा ने राघव को गोद में उठा लिया। श्रीराघवेन्द्र को धूल में लिपटा हुश्रा देखकर महाराजश्री भी श्रपनी हँसी नहीं रोक पाते। वे उन्हें गोद में बैठा लेते हैं। भोजन प्रारम्भ होता है किन्तु श्रव भी ब्रह्म का चित्त चंचल है। श्रौर श्रन्त में श्रवसर पाते ही वे गोदी से भाग खड़े होते हैं। किन्तु जाने से पूर्व वे मुख में दही श्रौर भात लगाना नहीं भूलते।

भोजन करत बोल जव राजा।
नहिं श्रावत तजि वाल समाजा।।
कौसल्या जव बोलन जाई।
ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई।।
निगम नेति सिव श्रंत न पावा।
ताहि धरै जननी हठि धावा।।
धूसर धूरि भरें तनु श्राए।
भूपति बिहसि गोद बैठाए।।

भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकात मुख दधि ओदन लपटाइ।।

बालकोचित स्वभाव की दृष्टि से भी यह चित्र बड़ा स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। एक बालक का क्रीड़ा के आनन्द में भोजन भुला देना बड़ा ही स्वाभाविक है। भागना, धूल में लिपट जाना बालकों के सहज स्वभाव के ही अंतर्गत आता है। किन्तु भक्तों को तो प्रभु के इस खेल में भी न जाने कितने तत्त्वों के दर्शन होते हैं है।

पितृभक्ति के ज्वलंत रूप श्रीरामभद्र पिता की आज्ञा क्यों अस्वीकार कर देते हैं। उपर्युत पंक्तियों में गोस्वामी जी पिता के स्थान पर "राजा" शब्द का प्रयोग करते हैं। मानो इसी शब्द में अस्वीकृति की कुञ्जी छिपी हुई है। "राजा" शब्द वैभव और ऐश्वर्य का प्रतीक है। क्या ईश्वर को आमंत्रित करने के लिए ऐश्वर्य, वैभव या व्यञ्जन उचित माध्यम हो सकता है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का स्वामी क्या एक राजा की आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य है। महाराज श्रीदशरथ स्वयं उठकर प्रभु को बुलाने के लिए नहीं जाते, यह वात्सल्य अथवा भक्ति से भिन्न राजसिक भावना के अनुरूप जान पड़ता है। बुलाने के लिए जाने वाला सेवक तो स्वभावत: दशरथ को महाराज के रूप में देखने का ही अभ्यस्त था। इसलिए उसने यही कहा कि आपको राजा बुला रहे हैं। स्वर्ण-थाल, व्यञ्जन और राजा के आमंत्रण को प्रभु अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें तो सरल हृदय बालक ही अधिक प्रिय है।

वैयाकरण लोग शब्द के सुविचारित प्रयोग को बड़ा महत्त्व देते हैं। लोकमर्यादा के क्षेत्र में शब्दों का प्रयोग बहुत सोच समझकर किया जाना चाहिए। भगवान राम के सद्‌गुणसूचक विशेषणों में "वचन रचना नागर" भी एक है। यह उपाधि उन्हें परशुराम से प्राप्त हुई।

बिनय सील करुना गुन सागर।
जयति बचन रचना अति नागर।।

परशुराम और भगवान राम के वार्तालाप में यह बचन रचना कौशल पराकाष्ठा पर है। इसी अनुभूति के आधार पर परशुराम

ने यह उपाधि प्रदान की थी। महाराज श्रीजनक की सभा में परशुराम एक दुर्धर्ष योद्धा के रूप में आये थे। सभी राजाओं ने एक विजेता के रूप में उनका स्वागत किया। उनके चरणों में प्रणत हुए। भगवान राम ने भी उनके चरणों में प्रणाम किया पर उन्होंने परशुराम के लिए वार-वार मुनि और विप्रवर शब्द का ही प्रयोग किया। प्रारम्भ में परशुराम उनके स्वागत से वड़े प्रसन्न हुए थे। पर वार-वार विप्र और मुनि शब्द का प्रयोग सुनकर उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि यह आदर उनके व्यक्तित्व के प्रति न होकर समग्र ब्राह्मण्ड जाति के प्रति है। और तव यह नम्रता भरे शब्द भी उन्हें अप्रिय लगने लगे। उनका रोष इन शब्दों में फूट पड़ा।

वार वार मुनि विप्रबर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम।।
निपटहिं द्विज करि जानह मोही।
मैं जस विप्र सुनावउँ तोही।।
चाप स्रुवा सर आहुति जानू।
कोपु मोर अति घोर कृसानू।।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई।
महा महीप भए पसु आई।।
मैं एहिं परसु काटि वलि दीन्हे।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे।।
मोर प्रभाउ विदित नहिं तोरें।
बोलसि निदरि विप्र के भोरें।।

इस प्रसङ्ग में भी एक नन्हें से राजा शब्द ने मर्यादा पुरुषोत्तम के मुख से अस्वीकृतिसूचक वाक्य कहलाने में योग दिया। पर महाराज श्रीदशरथ अस्वीकृति से निराश नहीं हुए और उन्होंने श्रीराम की उपलब्धि के लिए भक्तिस्वरूपा महारानी कौशल्या का आश्रय लिया। ईश्वर की उपलब्धि की साधना के क्रमिक विकास का इसमें अच्छा परिचय प्राप्त होता है। साधना के प्रारम्भ में साधक ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्हीं वस्तुओं का प्रयोग करता है जो स्वयं उसकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण होती हैं। एक परीक्षार्थी जव देवता

को मनौती मानता हुआ उत्तीर्ण होने पर मिठाई चढ़ाने का वचन देता है तव वह अपनी ही मनोवृत्ति देवता पर आरोपित कर लेता है। साधना का दूसरा स्तर तव प्रारम्भ होता है जव साधक को इष्ट के स्वभाव की अनुभूति हो जाती है। और तव आराध्य को प्रसन्न करने के लिए वह उसके मनोभाव के अनुकूल उपकरणों का आश्रय लेता है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी व्यक्तिगत धारणाओं की निष्फलता से परिचित हो जाय।

स्वर्ण-थाल में परोसे हुए व्यञ्जनों को राजा द्वारा अर्पित किये जाने पर भी जव उसे स्वीकार करने के लिए प्रभु नहीं पधारते हैं तव महाराज श्रीदशरथ भक्ति का आश्रय लेते हैं। क्योंकि ईश्वर भाव का भूखा है और भक्ति में ही उसे पराधीन वनाने की सामर्थ्य है। कौशल्या अम्वा को आते देखकर रामभद्र भाग खड़े होते हैं। इस पलायन में वाल सुलभ स्वभाव तो है ही; पर साथ ही साधना का यह सिद्धान्त भी अभिव्यक्त होता है कि भक्ति के द्वारा प्रभु की उपलब्धि अवश्य होती है पर उन्हें भी श्रमित किये विना, प्रभु पकड़ में नहीं आते। भक्ति-साधना के लिए भी तो सात्विक अहंकार स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु ईश्वर की उपलब्धि के क्षणों में सात्विक अहंकार का भी परित्याग अपेक्षित है। इस सात्विक अहंकार से मुक्ति के लिए ही साधक को श्रमित करने की आवश्यकता है। चलना अथवा दौड़ना साधन का ही प्रतीक है, श्रमित हो जाना असमर्थता की स्वीकृति है। अतः कौशल्या अम्वा को भी श्रमित करना अभीष्ट है। अथवा इसके द्वारा भी प्रभु भक्तों के गौरव की वृद्धि करते हैं। ईश्वर कभी किसी की पकड़ में नहीं आता। श्रुतियाँ उसे पकड़ने में असमर्थ होकर नेति-नेति के रूप में उसका प्रतिपादन करती हैं। किन्तु भक्त के द्वारा सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रभु भी पकड़ में आ जाते हैं।

नन्हें पावों से दौड़ते हुए प्रभु अचानक धूल में गिर पड़ने का अभिनय करते हैं। और तव कौशल्या अम्वा धूल धूसरित ब्रह्म को हृदय से लगा लेती हैं। धूल धूसरित होने की इस लीला का उद्देश्य क्या है? जैसे कोई विशिष्ट बंदी वनाकर ले जाया जा रहा हो

तब वह यही चाहता है कि अधिक लोगों की दृष्टि उस पर न पड़े। वह लोकदृष्टि से छिपने का ही प्रयास करता है। इसी प्रकार ब्रह्म के विषय में भी यही ख्याति थी कि वह कभी किसी सीमा में आबद्ध नहीं होता। कौशल्या अम्बा ने ब्रह्म को पकड़कर इसे अवास्तविक सिद्ध कर दिया। पराजित ब्रह्म स्वयं को धूल के आवरण में छिपाने की चेष्टा करता है अथवा धूल-धूसरित होकर वह भक्त की परीक्षा लेता है कि ऐसी स्थिति में उसे गोद में उठाने में भक्त को संकोच का अनुभव होता है या नहीं। धूल से वस्त्र और शृङ्गार की शोभा बिगड़ जाना अवश्यम्भावी है। जिनकी आसक्ति बहिरङ्ग पदार्थ में है वे अन्तर्यामी प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं। कौशल्या अम्बा के वात्सल्य में वस्त्र और शृङ्गार का क्या महत्त्व हो सकता था, धूल-धूसरित रामभद्र को प्रसन्न वदन गोद में लोटते देखकर भक्त का हृदय भी आशा और विश्वास से ओत-प्रोत हो जाता है। उसे लगता है हम कितने भी रजोगुण अथवा तमोगुण के कलंक-पंक से आवृत क्यों न हों, अनन्त वात्सल्यमयी प्रभु की गोदी हमारा तिरस्कार न करेगी।

कौशल्या अम्बा ने श्री राघवेन्द्र को महाराजश्री की गोद में पहुँचा दिया। इस अद्भुत वेश को देखते ही दशरथ उन्मुक्त भाव से हँस पड़ते हैं। और इसके पश्चात् भोजन प्रारम्भ होता है किन्तु श्रीरामचन्द्र का चित्त चपल है। लगा कि जैसे वे अवसर की खोज में हैं। इस चञ्चलता का क्या रहस्य है? कौशल्या अम्बा के द्वारा ले आए जाने से पूर्व प्रभु अपने मित्र-मण्डल के साथ क्रीड़ा में निमग्न थे। माँ अकेले उन्हीं को पकड़ कर ले आती हैं। रामभद्र तो शील और सौजन्य की मूर्ति हैं। मित्रों से अलग किसी सुस्वादु व्यञ्जन का रसास्वादन उन्हें प्रिय नहीं लगता। वे तो अपने सखा परिकर को इस स्वसुख में समान रूप से भागीदार बनाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अकेले भोजन में कैसे आनन्द आ सकता था। इसीलिए सम्भवतः प्रभु का चित्त चपल हो रहा था। महाराजश्री अथवा कौशल्या अम्बा द्वारा अकेले श्रीरामभद्र का बुलाया जाना किसी अनुदारता का परिणाम नहीं जान पड़ता। सम्भवतः राजकुल की

परम्परा का पालन करने के लिए ही ऐसा किया गया हो। रघुवंश में ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। इसीलिए सम्भवतः ऐसी परम्पराओं का पालन किया जाता रहा होगा कि जिससे सखा और भाई प्रारम्भ से ही इस विशिष्टता के बोध के अभ्यस्त हो जाँय। किन्तु भविष्य में राम-राज्य की स्थापना का महान् कार्य जिन प्रभु से सम्पन्न होने वाला है, वे इस परम्परा को कैसे स्वीकार कर सकते थे? क्योंकि उनकी मान्यता तो यह थी कि सभी को समान रूप से आनन्द का उपभोक्ता होना चाहिए और यदि पक्षपात का ही प्रश्न हो तो उसके अधिकारी छोटे ही हैं। यह मानों प्राचीन और अर्वाचीन परम्परा का संघर्ष था, जिसमें कुछ क्षणों के लिए प्रभु प्राचीन परम्परा के प्रति आदर प्रगट करने के लिए दशरथ की गोद में बैठ जाते हैं। किन्तु अवसर पाते ही उस परम्परा का परित्याग कर देते हैं। प्रभु के चरित्र में आदि से अंत तक यही दर्शन विद्यमान है। वे प्राचीन परम्पराओं का तिरस्कार नहीं करना चाहते पर उसके अनौचित्य को उचित अवसर पर समाप्त कर देना अपना कर्त्तव्य मानते हैं।

फिर प्रभु के समक्ष केवल भाई और मित्रों का ही प्रश्न नहीं था। वे लोग तो बाद में प्रसाद के अधिकारी बनेंगे ही। किन्तु एक भक्त वह भी था कि जो मनुष्यों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता था, वह था प्रसाद का महाप्रेमी भक्त कागभुसुण्डि! प्रभु अपने भक्त को कैसे भुला सकते थे? इसलिए अवसर पाते ही मुख पर दही-भात लपेटकर गोदी से भाग खड़े होते हैं। यह दधि-ओदन उसी भक्त के लिए था, जिसने प्रसाद के विषय में एक विशिष्ट नियम ले रखा था।

लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाऊँ।
जूठन परइ अजिर महँ सोइ उठाइ मैं खाऊँ।।

भुसुण्डि प्राङ्गण में प्रतीक्षा कर रहे थे। किलकारी मार कर दधि-ओदन युक्त प्रभु को अपनी ओर आते देखकर वे गद्-गद् हो उठे। सम्भवतः श्रीगरुड़ के द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि श्रीरामभद्र की कौन सी छवि आपको सर्वाधिक प्रिय है? इसी दिन

की झाँकी का स्मरण करते हुए उन्होंने चितवनि और किलकनि को ही अधिक महत्त्व दिया।

पीत झीनि झगुली तनु सोही।
चितवनि किलकनि भावति मोही।।

"शास्त्र और शस्त्र"

शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल उचित अवस्था में महर्षि वशिष्ठ के द्वारा प्रभु का यज्ञोपवीत सम्पन्न हुआ और तव विद्याध्ययन का क्रम प्रारम्भ होता है। अध्ययन के लिए श्रीरामभद्र गुरु-गृह में जाकर निवास करते हैं।

गुर गृहँ पढ़न गये रघुराई।
अलप काल विद्या सव आई।।

विद्याध्ययन तो राजमहलों में रहकर भी किया जा सकता था ; किन्तु "गुरु-गृह" के माध्यम से विद्या के वास्तविक उद्देश्य की ओर सङ्केत किया गया। भाषा और शास्त्र का ज्ञान साध्य न होकर साधन मात्र है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति समाज में एक दूसरे के समक्ष अपने हृद्गत भावों को प्रगट करता है। भाषा व्यक्तियों को परस्पर संबद्ध करने की कड़ी है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को निरंतर उद्देश्य की स्मृति बनी रहनी चाहिए। केवल भाषा और शास्त्र का पाण्डित्य व्यक्ति में अभिमान की ही सृष्टि करता है। और तव ऐसा व्यक्ति समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। रावण को हम इसी प्रकार के पाण्डित्य का प्रतीक मान सकते हैं। श्रीहनुमान जी ने रावण को उपदेश देते हुए इसी सत्य की ओर इङ्गित किया था।

विधु वदनी सव भांति सवारी।
सोह न वसन विना बर नारी।।

एक सुन्दरी स्त्री अपने शरीर को वहुमूल्य रत्न और आभूषणों से सुसज्जित कर ले और शरीर पर कोई वस्त्र धारण न करे, तव ऐसी स्त्री की ओर किसी सभ्य व्यक्ति की दृष्टि नहीं उठ सकती। कामुक और विषयासक्त व्यक्ति ही लोलुप दृष्टि से उसे निहार सकता है। यद्यपि आभूषणों की तुलना में वस्त्र का वाह्य मूल्य अत्यंत अल्प होता है; किन्तु जीवन के वास्तविक मूल्यों की दृष्टि से वस्त्र अमूल्य है। वस्त्र, लज्जा और शील का प्रतीक है। एक सुरुचिपूर्ण वस्त्र और आभूषण धारण करने वाली महिला को देखकर समादर के भावों का उदय होता है। ठीक इसी प्रकार विद्या-वधू भी अलंकार

और साहित्य की सज्जा के साथ-साथ जब तक शील सौजन्य से विभूषित न हो, अन्तःकरण में कलुष की ही सृष्टि करती है। यह शील, सौजन्य केवल पुस्तकों का अध्ययन करने से ही प्राप्त नहीं हो जाता। शील की उपलब्धि के लिए महापुरुषों की सेवा अपेक्षित है।

सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।
जिमि बिनु तेज न रूप गुसाईं।।

सेवा का तात्पर्य है सेव्य को सुख पहुँचाने का प्रयास। सेवक अपने सुखों का परित्याग कर देता है। बिना स्वसुख की भावना का परित्याग किये सच्ची सेवा का होना असम्भव है।

सेवक सुख चह मान भिखारी।
ब्यसनी धन सुभगति ब्यभिचारी।।

सच्चा सेवक निरंतर स्वामी को सुखी रखने का प्रयास करता है। विद्या का भी वास्तविक उद्देश्य लोककल्याण के लिए सीमित स्व का उत्सर्ग कर देना ही है। इसीलिए प्राचीन परम्परा में विद्यार्थी गुरु के निकट रहकर उन्हें सेवा के द्वारा संतुष्ट कर विद्या प्राप्त करता था। विद्या के साथ अनिवार्य सेवा का समन्वय न करने पर विद्यार्थियों में उच्छृङ्खलता और स्वार्थपरायणता की वृत्ति का उदय होता है। हमारी आधुनिक समस्याओं में उच्छृङ्खलता का यह अभिशाप पग-पग पर परिलक्षित हो रहा है। इस अभिशाप से मुक्त होने के लिए किसी न किसी रूप में सेवा के प्रति हीनता की भावना मिटाकर उसे गौरव के पद पर प्रतिष्ठापित करना होगा।

गुरु-गृह की प्रणाली का एक दूसरा पक्ष भी है। जब गुरु-गृह के स्थान पर व्यक्ति अपने गृह में रहता हुआ केवल शिक्षा प्राप्ति के लिए विद्यालयों में जाता है तब उसका अनिवार्य परिणाम क्या होता है? प्रत्येक गृह और परिवार का भिन्न प्रकार का वातावरण और संस्कार होता है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी एक ओर विद्यालयों से एक संस्कार लेकर लौटता है तो दूसरी ओर परिवार में लौटकर उसके जीवन पर एक भिन्न प्रकार की छाप पड़ती है। ऐसी स्थिति में वह एक आकृति विशेष नहीं ग्रहण कर पाता। वह उस शिला के समान बन जाता है जिसमें मूर्ति का निर्माण करने के लिए अलग-

अलग शिल्पी ही नहीं; अपितु ऐरे गैरे भी छेनी हथौड़े चलाने में स्वतंत्र हैं। ऐसी स्थिति में "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" (गणेश का निर्माण करते-करते बंदर का निर्माण हो गया।) की स्थिति उत्पन्न हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है। विद्यालयों में जाने वाले विद्यार्थियों की पृथक्-पृथक् वेश-भूषा में केवल वस्त्र धारण करने की स्वतंत्रता का ही प्रश्न नहीं है? वस्त्रों की विभिन्नता में वैभव और विपन्नता की भी झलक मिलती है और ऐसी स्थिति में एक दूसरे से इर्ष्या और द्वेष का उदय स्वाभाविक है। गुरु-गृह में जब सभी विद्यार्थी समान भोजन, वस्त्र आदि की उपलब्धि करते हैं, तब उनमें स्पर्धा की सीमाएँ न्यूनतम हो जाती हैं।

राम-राज्य में परस्पर प्रीति का जो साम्राज्य छाया हुआ था उसके मूल में वैषम्य का अभाव ही कारण था।

बैर न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई।।

ऐसी स्थिति में श्रीराघवेन्द्र के गुरु-गृह में जाकर पढ़ने का उल्लेख करते हुए, गोस्वामी जी ने प्रारम्भ से ही राम-राज्य के मूल दर्शन का संकेत दे दिया। गुरु-गृह में जाकर भगवान राम थोड़े ही समय में सारी विद्याओं में पारङ्गत हो गये। गोस्वामी जी यह स्मरण कराना नहीं भूलते कि श्रुतियाँ जिन प्रभु के निःश्वास से प्रगट होती हैं वे प्रभु विद्याध्ययन करें यह भी एक विलक्षण कौतुक ही है।

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।।

निश्चित रूप से यह प्रभु का कौतुक ही है। पर यह कौतुक निरुद्देश्य न होकर सोद्देश्य है। यों तो प्रभु के अवतार की सारी लीलाएँ ही कौतुक हैं। पर उस कौतुक के द्वारा भी वे व्यक्ति और समाज को सही मार्ग का संकेत देते हैं। ईश्वर सर्व समर्थ है। वह कार्य-कारण की परम्परा के विना भी किसी कार्य को सम्पन्न कर सकता है। किन्तु इस प्रकार की चामत्कारिक प्रणाली से कोई क्रिया संपन्न करने पर प्रभु के गौरव की वृद्धि तो हो सकती थी; किन्तु इससे संसार के प्राणियों को कोई शिक्षा प्राप्त न होती। असाधारण

परिस्थितियों को छोड़कर भगवान राम के चरित्र में चामत्कारिक अंश वहुत अधिक नहीं हैं।

चमत्कार है क्या? किसी पदार्थ अथवा घटना के लिए कार्य-कारण की जिस प्रणाली से हम परिचित हैं, उससे भिन्न रूप में जव कोई क्रिया सम्पन्न होते देखते हैं तव उसे हम चमत्कार कहकर पुकारते हैं। चमत्कारों से यही सिद्ध होता है कि कार्य-कारण की जिस परम्परा से हम परिचित हैं उससे भी भिन्न प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। अतः चमत्कार विज्ञान को उसके सही स्वरूप में देखा जाना चाहिए। किन्तु अधिकांश लोगों के जीवन में चमत्कार एक तमोगुणी निष्क्रियता उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे लोग अपने मन की काल्पनिक सृष्टि में निरन्तर चमत्कारों की आशा लगाये बैठे रहते हैं। इस चमत्कार प्रिय देश में इस प्रवृत्ति ने वड़े घातक प्रभावों की सृष्टि की है। लोग वहुत वड़ी संख्या में ऐसे महात्माओं की खोज में लगे रहते हैं जो चमत्कारों से ही उनकी सारी समस्याओं का समाधान कर दें। ऐसी परिस्थिति में चमत्कार के नाम पर पाखण्डिओं को अपनी कला के द्वारा लोगों को ठगने का मार्ग मिल जाता है। इसलिए चमत्कारों के स्थान पर लोगों के अन्तःकरण में कर्म की यथार्थ प्रेरणा उत्पन्न की जानी चाहिए।

गंगा के तट पर खड़े होकर पार जाने के लिए नौका की याचना करते हुए भगवान राम से केवट ने जो व्यवहार किया; इसके पीछे यही सत्य दिखाई देता है कि केवट, भगवान राम के स्वभाव और आदर्शों से पूरी तरह परिचित था। और यही उसने दावा भी किया –

मांगी नाव न केवटु आना।
कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥

कवितावली रामायण के अनुसार केवट ने भगवान राम से यह अनुरोध किया कि वे नौका के स्थान पर जहाँ कटि तक जल है वहाँ से नदी पार कर लें।

एहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जलु, थाह देखाइ हौं जू।
परसें पग धूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंबु न और कछू लरिका केहि भांति जियाइ हौंजू।
वरु मारिए मोहि, विना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइ हौं जू॥

कटि तक जल से पार जाने की भी क्या आवश्यकता थी। यह तो वही प्रभु हैं जिन्होंने समस्त ब्रह्माण्ड को ढाई पग में नाप लिया था।

नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदीं भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरें गिरि मेरु सिलां कन होत, अजाखुर बारिधि बाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद पंकज ते प्रगटी तटिनी, जो हरै अघ गाढ़े।
ते प्रभु या सरिता तरिबे कहुँ मागत नाव करारें है ठाढ़े॥

केवट को यह भली प्रकार ज्ञात था कि प्रभु अपने चरित्र के द्वारा लोक प्रशिक्षण की जो मर्यादा स्थापित करने के लिए आये हैं, उसमें उपरोक्त दोनों ही विकल्प सम्भव नहीं थे। प्रभु ठीक उसी प्रकार नौका से गंगा को पार करते हैं, जैसे कि संसार का एक साधारण व्यक्ति किया करता है। वन-यात्रा से लेकर रावण वध तक के प्रत्येक क्रियाकलाप में यही मर्यादा दृष्टिगोचर होती है। शिक्षा प्राप्ति के लिए गुरु-गृह में जाकर भी प्रभु ने उसी परम्परा का पालन किया।

बाल चरित अति सरल सुहाए।
सारद सेष संभु श्रुति गाए॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता।
ते जन बंचित किए बिधाता॥
भए कुमार जबहिं सब भ्राता।
दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुर गृहँ गए पढ़न रघुराई।
अलप काल बिद्या सब आई॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥
बिद्या बिनय निपुन गुन सीला।
खेलहिं खेल सकल नृप लीला॥
करतल बान धनुष अति सोहा।
देखत रूप चराचर मोहा॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई।
थकित होहिं सब लोग लुगाई॥

कोशलपुर वासी नर नारि बृद्ध अरु वाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सव कहुँ राम कृपाल।।

उपर्युक्त पंक्तियों में गोस्वामी जी ने संयोजन की जिस कला का उपयोग किया है वह मननीय है। "सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।" के तत्काल वाद लिखित पंक्ति विद्या के परिणाम की ओर इङ्गित करती है। "विद्या विनय निपुन गुन शीला।" में **"विनय"** और **"शील"** शब्द इसी के परिचायक हैं। विद्या का एक फल है विनय! "विद्या ददाति विनयम्" का सुभाषित प्रसिद्ध है। गोस्वामी जी वर्षा-वर्णन के प्रसङ्ग में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

वरसहिं जलद भूमि नियराये।
जथा नवहिं बुध विद्या पाये।।

महापुरुषों की सेवा का परिणाम शील की उपलब्धि है।

शील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।

गुरु-गृह गमन की सार्थकता शील शब्द में निहित है। और "सो हरि पढ़" की सार्थकता विनय शब्द में समायी हुई है। गोस्वामी जी ने प्रारम्भ में "विद्या सव आई" कहकर समस्त विद्याओं की उपलब्धि का वर्णन करने के पश्चात् "खेलहिं खेल सकल नृप लीला" में इसे एक व्यावहारिक रूप प्रदान किया। गुरु-गृह में विभिन्न प्रकार के विद्यार्थी निवास करते हैं। उनमें से कुछ विद्याएँ सव के लिए समान रूप से उपयोगी हो सकती हैं। किन्तु उनकी पृथक्-पृथक् आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर उस विषय में विशिष्ट शिक्षा भी दी जानी चाहिए। भगवान राम के द्वारा खेल में भी "नृप लीला" का अनुकरण इसी तथ्य की ओर इङ्गित करता है। एक राजकुमार को जिसे भविष्य में सत्ता का संचालन करना हो प्रारम्भ से ही उसका प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। राज्य-सञ्चालन के प्रशिक्षण के लिए ग्रन्थ के स्थान पर नृप-लीला के अनुकरण का उल्लेख यह सिद्ध कर देता है कि गोस्वामी जी सैद्धान्तिक प्रशिक्षण की अपेक्षा व्यावहारिक प्रशिक्षण को अधिक महत्त्व देते हैं।

शास्त्राध्ययन की पंक्तियों के तत्काल वाद गोस्वामी जी भगवान राम के हाथ में शस्त्र का उल्लेख करते हैं।

करतल बान धनुष अति सोहा।

एक राजकुमार के जीवन में शास्त्र और शस्त्र का समन्वय अपेक्षित है। पहले शास्त्र और बाद में शस्त्र का उल्लेख करके गोस्वामी जी ने इन के उचित क्रम का भी संस्थापन कर दिया। राजा के समक्ष व्यवहार की जटिल समस्या होती है। क्योंकि जिनसे उसे व्यवहार करना पड़ता है वे सब भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के व्यक्ति होते हैं। एक साधारण व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होती है कि वह उन्हीं लोगों से सम्बन्ध रखे जो उसकी अभिरुचि के अनुकूल हों। किन्तु शासक का सम्बन्ध तो सारी प्रजा से होता है। ऐसी परिस्थिति में राजा के व्यवहार का आदर्श मापदण्ड क्या हो सकता है? शासन का आधार कठोर दण्ड नीति है या कोमलता? राजनीति के अधिकांश आचार्य कठोर दण्डनीति का समर्थन करते हैं। गोस्वामी जी का मत इससे सर्वथा भिन्न है। वे दण्डनीति का विरोध करते हैं। समकालीन राजनीति के संदर्भ में उन्होंने उस समय के शासकों की इसलिए आलोचना की कि वे साम, दाम, नीतियों के स्थान पर कठोर दण्डनीति का प्रयोग कर रहे हैं।

गौंड़ गवाँर नृपाल मट्टि जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल।।
नृप पाप परायन धर्म नहीं।
करि दंड विडंब प्रजा नितहीं।।

गोस्वामी जी दण्डनीति की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करते। निम्नलिखित पंक्तियों में वे दण्डनीति की महिमा स्वीकार करते हैं।

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।।

किन्तु वे ऐसी दण्डनीति का समर्थन करते हैं जिसके पीछे सहृदयता हो और जिस पर विवेक का नियंत्रण हो। शस्त्र की अपेक्षा शास्त्र को अधिक महत्त्व देकर उन्होंने अपने इसी मत को अभिव्यक्त किया। गुरु-गृह में शास्त्र का अध्ययन करने के तत्काल बाद गोस्वामी जी प्रभु के करकमलों में धनुष का उल्लेख करते हैं और अंत में लङ्का विजय

से लौटकर गुरुदेव के समक्ष शस्त्र के समर्पण का उल्लेख करने के वाद पुनः प्रभु के हाथों में धनुष और वाण का उल्लेख नहीं किया जाता। उनकी दृष्टि में दण्ड एक अंतरिम व्यवस्था है। वस्तुतः शासन का मुख्य आधार तो विवेक ही है। इसीलिए प्रभु के हाथों में धनुष वाण का उल्लेख करते हुए जो चित्र प्रस्तुत करते हैं उसमें शौर्य की अपेक्षा सम्मोहन को अधिक महत्त्व दिया गया है।

करतल वान धनुष अति सोहा।
देखत रूप चराचर मोहा।।

एक शस्त्रधारी व्यक्ति को देखकर व्यक्ति के मन में शौर्य का ही चित्र उभरता है। शौर्य हमारें अन्तःकरण में भय और आश्वासन दोनों की ही सृष्टि करता है। किन्तु प्रभु का शौर्य सम्मोहन और संरक्षण के लिए है। परशुराम के हाथ का शस्त्र, भय की सृष्टि करता है। वह दूर से ही प्रणाम करने की प्रेरणा देता है। भगवान राम के करकमलों में धनुष वाण देखकर उनके निकट पहुँचने का मन होता है। "देखत रूप चराचर मोहा।" कहकर गोस्वामी जी इसी विलक्षणता की ओर संकेत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे धनुष वाण भी प्रभु के श्रृंङ्गार का ही एक भाग हो। किसी नीतिकार ने कहा है कि हाथों का सच्चा आभूषण दान है न कि स्वर्ण–कंकण। "दानेन पाणिर्नतु कंकणेन"। संसार के शस्त्रधारियों का शस्त्र मात्र प्राण लेना जानता है। किन्तु प्रभु के वाण प्राण लेकर भी मुक्ति जैसा दुर्लभ पदार्थ एक क्षण में प्रदान कर देते हैं। प्रभु का तूणीर अक्षय है। संसार के दान दाताओं के समक्ष कोष के क्षय की समस्या वनी रहती है। यदि कोष में द्रव्य न हुआ तो ऐसी स्थिति में दान देना कैसे सम्भव होगा। किंतु प्रभु का कोष अक्षय है और वे निरन्तर इसके द्वारा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का वितरण करते रहते हैं। रावण का सिर काटकर विभीषण को लंकाधिपति के पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन वाणों को ही तो है। प्रिया-विरही सुग्रीव को पुनः पत्नी से मिला देने का कार्य भी इन वाणों की कृपा से सम्पूर्ण होता है। वालि-वध के विना यह मिलन सम्भव न था। प्रभु के एक वाण ने ही यह कार्य कर दिखाया। राक्षसों से संत्रस्त महर्षि विश्वामित्र को

भी धनुर्धर श्रीराम की ही आवश्यकता थी। किन्तु इन बाणों ने यदि एक पक्ष को अर्थ, काम और धर्म की उपलब्धि में सहायता दी तो दूसरे पक्ष को भी मुक्ति का दान दिया। ऐसे उदार वितरण कर्त्ता धनुषबाण को देखकर यदि उनके निकट पहुँचने की आकांक्षा उत्पन्न हो तो इसे अस्वाभाविक कैसे कहा जा सकता है?

अपने लोक सम्मोहन शील, सौजन्य और शौर्य से प्रभु ने बाल्यावस्था में ही अयोध्या के पुरवासियों का हृदय जीत लिया। साधारणतया विजय के लिए शस्त्र की आवश्यकता होती है। जहाँ केवल दृष्टि-निक्षेप से ही विजय की उपलब्धि हो गई हो वहाँ धनुष और बाण केवल शौर्य के प्रतीक के रूप में ही प्रभु के करकमलों में सुशोभित होते हैं। प्रभु का यह सम्मोहन कितना व्यापक था, इसका ज्ञान इन पंक्तियों से होता है।

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल।।

एक बालक यदि अपने साथियों में लोकप्रिय हो तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता; किन्तु विभिन्न अवस्था वाले आबाल-बृद्ध, स्त्री, पुरुष जिस तरह राघवेन्द्र के प्रति अमित आकर्षण का अनुभव करते हैं वह अपने आप में अभूतपूर्व उपलब्धि ही कही जा सकती है। इस उपलब्धि के लिए गोस्वामीजी ने बड़ा ही सार्थक दृष्टांत दिया। शारीरिक अवस्था के परिवर्तन से ही हम किसी व्यक्ति को बालक, युवा अथवा वृद्ध की उपाधि प्रदान करते हैं। व्यक्ति को भी स्वयं किसी अवस्था विशेष के प्रति अधिक आसक्ति होती है। किसी को वाल्यावस्था की सुखद स्मृतियाँ आन्दोलित करती हैं तो किसी को यौवन की उमंग का स्मरण हो आता है। वृद्धावस्था भले ही उतनी लोक-प्रिय न हो; किन्तु अनेक लोगों को इससे संतोष होता है कि वृद्धावस्था जीवन की परिपक्वता का चिह्न है। जब मन के सारे उफान शांत हो जाते हैं तब उसे प्रभु के चरणों में अर्पित करना अधिक सुगम हो जाता है। किन्तु अवस्था के परिवर्तन में जो समान रूप से सुस्थिर है जिसे सभी चाहते हैं वह है "प्राण"। अयोध्या की जनता को यदि श्रीराम-भद्र की वाल्यावस्था ही दिखाई देती होती तो सम्भवतः वे अवस्था

विशेष के व्यक्तियों को ही अपनी ओर आकृष्ट कर पाते। किन्तु वे तो प्रत्येक व्यक्ति को प्राण जैसे प्रतीत होते थे; इसलिए उनके प्रति लोगों का समान आकर्षण स्वाभाविक था। उपर्युक्त दोहे में "प्रानहुँ ते प्रिय लागत" का तात्पर्य यही है। "प्रानहुँ ते प्रिय" कहकर गोस्वामी जी एक पग और भी आगे बढ़ जाते हैं। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी आती है जब व्यक्ति प्राणों को भी अर्पित कर देने में गौरव का अनुभव करता है। प्राणों की भी अपेक्षा कुछ वस्तुएं अधिक संरक्षणीय जान पड़ती हैं। श्रीराम को देखकर भी यही प्रतीत होता है कि इन के लिए आवश्यक होने पर प्राणों का भी उत्सर्ग किया जा सकता है। गोस्वामी जी तो प्रभु की बाल-छवि पर प्राण न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत हैं।

वर दंत की पंगति कुन्द कली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगै छवि मोतनि माल अमोलन की।।
घुंघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करैं तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की।।

उन्हें तो ऐसा लगता है कि यदि शिशु-ब्रह्म से स्नेह न हुआ तो जीवित रहने की कोई सार्थकता नहीं है।

पग नूपर औ पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिएँ।
नव नील कलेवर पीत झँगा झलके पुलकैं नृपु गोद लिएँ।।
अरबिंदु सो आननु रूप मरंदु अनंदित लोचन भृंग पिएँ।
मन मों न बस्यौ अस बालक जौं तुलसी जग में फलु कौन जिएँ।।

———

"ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और महामुनि विश्वामित्र"

पौराणिक गाथाओं में वशिष्ठ और विश्वामित्र ऐसे दो उज्ज्वल नक्षत्र हैं जिनकी प्रभा से जीवन के अनेक पक्ष आलोकित होते हैं। किन्तु वे परस्पर प्रतिद्वन्द्वी भी थे। लोक पितामह ब्रह्मा के सुपुत्र वशिष्ठ का चरित्र ज्ञान की गरिमा से ओत-प्रोत था। उनका शास्त्र-ज्ञान तो महान था ही, सहिष्णुता में भी वे अप्रतिम थे। त्याग, तपस्या, तितिक्षा आदि सभी सद्‌गुण उनके चरित्र में घनीभूत हो उठे थे। ऐसे महापुरुष से विश्वामित्र का संघर्ष एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। पर सृष्टि के इतिहास में ऐसे घात-प्रतिघात मानवमन की विलक्षणताओं का अद्‌भुत चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रारम्भ में यह टकराहट एक छोटी सी दुर्घटना से प्रारम्भ होती है।

विश्वामित्र एक वैभवसम्पन्न राजा थे। एक दिन वे सेना-सहित ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के आश्रम में अतिथि होते हैं। तपस्वी वशिष्ठ ने महाराज विश्वामित्र का सोत्साह स्वागत किया। किन्तु स्वागत में जिस राजसिक विविधता और वैभव का प्रयोग किया गया उसे देखकर विश्वामित्र चकित हो उठे। वशिष्ठ के आश्रम और कुटिया में वैभव का कोई ऐसा चिह्न नहीं था जिसे देखकर इस प्रकार के स्वागत की कोई कल्पना की जा सकती थी। उनकी जिज्ञासा के उत्तर में वशिष्ठ ने सरल हृदय से नन्दिनी गाय की ओर संकेत किया। उन्होंने वताया "राजन्! यह नन्दिनी कामधेनु की कन्या है, और इससे सभी अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। यह सारा स्वागत नन्दिनी की कृपा का परिणाम है।" महाराज विश्वामित्र का मन नन्दिनी को प्राप्त करने के लिए ललचा उठा। और उन्होंने अपनी माँग वशिष्ठ के समक्ष रखने में संकोच का अनुभव नहीं किया। विश्वामित्र की दृष्टि में वशिष्ठ के आश्रम में नन्दिनी गाय की कोई सार्थकता न थी। क्योंकि जब वशिष्ठ को त्यागमय जीवन ही व्यतीत करना था तब इस गाय की वहाँ क्या उपयोगिता थी? यज्ञ के लिए यदि घृत की आवश्यकता है तो वह किसी साधारण गाय से भी प्राप्त हो सकता है। उनकी दृष्टि में राजा ही नन्दिनी की सामर्थ्य का

सदुपयोग कर सकता था। इसलिए वे अपनी उदारता का प्रदर्शन करते हुए नन्दिनी के वदले में सहस्रों गाय देने की घोषणा करते हैं। ब्रह्मर्षि ने राजा के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। राजा और तपस्वी में संग्राम छिड़ गया।

वैभव और त्याग का यह संघर्ष शाश्वत है। कुछ लोगों की मान्यता है कि सत्ता, संचय, वैभव और भोग सुख के साधन हैं और कुछ लोगों की दृष्टि में त्याग ही शांति का एकमात्र मार्ग है। पुराण और इतिहास जीवन के दोनों पक्ष प्रस्तुत करते हैं और दोनों ही क्षेत्रों में ऐसे महापुरुषों की गाथा प्राप्त होती है जिन्होंने अपने उज्ज्वल चरित्र के द्वारा वैभव और त्याग दोनों की सार्थकता सिद्ध की। ऐसे महापुरुषों में परस्पर सद्भाव का भी अभाव नहीं रहा है। यदि त्याग के समक्ष वैभव प्रणत रहा है तो वैभव और सत्ता के द्वारा भी त्याग को संरक्षण प्राप्त होता रहा है। सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति के लिए वैभव और शासन की अपेक्षा होती ही है। इसलिए सभी त्याग की दिशा ग्रहण कर लें यह न तो सम्भव ही है और न स्वाभाविक ही। किन्तु जो सत्य के अन्वेषक हैं, जिन्हें उच्च कोटि के विचार और चिंतन की आवश्यकता है, उन्हें भौतिक प्रपञ्चों के स्थान पर एकांत और शान्ति की आवश्यकता होती है। वाह्य प्रपञ्च उनके मार्ग के अवरोध वन सकते हैं। अतः ऐसे सत्पुरुषों को संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता है जो कर्म के स्थान पर ज्ञान के क्षेत्र को आलोकित करते हैं। यह कार्य सत्ताधीशों और राजाओं का है। जिन लोगों ने ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं का परित्याग कर दिया है उनके प्रति समादर की वृत्ति स्वाभाविक है। त्यागी भी सत्ताधीश के प्रति आश्रमों के संरक्षण के लिए कृतज्ञता प्रगट करता है। जव तक श्रद्धा और कृतज्ञता का अन्तर्मिलन होता रहता है, तव तक संघर्ष का कोई प्रश्न नहीं आता। किन्तु जव कभी सत्ता का राजसिक अहंकार, त्याग के सात्विक अहंकार से टकराता है तव संघर्ष अनिवार्य हो जाता है।

त्यागी और तपस्वियों के पास कामधेनु का होना त्याग के गौरव को प्रगट करता है। कामधेनु समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली

है। सकाम व्यक्तियों के पास उसके होने से उसके दुरुपयोग की ही सम्भावना अधिक है। जहाँ कामना है वहाँ राग और द्वेष का होना अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति में वह कामधेनु का उपयोग भी न केवल राग; अपितु द्वेष की पूर्ति के लिए ही करेगा। इसलिए कामधेनु का ऐसे महापुरुषों के पास होना आवश्यक है जिनको अपना कोई स्वार्थ नहीं है और कामनाओं का अभाव है। ऐसे महापुरुष सेवा और सत्कार के लिए ही कामधेनु का उपयोग करते हैं। दूसरी ओर संग्रही और भोगी व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या ही यही होती है कि उपलब्धि की अपेक्षा उसकी आकांक्षाएँ सर्वदा अधिक होती हैं। अतः वह कल्पतरु और कामधेनु की खोज में लगा ही रहता है। महाराज विश्वामित्र भी इसी प्रवृत्ति से पीड़ित थे। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की अस्वीकृति के बाद विश्वामित्र ने नन्दिनी को बलपूर्वक छीनने की चेष्टा की। किन्तु नन्दिनी और वशिष्ठ के दिव्य तेज के समक्ष उन्हें पूरी तरह पराजित होना पड़ा। इस पराजय की उन पर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने इसे क्षात्रधर्म की निरर्थकता के रूप में देखा। और तब उन्होंने ब्राह्मणत्व की उपलब्धि का दृढ़ संकल्प ले लिया। किन्तु इस ब्राह्मणत्व की उपलब्धि की आकांक्षा के पीछे आवेश और प्रतिक्रिया की भावना के कारण अनेक वर्षों तक वे अन्तःकरण को सन्तुलित न कर पाये। इसे यों कह सकते हैं कि वे सत्त्वगुण की उपलब्धि रजोगुण को सन्तुष्ट करने के लिए चाहते थे। वस्तु की शुद्धि के साथ-साथ पात्र-शुद्धि का कम महत्त्व नहीं है। कितना भी शुद्ध घी क्यों न हो यदि वह ऐसे किसी पात्र में रख दिया जाय जिसमें किञ्चित् भी दुर्गन्ध विद्यमान हो तो उस थोड़ी सी दुर्गन्ध से भी घी का सौरभ और स्वाद दोनों समाप्त हो जाता है। राजर्षि विश्वामित्र की भी यही स्थिति थी। उन्होंने समस्त वैभव का परित्याग कर दिया। त्याग, तपस्या और तितिक्षा में वे सर्वथा अप्रतिम हो उठे; किन्तु इन सब के पीछे ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के प्रति स्पर्धा की भावना ही विद्यमान थी। वे लोक-मानस में यह प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे कि वशिष्ठ उन से किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं हैं। पुराणों में मानव-मन का जो यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है विश्व-

वाङ्मय में वह अप्रतिम है। उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति उच्च से उच्च स्थिति में पहुँचकर भी सर्वथा दोष-शून्य नहीं हो जाता। संस्कारों पर विजय पाने के लिए साधक को निरन्तर प्रबुद्ध रहना पड़ता है। केवल एक क्षण का प्रमाद भी व्यक्ति को नीचे की ओर ढकेल सकता है। विश्वामित्र सम्बन्धी अनेक उपाख्यानों में इस तथ्य की पुष्टि होती है। वस्तुतः विश्वामित्र का चरित्र बार-बार गिरकर भी ऊपर उठने का चरित्र है। इसमें उनके अदम्य संकल्प का परिचय प्राप्त होता है।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का चरित्र महामुनि विश्वामित्र की तुलना में अधिक उदात्त है पर उनमें भी कुछ दुर्बलताएँ विद्यमान हैं। इनमें से एक महाराज निमि और उनके संघर्ष की गाथा के रूप में सामने आती है। निमि ने महर्षि वशिष्ठ से अपने यज्ञ का आचार्यत्व स्वीकार करने का अनुरोध किया। वशिष्ठ ने इसमें असमर्थता प्रगट की; क्योंकि वे इन्द्र के किसी यज्ञ का आचार्यत्व स्वीकार कर चुके थे। वशिष्ठ के चले जाने के बाद निमि ने सोचा "जीवन क्षण भंगुर है किसी भी श्रेष्ठ संकल्प को भविष्य के लिए टालना उपयुक्त नहीं है।" उन्होंने दूसरे के आचार्यत्व में यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। वशिष्ठ ने लौटकर जब यह दृश्य देखा तब वे निमि पर क्रुद्ध हो उठे। निमि के इस क्रिया-कलाप में उन्हें अपने अपमान की प्रतीति हुई, क्रुद्ध होकर उन्होंने निमि का शरीर नष्ट हो जाने का शाप दे दिया।

ब्रह्मर्षि का यह कार्य उनके गौरव के अनुरूप न था। पर "जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार" की सार्थकता यहीं तो सिद्ध होती है। इस तरह उस युग के दो महापुरुषों का उग्र मतभेद हमारे समक्ष आता है। महर्षि विश्वामित्र के सम्बन्ध रघुवंश से मधुर न हों यह स्वाभाविक था। रघुवंश का आचार्यत्व गुरु वशिष्ठ को उपलब्ध है यह तो मुख्य हेतु है ही। पर वैसे भी सूर्यवंश के हरिश्चन्द्र जैसे नरेश विश्वामित्र के कारण संकट में पड़ चुके थे।

दूसरी ओर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का सम्पर्क निमिवंश से समाप्त हो जाता है। इन दोनों महापुरुषों तथा वंशों का मिलन भगवान राम के चरित्र से ही सम्भव हुआ। पूर्ण की पूर्णता में दो महान् व्यक्तित्वों

की अपूर्णता विलीन हो गई। यह मिलन आध्यात्मिक, राजनीतिक और भावनात्मक सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य था। इसकी पृष्ठभूमि गोस्वामी जी इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं।

यह सब चरित कहा मैं गाई।
आगिलि कथा सुनहु मन लाई।।
बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।
बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।।
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।
अति मारीच सुबाहुहि डरहीं।।
देखत जग्य निसाचर धावहिं।
करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं।।
गाधि तनय मन चिंता ब्यापी।
हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी।।
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।
प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा।।

महर्षि विश्वामित्र के समक्ष एक नई समस्या का उदय तब हुआ जब उनके आश्रम में होने वाले यज्ञों को राक्षस विनष्ट करने लगे। इस घटना में राजनीति और अध्यात्म के जटिल प्रश्न जुड़े हुए थे।

रावण किस प्रकार भारत के राज-सत्ताओं की उपेक्षा करता हुआ अपनी मनमानी कर रहा था इसका यह एक सुस्पष्ट दृष्टांत था। लङ्का से भारत के सुदूर पूर्वी भाग तक मारीच और सुबाहु जैसे रावण के सम्बन्धी सेनापतियों का निर्भीक निवास भारत की तत्कालीन राजशक्तियों की घोर दुर्बलता का ही परिचायक था। मारीच और सुबाहु ने न केवल भारत के राजवंशों की उपेक्षा की; अपितु विश्वामित्र जैसे महान् तपस्वी के यज्ञ को ध्वंस करने में भी उन्हें किसी प्रकार के भय की अनुभूति नहीं हुई। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जिन महर्षि विश्वामित्र से भारत के सारे राजकुल भयभीत थे; रावण के सेनापतियों के द्वारा न केवल उनकी उपेक्षा की गई अपितु उन्हें चुनौती भी दी गई।

वस्तुतः रावण के रूप में जिस महान् दुर्धर्ष व्यक्तित्व का उदय हुआ था उसके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था। राज-सत्ता की सुस्थिरता और विस्तार के लिए सेना, शौर्य, शुद्ध कौशल तो उसमें विद्यमान था ही, उसने घोर तपस्या के द्वारा आधिदैविक शक्तियों को भी वशीभूत कर लिया था। तत्कालीन बड़े से बड़े तपस्वियों की तपस्या भी उसके समक्ष नगण्य थी। और इस प्रकार भौतिक और आधिदैविक सम्पत्ति से सम्पन्न रावण तत्कालीन राज-सत्ता तथा तपस्वियों के लिए समान रूप से चुनौती बन गया। यद्यपि अयोध्या का राजकुल सम्राट कहकर पुकारा जाता था पर उसका यह पद औपचारिक मात्र रह गया था, ऐसा प्रतीत होता है। महाराज दशरथ के ऐश्वर्य का मानस में बड़ा गौरवपूर्ण बखान किया गया है। पर उस वर्णन के बाद भी तुलनात्मक रूप से रावण की अपेक्षा वह तब भी हीन ही सिद्ध होता है। स्वर्गाधिपति इन्द्र से महाराज दशरथ का बड़ा ही सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध था। इन्द्र स्वर्ग में महाराज श्रीदशरथ के पधारने पर स्वयं उठकर उनके प्रति समादर प्रगट करता था। और अपने सिंहासन के अर्ध भाग पर उन्हें आसीन करता था।

आगे होइ जेइ सुरपति लेई।
अर्ध सिंहासन आसन देई।।

किन्तु रावण के ऐश्वर्य से इसकी क्या तुलना हो सकती थी। देवराज इन्द्र रावण की सभा में आसन का भी सम्मान प्राप्त नहीं कर पाता। लङ्काधिपति की सभा में उसे हाथ जोड़कर खड़े रहना पड़ता था।

कर जोरे सुर दिसिप विनीता।
भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।।

ऐसी परिस्थिति में महाराज श्रीदशरथ वास्तविक सम्राट की भूमिका का निर्वाह नहीं कर रहे थे। महर्षि विश्वामित्र का आश्रम किस राज्य की सीमा में था यह निर्णय कर पाना आज कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि यह आश्रम अयोध्या और मिथिला राज्य की सीमा पर स्थित था। अधिक सम्भावना यही है कि यह मिथिला राज्य की सीमा में रहा हो। मिथिला के महाराज विदेह एक तत्त्वज्ञ

के रूप में ही ख्याति प्राप्त थे। एक योद्धा के रूप में उनका स्मरण इतिहास में नहीं किया जाता। ऐसी परिस्थिति में रावण के सेनापतियों से संघर्ष मोल लेना किसके लिए सम्भव होता? अंत में महर्षि विश्वामित्र ही उस राजनीति के प्रणेता सिद्ध हुए जिसके द्वारा रावण का विनाश सम्भव हुआ। अनेक दृष्टियों से विश्वामित्र ही इसके उपयुक्त पात्र हो सकते थे। वे स्वयं भी कभी राजसत्ता का संचालन कर चुके थे। साथ ही उन्होंने भी तपस्या के द्वारा आधिदैविक शक्तियों पर अधिकार प्राप्त किया था। यह बात अवश्य थी कि इनमें से एक का उन्होंने पूरी तरह परित्याग कर दिया था। रावण एक साथ दोनों ही प्रकार की शक्तियों का उपयोग कर रहा था। क़िन्तु इस समस्या का समाधान किस रूप में किया गया।

यहाँ इस इतिहास के आध्यात्मिक पक्ष पर दृष्टि डालना भी आवश्यक है। महर्षि विश्वामित्र ने तपस्या और साधना के द्वारा ऐसी अनेक उपलब्धियाँ की थीं जो अप्रतिम कही जा सकती हैं। ऐसा लगता है कि विश्वामित्र ज्वलन्त पुरुषार्थ थे। जिन्हें कुछ भी असम्भव प्रतीत नहीं होता था। एक ही जन्म में क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व की उपलब्धि ऐसी थी जिसे उस समय असम्भव माना जाता था। इसी तरह जब वे त्रिशंकु की प्रार्थना पर उसे सशरीर स्वर्ग भेजने के लिए प्रस्तुत हो गए और त्रिशंकु को स्वर्ग से गिरता हुआ देखकर वे द्वितीय स्वर्ग के निर्माण के लिए बद्धपरिकर हो उठे, तब उनके संकल्प और पुरुषार्थ का लोहा विश्व को मानना ही पड़ा पर पुरुषार्थ ही जीवन का चरम सत्य नहीं है। यह विशाल ब्रह्माण्ड सुनियोजित प्रक्रिया पर आधारित है। उसके नियमों में अपवाद की सम्भावनाएँ तो हैं किन्तु इस प्रकार के अपवाद क्या अपेक्षित कहे जा सकते हैं? सृष्टि के निर्माता ने जिसे हम सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कहते हैं, जिस प्रक्रिया का सृजन किया है उसमें व्यक्ति को एक सीमा तक ही स्वातंत्र्य प्राप्त है। सफलता के क्षणों में लगता है जीव पूर्ण स्वतंत्र है; किन्तु इस प्रकार की मिथ्या धारणा बड़ें से बड़े व्यक्ति में भी मिथ्या अहंकार की सृष्टि कर सकती है। इसलिए कभी-कभी व्यक्ति की पराजय और असमर्थता भी उसे एक सम्यक् दृष्टि दे देती है

ऐसी दृष्टि ही व्यक्ति को पूर्ण के प्रति अर्पित होने की प्रेरणा प्रदान करती है। विश्वामित्र ने जीवन में चाहे जितनी सफलताएँ प्राप्त की हों पर असीम के प्रति समर्पण का क्षण तो जीवन में असमर्थता की अनुभूति के पश्चात् ही आ पाया।

महर्षि विश्वामित्र का सारा जीवन साधना के लिए समर्पित है। किन्तु साधना में ऐसे विघ्न आते हैं जिनके निवारण की क्षमता उन्हें स्वयं में प्रतीत नहीं होती। उनके द्वारा किये जाने वाले यज्ञ पूर्णता तक नहीं पहुँच पाते। किसी न किसी अर्थ में यह जीवन का शाश्वत सत्य है। अपूर्ण व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली क्रिया पूर्ण कैसे हो सकती है? विचार, भावना, क्रिया कहीं न कहीं तो अपूर्णता रह ही जाएगी। इसीलिए कर्मकाण्ड प्रत्येक क्रिया-कलाप के अन्त में प्रभु का नाम स्मरण करके उनसे न्यूनता की पूर्ति की जाती है।

यस्य स्मृत्या च नामोत्तया तपो यज्ञः क्रियादिषु।
न्यूनः सम्पूर्णतां यातु सद्यो बन्दे तमऽच्युतम्॥

महर्षि विश्वामित्र के जीवन में पुरुषार्थ की चरम अभिव्यक्ति थी। इसलिए उनके जीवन में यह क्षण बड़े विलम्ब से आया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि जिन राक्षसों के द्वारा यज्ञ का ध्वंश किया जा रहा है उनके विनाश के लिए ईश्वर की ही आवश्यकता है। मारीच और सुबाहु को आध्यात्मिक अर्थों में दोष और दुःख की संज्ञा दी गई है। नाम-बन्दना प्रसङ्ग में इसके संकेत प्राप्त होते हैं।

रिषि हित राम सुकेतु सुता की।
सहित सेन सुत कीन्हि विवाकी॥
सहित दोष दुःख दास दुरासा।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥

दोष और दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति कर्मकाण्डमूलक यज्ञ से सम्भव नहीं है। उसके लिए तो अखण्ड ज्ञान-घन ईश्वर का ही आश्रय लेना होगा।

विश्वामित्र शब्द का अर्थ है लोक-मित्र। विश्वामित्र समग्र विश्व के मित्र हैं। लोक-संरक्षण के लिए निरंतर यज्ञ-चक्र के चलते रहने की आवश्यकता है। इसलिए उनकी साधना का मार्ग वैयक्तिक

न होकर सामूहिक है। निर्गुण निराकार ब्रह्म की आराधना के द्वारा व्यक्ति-विशेष के दोष और दुःख की समस्याओं का समाधान पाया जा सकता था; किन्तु सारे समाज के दोष और दुःख के निवारण की समस्या का निराकरण तो सगुण साकार ब्रह्म के द्वारा ही सम्भव था। रामराज्य की स्थापना के रूप में यही स्वप्न भविष्य में साकार होता है। विश्वामित्र ने कभी जीवन में एक व्यक्ति को सशरीर स्वर्ग पहुँचाना चाहा था, किन्तु वे इसमें पूरी तरह सफल नहीं हो पाये। पर उन्हें अपने जीवन काल में ही वह उत्कृष्ट रामराज्य देखने को मिला जिसमें स्वर्ग से अधिक उत्कृष्ट राज्य मृत्युलोक में उतर आया। पर अभी तो उसकी आधार-शिला का निर्माण होना था। महर्षि को यज्ञ-संरक्षण के लिए जिस ईश्वर की अपेक्षा थी; वह ईश्वर अवतरित हो चुका था। समाधि में इस सत्य का साक्षात्कार करके उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा।
प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा।।
एहूँ मिस देखौं पद जाई।
करि विनती आनौं दोउ भाई।।
ग्यान बिराग सकल गुन अयना।
सो प्रभु मैं देखब भरि नयना।।

अवतार तो हो गया था किन्तु अवतार ने अवतरण के लिए जिस स्थान और व्यक्ति का चुनाव किया था, वह विश्वामित्र के जीवन-दर्शन की चुटकी ले रहा प्रतीत होता था। ईश्वर ने क्षत्रिय जाति में जन्म लेकर क्या विश्वामित्र की इस धारणा पर व्यङ्ग नहीं किया था कि क्षत्रिय जाति सर्वथा हीन है और ब्राह्मणत्व ही जीवन की चरम सार्थकता है। फिर क्षत्रिय भी कौन? जिनके आचार्य वशिष्ठ हैं। ईश्वर को पाने के लिए उन्हें अपने ब्राह्मणत्व का गौरव और वशिष्ठ के प्रति द्वेष के संस्कारों का परित्याग करना ही होगा। महर्षि क्षण भर में दोनों से ऊपर उठकर अयोध्या की दिशा में चल पड़े।

उनका अंतःकरण प्रभु के दर्शन की उत्कण्ठा से भर उठा। वे उस क्षण की कल्पना करने लगे जब वे ब्रह्म के दिव्य चरणकमलों के

दर्शन प्राप्त करेंगे। मन में विविध प्रकार की कल्पना करते हुए वे बड़ी शीघ्रता से अयोध्या की पावन भूमि में पहुँच गये। सरजू के पुनीत जल में स्नान करने के पश्चात् वे महाराज श्रीदशरथ की राजसभा में पधारे।

बहुविधि करत मनोरथ जातलागि नहिं वार।
करि मज्जन सरऊ जल गये भूप दरवार।।

महाराजश्री विद्वान् ब्राह्मणों को साथ लेकर महर्षि विश्वामित्र का स्वागत करने के लिए सिंहद्वार पर आए। अर्घ और मधुपर्क से स्वागत करने के पश्चात् भीतर राजमहल में ले आकर विश्वामित्र को सिंहासन पर आसीन कराया। महर्षि का सविधि पूजन किया गया। महाराजश्री हाथ जोड़कर ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के समक्ष खड़े हो गये। उन्होंने कहा कि आपके शुभागमन से मैं धन्य हो उठा। आप आदेश दें। किस उद्देश्य से आपका शुभागमन हुआ है। आपके आदेश मात्र का विलम्ब है। आज्ञा मिलते ही उसे तत्काल पूरा किया जायगा। सुस्वादु व्यञ्जन ग्रहण कर सुखासनासीन विश्वामित्र महाराजश्री की बात सुनते ही मुस्करा उठे। उन्हें ज्ञात था कि यह प्रारम्भिक उत्साह चिरस्थायी सिद्ध न होगा; क्योंकि उनकी माँग दशरथ की कल्पना से बहुत आगे है। महर्षि बोले "असुरों का समूह मेरे यज्ञों को ध्वंस कर देता है। उनकी रक्षा के लिए मैं श्रीराम और लक्ष्मण की याचना के लिए आया हुआ हूँ। आपके सुपुत्रों के द्वारा राक्षसों का बध किये जाने से मैं कृत-कृत्य हो जाऊँगा। आप अपने दोनों पुत्रों को प्रसन्नतापूर्वक मुझे दें और विश्वास रखें कि इनके कल्याण के साथ-साथ आपको भी धर्म और यश की प्राप्ति होगी।"

मुनि आगमन सुना जब राजा।
मिलन गयउ लै बिप्र समाजा।।
करि दंडवत मुनिहि सनमानी।
निज आसन बैठारेन्हि आनी।।
चरन पखारि कीन्हि अतिपूजा।
मो सम आजु धन्य नहिं दूजा।।

विविध भाँति भोजन करवावा।
मुनिवर हृदय हरष अति पावा।।
पुनि चरननि मेले सुत चारी।
राम देखि मुनि देह बिसारी।।
भए मगन देखत मुख सोभा।
जनु चकोर पूरन ससि लोभा।।
तब मन हरषि बचन कह राऊ।
मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ।।
केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लावउँ बारा।।
असुर समूह सतावहिं मोही।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही।।
अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा।।
देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान।।

उपर्युक्त संवाद में महाराज दशरथ की वाणी में रघुवंश की उज्ज्वल परम्परा का दर्शन होता है। जहाँ अतिथि सत्कार और सर्वस्व दान की उत्साह भरी प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है, दूसरी ओर विश्वामित्र की वाणी में याचना होते हुए भी दैन्य का सर्वथा अभाव है। वे दशरथ को सही मन:स्थिति से दान देने का आदेश देते हैं। "देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान।" देने वाले के अन्त:करण में यदि दान देते समय हर्ष की वृत्ति का अभाव हो तो इसका तात्पर्य ही यह है कि दान के मूल में तमोगुण ही विद्यमान है। ऐसी परिस्थिति में तमोगुण से किसी श्रेष्ठ परिणाम की आशा कैसे की जा सकती है। हर्षपूर्वक दिये गये दान को ग्रहण करने में लेने वाले को भी प्रसन्नता होती है। महर्षि विश्वामित्र ने दान की जिस प्रणाली का उपदेश दिया उसमें आदि, मध्य, अन्त सभी समान रूप से सुखद हैं। "देहु भूप मन हरषित" आदि है। "धर्म सुजस प्रभु तुम्ह को" मध्य है। तथा "इन्ह कहँ अति कल्यान" परिणाम

है। आदि में हर्ष, मध्य में यश और अन्त में कल्याण इसी को दान की समग्रता कहा जा सकता है।

विश्वामित्र की याचना के स्वर सुनकर महाराजश्री के मुख पर जो विवर्णता आ गई थी वह महर्षि से छिपी हुई न रही। इसीलिए उन्होंने महाराज से मोह और अज्ञान छोड़ने को कहा "तजहु मोह अग्यान।" दान की प्रवृत्ति में मुख्य वाधक मोह है। "ज्ञात सत्य को भी जीवन में स्वीकार न कर वार-वार अज्ञानमूलक प्रवृत्ति को दुहराना ही मोह है।" दान में देय वस्तु से ममत्व को हटाना पड़ता है। वस्तु और व्यक्तियों से ममत्व का त्याग जीवन की वाध्यता है। हम चाहें अथवा न चाहें मृत्यु के क्षणों में हमें संसार के सभी पदार्थों का परित्याग करना ही पड़ता है। काल एक लुटेरे की भाँति सारे पदार्थों को छीन लेता है। बुद्धिमान व्यक्ति लुटने के स्थान पर स्वेच्छा से दान और त्याग का आनन्द पा लेता है। विश्व का इतिहास जिस की अनवरत पुनरावृत्ति कर रहा है, वह है मृत्यु। वड़े से वड़े वैभवशाली व्यक्तियों ने संग्रह के वाद इसी तथ्य को देखा कि अंतिम क्षणों में किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति को साथ ले जाना सम्भव नहीं है।

सहसबाहु दसवदन आदि नृप वचे न काल वली ते।
हम हम करि धन धाम संभारे अंत चले उठ रीते।।

वली काल से वे सभी लोग भयभीत रहते हैं जिनका संग्रह और परिग्रह अधिक है; किन्तु जिनके जीवन से ममत्व का अभाव हो चुका है, जो मोहमुक्त हो चुकें हैं, वे काल की हँसी उड़ाते हैं; क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि काल उनसे कुछ भी छीनने की स्थिति में नहीं है। हमारी संस्कृति में संन्यास आश्रम की व्यवस्था का तात्पर्य यही था। मंदोदरी ने लंकाधिपति को आनन्द की उपलब्धि का यही मार्ग वताया था।

रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि वन जाइ भजिअ रघुनाथ।।

रावण ने श्रीसीताजी की चोरी की है। मन्दोदरी उसे ऐसा मंत्र वताती है कि जिससे वह चोरी के अपराध में दण्ड पाने के स्थान पर दान और समर्पण की गरिमा से मण्डित हो जाय। ईश्वर के प्रति समर्पण में आनन्द भी यही है। संसार में समर्पण करते समय यह

ध्यान रखना पड़ता है कि समर्पित की गई वस्तु पर अपना अधिकार हो; किन्तु ईश्वर के प्रति जो समर्पण होता है वह तो उसी की वस्तु का होता है। क्योंकि सब कुछ उसी का तो है।

मेरा मुझ में कुछ नहि जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझकों सौंपते क्या लागत है मोर।।

श्रीसीताजी भगवान राम की अभिन्न शक्ति हैं। उनकी शक्ति को उन्हें अर्पित कर देना चतुराई की पराकाष्ठा है। मन्दोदरी का उपदेश स्वीकार करके रावण उसी महत्त्वपूर्ण गौरव को प्राप्त कर सकता था, जिसके अधिकारी महाराज श्रीजनक माने गये। मन्दोदरी ने रावण के समक्ष दुहरे समर्पण का मार्ग प्रस्तुत किया। श्रीरामभद्र को सीता का समर्पण कीजिए और पुत्र को राज्य समर्पित कर वन में जाकर भक्ति सुख का अनुभव कीजिए। पुत्र तो एक न एक दिन सम्पत्ति का अधिकारी होता ही है; किन्तु पुत्र के अन्तःकरण में यदि यही संस्कार बना रहे कि पिता की मृत्यु से ही उसका उत्तराधिकार सम्बद्ध है, तव उसके प्रच्छन्न मानस में पिता की मृत्यु का संकल्प ही स्वाभाविक है। जब पिता के अन्तःकरण का मोह और प्रलोभन उसे सम्पत्ति देने से रोकता है तब पुत्र के हृदय का लोभ और स्वार्थ उसे कृतघ्न बना देता है। अधिकांश पिता इसीलिए अपने पुत्रों की आन्तरिक श्रद्धा खो बैठते हैं। मन्दोदरी ने समर्पण का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया जिससे रावण का स्वार्थ और परमार्थ दोनों सुरक्षित रह सकता था। किन्तु मोहग्रस्त रावण ने असम्भव उपलब्धि की आकांक्षा से सहज सम्भव सुख को खो दिया। यह गाथा केवल रावण की ही न होकर संसार के सभी आसक्तिग्रस्त प्राणियों की है। बुद्धि के रूप में मन्दोदरी प्रत्येक व्यक्ति को यही चेतावनी देती है।

रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ।।

नाथ दीन दयाल रघुराई।
बाघउ सनमुख गएँ न खाई।।
चाहिअ करन सो सब करि बीते।
तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।।

संत कहहिं असि नीति दसानन।
चौथे पन जाइहि नृप कानन।।
तासु भजनु कीजिअ तहँ भर्ता।
जो कर्ता पालक संहर्ता।।
सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी।
भजहु नाथ ममता सब त्यागी।।
मुनिवर जतनु करहिं जेहि लागी।
भूप राजु तजि होहिं विरागी।।
सोइ कोसलाधीस रघुराया।
आयउ करन तोहि पर दाया।।
जौं पिय मानहु मोर सिखावन।
सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन।।
अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहिं अचल होइ अहिवात।।

बुद्धि उस समय अचल सौभाग्यशालिनी हो जाती है, जब व्यक्ति अपने सौभाग्य को नश्वर और छूटने वाली वस्तुओं से पृथक् कर शाश्वत श्रीराम से जोड़ देता है।

विश्वामित्र ने मोह के साथ-साथ महाराज से अज्ञान छोड़ने का भी आग्रह किया; क्योंकि उन्हें यह ज्ञात था कि महाराजश्री की व्याकुलता के पीछे यह भय विद्यमान है कि मेरे सुकुमार पुत्र राक्षसों के वध का दुष्कर कार्य कैसे सम्पन्न कर सकेंगे। विश्वामित्र का सङ्केत था कि इस भय के पीछे तुम्हारा अज्ञान छिपा हुआ है। क्योंकि तुम नहीं जानते तुम्हारे पुत्र वस्तुतः कौन हैं? इस उपदेश में निहित व्यंग यह भी था कि अखण्ड-ज्ञान-घन ईश्वर जिसके घर में जन्म ले और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जैसा महापुरुष जिसे गुरु के रूप में प्राप्त हो यदि उसके जीवन में भी अज्ञान और मोह अवशिष्ट रह जाय तो इससे बढ़कर लज्जा की क्या बात हो सकती है?

किन्तु महाराज श्रीदशरथ का अन्तःकरण वात्सल्य रस से इतना ओत-प्रोत है कि महर्षि विश्वामित्र के उपदेश में निहित सत्य को वे न ग्रहण कर सके। उन्हें तो विश्वामित्र में ही विचार का अभाव

दिखाई देने लगा। वे स्वयं को यह कहने से नहीं रोक पाये कि आपका कार्य विचारसङ्गत नहीं है।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी।।
चौथेंपन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।।
मागहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्बस देउँ आजु सहरोसा।।
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं।।

महर्षि विश्वामित्र की वाणी महाराजश्री को अत्यंत अप्रिय लगी। हृदय व्याकुलता से भर उठा, मुख पर म्लानता छा गई। उन्होंने कहा "ब्राह्मण देवता, मैंने चौथी अवस्था में चार पुत्र प्राप्त किये। लगता है आपने शब्दों का प्रयोग करते समय विचार का आश्रय नहीं लिया। आप यह न समझ लें कि आपको दिये गए वचन की पूर्ति मैं नहीं करना चाहता। पृथ्वी, गाय, धन, कोश ही नहीं; अपितु आप यदि समग्र अयोध्या का राज्य चाहें तो भी मैं उसे देने को प्रस्तुत हूँ। देह और प्राण की अपेक्षा व्यक्ति को कुछ भी अधिक प्रिय नहीं होता; किन्तु यदि आप चाहें तो मैं एक क्षण में इनका भी परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हूँ। वैसे तो सभी पुत्र मुझे प्राण के समान प्रिय हैं, किन्तु श्रीराम का देना मेरे लिए किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।"

विश्वामित्र ने उनसे अज्ञान छोड़ने के लिए कहा था किन्तु इस अज्ञान का वरण तो महाराज ने स्वयं स्वेच्छा से ही किया था। मनु के रूप में तपस्या करते हुए उन्होंने प्रभु से यह वरदान मांगा था कि मेरा आपके चरणों में पुत्र के रूप में प्रेम हो। वे यह नहीं चाहते थे कि श्रीराम उन्हें ब्रह्म के रूप में प्रतीत होते रहें। इस ज्ञान से वात्सल्य में जो रसाभास उत्पन्न होता वह उनके लिए असह्य था। प्रभु से वरदान माँगते हुए इसके वदले में वे मूढ़ की उपाधि लेने के लिए भी प्रस्तुत थे।

सुत बिषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।।

भक्ति के दो रूपों में जिन्हें "शुद्धा" ग्रौर "मिश्रा" भक्ति का नाम दिया जा सकता है, महाराजश्री "शुद्धा-भक्ति" के समर्थक हैं। शुद्धा-भक्ति का तात्पर्य है केवल भावनामूलक भक्ति। इस भक्ति में विवेक ग्रौर वैराग्य की कोई ग्रावश्यकता स्वीकार नहीं की जाती। "मिश्रा-भक्ति" ज्ञान ग्रौर वैराग्य से मिश्रित है। रसानुभूति के इन दो भिन्न मार्गों की साङ्केतिक गाथा श्रीमद्भागवत में प्राप्त होती है। उपाख्यान इस प्रकार है—"काल पाकर भक्ति ग्रौर उसके दोनों पुत्र ज्ञान ग्रौर वैराग्य बूढ़े हो जाते हैं। इस संकट से मुक्त होने के लिए भक्ति ग्रपने दोनों पुत्रों के साथ सर्वत्र भ्रमण करती है। किन्तु उनकी ग्रवस्थाएँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। वृन्दावन पहुँचकर भक्ति देवी पुनः युवा हो गई, परन्तु उनके दोनों पुत्र ज्ञान ग्रौर वैराग्य यथापूर्व वृद्ध ही बने रहे।" इस प्रतीक का तात्पर्य यह था कि वृन्दावन की रसमयी भूमि में केवल शुद्धा-भक्ति की ही पूछ है। ज्ञान ग्रौर वैराग्य को वहाँ कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है। इसलिए वहाँ पहुँचकर भी ज्ञान-वैराग्य की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं ग्राया। शुद्धा-भक्ति की विचारधारा में तन्मयता को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से भावानुभूति में ज्ञान, वैराग्य को बाधक मानना स्वाभाविक ही है। श्रीमद्भागवत की ही भाँति रामचरितमानस में भी ज्ञान ग्रौर वैराग्य से मिश्रित भक्ति को ही ग्रधिक महत्त्व दिया गया है।

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ ग्रनेक।।

इस मान्यता के पीछे कौन से कारण विद्यमान हैं, पिछले कुछ प्रसङ्गों में इसकी ग्रोर सङ्केत किया गया है; किन्तु इससे शुद्धा-भक्ति का गौरव कम नहीं होता। रस की ग्रविच्छिन्न ग्रनुभूति में शुद्धा-भक्ति परम सहायक है। यह ग्रवश्य कहा जा सकता है कि शुद्धा-भक्ति की साधना ग्रपवाद के रूप में ही कल्याणकारिणी सिद्ध होती है; क्योंकि शुद्धा-भक्ति के नाम पर विवेक, वैराग्य का तिरस्कार पतन का हेतु हो सकता है।

श्रीदशरथ में यह शुद्धा-भक्ति अपने यथार्थ रूप में विद्यमान है। वे अंत तक अपनी निष्ठा पर दृढ़ रहते हैं। यद्यपि लीला के अंतिम परिच्छेद में प्रभु के द्वारा उन्हें ज्ञान दिए जाने का उल्लेख आता है किन्तु ज्ञान के द्वारा प्राप्त कैवल्य-मोक्ष को वे वहाँ भी स्वीकार नहीं करते। प्रभु से वार्तालाप करने के वाद जब उनके स्वर्ग-गमन का वर्णन भगवान शङ्कर ने किया, तव पार्वती जी का आश्चर्यचकित हो जाना स्वाभाविक था। स्वर्ग की उपलब्धि विशिष्ट पुण्यों का परिणाम है। भक्त तो मुक्ति का अधिकारी है, फिर महाराजश्री की स्वर्ग-यात्रा क्या अर्थ रखती है? भगवान शिव पार्वती के आन्तरिक मनोभाव को समझकर स्वयं अपनी ओर से ही उत्तर दे देते हैं।

तातें उमा मोच्छ नहिं पावा।
दसरथ भेद भगति मन लावा॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥

भेद-भक्ति वाला भक्त अद्वैत स्थिति को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। उसकी दृष्टि में सेवक-सेव्य भावना ही सर्वोच्च स्थिति है। ऐसा भक्त उस निस्वार्थ जन-सेवक की भाँति है जो सेवा करता हुआ भी किसी पद अथवा सत्ता को सँभालने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। महाराजश्री वात्सल्य रस के उपासक थे। सेवक-सेव्य भावना में तो ऐश्वर्य ज्ञान विद्यमान है; किन्तु वात्सल्य में माधुर्य को छोड़कर ऐश्वर्य ज्ञान का भी अभाव है। सेवक आवश्यकता होने पर स्वामी से कुछ माँग सकता है। किन्तु वात्सल्य में तो देने को छोड़ माँगने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः शुद्धा-भक्ति की उपासना में यदि ज्ञान का अभाव है तो साथ ही निष्कामता की पराकाष्ठा भी है। रसानुभूति और निष्कामता की दृष्टि से शुद्धा-भक्ति का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। यही कारण है कि यद्यपि प्रारम्भ में महर्षि विश्वामित्र ने महाराज से अज्ञान छोड़ने के लिए कहा था; किन्तु जब महाराज श्रीदशरथ ने श्रीराघवेन्द्र के सौकुमार्य का वर्णन करते हुए उन्हें देने में असमर्थता प्रगट की और विश्वामित्र पर ही अविचार का आरोप लगा दिया तब असंतुष्ट होने के स्थान पर ब्रह्मर्षि अंतःकरण में हर्षित ही हुए।

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी।
हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी।।

इस पंक्ति में विश्वामित्र के लिए "ज्ञानी" शब्द का प्रयोग वड़ा ही अर्थ-गर्भित है। एक ओर हैं महाराज श्रीदशरथ जिनका अंतःकरण प्रेमरस से ओत-प्रोत है और दूसरी ओर हैं महर्षि विश्वामित्र जिनका ज्ञान अप्रतिम है। विभिन्न निष्ठा वाले व्यक्तियों में परस्पर बहुधा संघर्ष की स्थिति ही देखी जाती है। वे एक दूसरे की निष्ठा को हीन सिद्ध करने के लिए व्यग्र रहते हैं। किन्तु मा:स की परम्परा सहिष्णुता और सद्भाव की परम्परा है। यहाँ परस्पर भिन्न भाव और निष्ठा रखते हुए भी एक दूसरे का पूरा समादर करते हैं। निष्ठा का सम्वन्ध भावना और संस्कार से है। इसलिए राम-चरित-मानस में अपनी निष्ठा को दूसरे पर लादने की बलात् चेष्टा नहीं की जाती। यहाँ तक की पति-पत्नी के रूप में होते हुए भी मनु और सतरूपा दो विभिन्न निष्ठाएँ स्वीकार करते हैं। महारानी सतरूपा की भक्ति "मिश्रा"-भक्ति है, दूसरी ओर महाराज मनु "शुद्धा"-भक्ति के आराधक हैं। पर इससे दोनों के परस्पर अनुराग और सद्भाव में कोई अन्तर नहीं आता। बाजार में अनेक प्रकार के मिष्ठान्न बनाए जाते हैं और प्रत्येक मिष्ठान्न में किसी न किसी रूप में शर्करा का उपयोग होता है। कुछ ऐसे होते हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से शर्करा दृष्टिगोचर नहीं होती तो कुछ मिठाइयाँ ऐसी हैं जिन में शर्करा शुष्क रूप में चारों ओर लिपटी हुई दिखाई देती है। तो कुछ ऐसे भी पकवान हैं जो शर्करा के सीरे में ही निरंतर डूबे रहते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अलग अलग प्रकार के मिष्ठान्नप्रिय होते हैं। उन्हें पूरी स्वतंत्रता है कि वे अपनी रुचि के अनुकूल मिष्ठान्न का स्वाद लें। किन्तु यदि वह दूसरे पर भी अपनी ही रुचि लादने की चेष्टा करे तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। ज्ञानी भी भक्तिशून्य नहीं होता। उसकी भी गणना चार प्रकार के भक्तों में की गई है।

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृति चारिउ अनग उदारा।।

चहुँ चतुर कहुँ नाम अधारा।
ग्यानिहिं प्रभुहिं बिशेष पिआरा ।।

ज्ञानी की भक्ति-निष्ठा की तुलना हम उस मिष्ठान्न (मोदक) से कर सकते हैं जिसमें प्रत्यक्ष रूप से शर्करा का दर्शन नहीं होता। और प्रेमी की भक्ति-निष्ठा उस मिष्ठान्न (जलेबी या रसगुल्ले) की तरह है जिसमें भीतर और बाहर रस ही रस का दर्शन होता है। दोनों में अपना भिन्न स्वाद विद्यमान है और पृथक्-पृथक् रुचि वालों को उसमें आकर्षण की अनुभूति होती है। महाराज श्रीदशरथ और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की निष्ठाओं को हम इसी कोटि में रख सकते हैं।

महाराज श्रीदशरथ ने जब विश्वामित्र पर अविचार का आरोप लगाया और उन्हें महामुनि अथवा ज्ञानी के स्थान पर केवल 'विप्र' कह कर पुकारा तब उनका तर्क यह था कि राक्षस वध जैसे कठोर कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव किया जाना चाहिए। कार्य के अनुरूप सही व्यक्ति का चुनाव करने में ही विवेक की सार्थकता है। यदि आप उस विवेक का प्रयोग नहीं करते तो मुनि की विशिष्टता के स्थान पर जातिगत नाम से आपको सम्बोधित करना ही उपयुक्त होगा। विश्वामित्र महाराजश्री की प्रेम-निष्ठा से प्रभावित तो होते हैं किन्तु उनके इस आरोप से वे सहमत नहीं हैं। इस प्रसङ्ग की एक भिन्न संदर्भ में पृथक् व्याख्या भी की जा सकती है। महाराज श्रीदशरथ की तर्क-प्रणाली उस लोक-तर्क पर आधारित है जिसमें यह माना जाता है कि विपक्षी पर विजय पाने के लिए उस जैसा होना अपेक्षित है। इसी तर्क-प्रणाली का प्रसिद्ध नीति वाक्य है "शठे शाठ्यं समाचरेत्" अथवा किरातार्जुनीय का वह प्रसिद्ध श्लोक जिसमें यह बताया गया है कि "वे मूर्ख-बुद्धि अवश्य पराजय के भागी बनते हैं जो मायाविओं से मायावी बनकर व्यवहार नहीं करते।"

"ब्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः"

महाराज की भी मान्यता यही जान पड़ती है कि कठोर राक्षसों का बध करने के लिए कठोर व्यक्तियों की ही अपेक्षा है न कि श्रीराम-लक्ष्मण जैसे कोमल बालकों की। किन्तु इन नीति वाक्यों को आदर्श

का परिचायक नहीं माना जा सकता। विश्वामित्र जिस आदर्श-दर्शन को समाज में प्रचारित करना चाहते हैं वह है कोमलता के द्वारा कठोरता पर विजय। बहिरङ्ग दृष्टि से युक्तिसङ्गत न प्रतीत होते हुए भी रामराज्य की स्थापना के लिए इसी आदर्श दर्शन की आवश्यकता थी। भारतीय वाङमय में जिन दो महान् युद्धों की गाथा विद्यमान है उनमें से एक है राम-रावण का युद्ध, और दूसरा है महाभारत का। महाभारत के युद्ध में पग-पग पर प्रचलित नीति-वाक्यों का ही अनुगमन किया गया है। वहाँ तो यह निर्णय करना ही कठिन हो जाता है कि समग्र युद्ध में कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में से अधिक अन्याय किसकी ओर से हुआ था। दोनों ही पक्ष एक दूसरे को अन्यायी सिद्ध करने पर तुले हुए थे। दोनों के पास ऐसे दृष्टांत उपलब्ध थे जिसे वे अपने पक्ष की पुष्टि में प्रस्तुत कर सकते थे। यों तो महाभारत के युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर की विजय हुई किन्तु यह विजय औपचारिक और नाममात्र की ही थी। क्योंकि इस विजय के पश्चात् रामराज्य के समान किसी ऐसे राज्य की स्थापना नहीं हुई जिसे युगों तक आदर्श राज्य के रूप में स्मरण किया जाता।

महाराज दशरथ के द्वारा अस्वीकृति में जो कुछ कहा गया था उसके बाद विश्वामित्र की स्थिति बड़ी जटिल हो गई। एक ओर वे महाराज दशरथ के विरुद्ध रोष नहीं प्रगट कर सकते थे क्योंकि उस अस्वीकृति के पीछे जो वात्सल्यमयी वृत्ति थी वे उसका आदर करते थे। किन्तु उनके वात्सल्य भाव की स्वीकृति का अर्थ था यज्ञ पूर्ति की आशा छोड़ देना। ऐसे अन्तर्द्वन्द की स्थिति में ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने उनको उबार लिया। यह दोनों महापुरुषों के इतिहास का अद्वितीय पृष्ठ था जब दोनों ने एक दूसरे का समर्थन किया। सारा पुराण साहित्य दोनों महान् तपस्वियों के संघर्ष की गाथाओं से भरा पड़ा है। वशिष्ठ को विश्वामित्र के रोष के कारण अपने सारे पुत्रों को गँवाना पड़ा। श्रीमद्भागवत के अनुसार त्रिशंकु को लेकर दोनों महापुरुषों में कठिन संघर्ष हुआ। मनुष्य के रूप में ही नहीं अपितु पक्षी बन कर भी वर्षों तक एक दूसरे से युद्ध करते रहे।

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्र वसिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ।।

किन्तु आज जैसे सारे बैर-विरोध का उपशमन हो गया। एक दिन विश्वामित्र की माँग पर वशिष्ठ ने कामधेनु की कन्या नन्दिनी को देना अस्वीकार कर दिया था। किन्तु आज श्रीराम की उपलब्धि में वे विश्वामित्र के सहायक बन गये और यह स्वाभाविक भी है। संसार की किसी भी वस्तु को देते हुए यह भय होता ही है कि मेरी वस्तु में अल्पता आजायेगी; अपूर्ण में यह भय होता ही है। किन्तु पूर्ण ईश्वर की विशेषता ही यही है कि वह जिसे भी स्वयं को प्रदान करता है; पूर्ण रूप में ही प्रदान करता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

इसलिए यहाँ ईश्वर को लेकर परस्पर ईर्ष्या, द्वेष की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्यत्र याचकों की भीड़ होने पर दूसरे याचक को यह भय लगता है कि इस भीड़ से हमारे भाग में कहीं अल्पता न आ जाय। किन्तु एक भक्त भगवान के निकट भक्तों की भीड़ को देखकर प्रसन्नता का अनुभव करता है, जो प्रभु से दूर हैं उन्हें भी प्रभु के निकट आने की प्रेरणा देता है। पुण्य और कर्म की परम्परा संघर्ष की वृत्ति को समाप्त करने में अक्षम है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-कर्म समान नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में उपलब्धि में भी विषमता का होना स्वाभाविक है। जहाँ विषमता होगी वहाँ संघर्ष भी होगा ही। इसीलिए गोस्वामी जी ने यह बताया कि स्वर्ग में भी सौतिया डाह नहीं मिटती। "स्वरगहुँ मिटति न सावति छूट।" भक्तों के भगवान उनकी आकांक्षा को समान रूप से पूर्ण करते हैं इसलिए वहाँ ईर्ष्या की आवश्यकता नहीं है।

जो जेहि भाय रहा अभिलाषी।
तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी ।।
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू।
कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू ।।

जो एक ही काल में सबके समस्त दुखों का निवारण करके समग्र

सुख प्रदान कर सके उसके यहाँ परस्पर प्रतिद्वन्दिता की कोई आवश्यकता नहीं है। वशिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष को समाप्त करने में भी भक्ति का यही दर्शन सहायक बना।

तब वसिष्ठ बहु बिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कहँ पावा॥

महर्षि वशिष्ठ ने अनेक रूपों में महाराज श्रीदशरथ को बचन की पूर्ति के लिए प्रेरित किया और तब राजा का संदेह नष्ट हो गया। "बहु बिधि समुझावा" का कोई स्पष्ट अर्थ गोस्वामी जी नहीं देते हैं; फिर भी संदर्भ के अनुकूल कुछ सार्थक कल्पनाएँ की जा सकती हैं। उनमें सर्वप्रथम रघुवंश की परम्परा का स्मरण कराया गया होगा। "सूर्यवंश में दिये गये वचनों की पूर्ति अवश्य की जाती है। जिस वंश में हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व का दान देकर तथा चाण्डाल के हाथों बिककर भी अपने वचन की रक्षा की हो उस वंश में उत्पन्न होकर यदि आपने बचन की रक्षा नहीं की तो उस अयश की कल्पना कीजिए जिसे महापुरुषों ने कोटि-कोटि मृत्यु की अपेक्षा भी अधिक दुखदाई बताया है।

संभावित कहँ अपजस लाहू।
मरन कोटि सम दारुन दाहू॥

महाराज, महर्षि विश्वामित्र के तप और तेज से आप भली भाँति परिचित हैं। उनकी कृपा और उनके रोष दोनों से ही आप परिचित हैं। अतः यदि वे असंतुष्ट हो गये तो कितना अनिष्ट कर सकते हैं, इसकी कल्पना कीजिए। फिर महर्षि विश्वामित्र जिस उद्देश्य से श्रीराम और लक्ष्मण को ले जाना चाहते हैं उसकी ओर दृष्टि डालिए। आप उस दिन का स्मरण कीजिए जब आपने मुझसे पुत्र के अभाव की पीड़ा का वर्णन किया था। आपको पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा चार पुत्रों की प्राप्ति हुई। आज महर्षि विश्वामित्र यज्ञ-संरक्षण के लिए आपके पुत्रों को ले जाना चाहते हैं। यज्ञ से प्राप्त पुत्र को यज्ञ के संरक्षण के लिए न देना कृतघ्नता की पराकाष्ठा होगी। आपने यदि महर्षि विश्वामित्र के शब्दों पर ध्यान दिया

होता तो आपको पुत्रों को समर्पित करने में प्रसन्नता होती। त्रिकालज्ञ महर्षि ने "इन्ह कहँ अति कल्यान" कहकर जो भविष्यवाणी की है वह क्या कभी मिथ्या हो सकती है? आप देखेंगे कि भविष्य में श्रीराघवेन्द्र की यह यात्रा परम कल्याण की सृष्टि करेगी।" इस प्रकार ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की युक्तियुक्त वचन-रचना ने महाराजश्रीके समस्त संशयों को दूर कर दिया। पुत्र की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर भविष्य में पुत्रों के अभ्युत्थान की कल्पना से वे पुलकित हो उठे। किन्तु भविष्य की आशंका से भी उनका वात्सल्य भरा हृदय पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिए पुत्रों को समर्पित करते हुए वे महर्षि को अपना पितृत्व भी अर्पित कर देते हैं। अत्यंत आदरपूर्वक श्रीराघवेन्द्र और लक्ष्मण को बुलाकर हृदय से लगा लेते हैं। महापुरुषों की सेवा कैसे करना चाहिए? यह प्रशिक्षण श्रीराघवेन्द्र को महाराजश्री ने प्रदान किया। समर्पित करते हुए महर्षि से बड़े ही भाव भीने शब्दों में अनुरोध किया, महामुनि! मेरे दोनों पुत्र प्राण-सदृश हैं। आज से इनके पिता आप ही हैं।

अति आदर दोउ तनय बोलाए।
हृदयँ लाइ बहु भाँति सिखाए।।
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।।
सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस।।

माताओं से आज्ञा लेने में अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। सम्भवतः माताओं के मन में दो भिन्न प्रकार की बातें आई हों। महर्षि विश्वामित्र के स्वभाव से परिचित माताओं ने यही सोचा होगा कि इन महापुरुष को प्रसन्न कर लेना ही उपयुक्त होगा। सम्भवतः उस ज्योतिषी की भविष्य वाणी का भी स्मरण उन्हें हो आया हो जो शंकर नाम से प्रसिद्ध थे और वाल्यावस्था में एक वार श्रीरामभद्र को देखने के लिए आए थे। उस समय उन्होंने यह कहा था कि महर्षि विश्वामित्र के साथ जाकर आपके पुत्र जनकपुर में धनुष तोड़कर दिव्य यश प्राप्त करेंगे और इसी यात्रा में धनुर्भङ्ग

के पश्चात् इनका विवाह भी होगा। पुराने दिनों का वह संस्मरण गीतावली की इन पंक्तियों में प्रस्तुत है।

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुन गन, बहुतन्ह परिचौ पायो।।
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
संग सिसु सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो।।
पांय पखारि, पूजि, दियो आसन, असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चरयो सुत, माथे हाथ दिवायो।।
नख सिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक, नयन जल छायो।
लै लै गोद कमल कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो।।
जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय-स्वयंबर गायो।
राम, भरत, रिपुदवन, लखन को जय सुख सुजस सुनायो।।
तुलसिदास रनिवास रहसबस, भयो सबको मन भायो।
सनमान्यौ महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो।।

माँ के चरणों में नमन कर श्रीरामभद्र अपने प्रिय अनुज लक्ष्मण के साथ महर्षि विश्वामित्र के निकट प्रणत होते हैं। इस तरह प्रभु के चरित्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यात्रा का श्री गणेश हुआ।

"पुरुषसिंह श्रीराम"

यात्रा के प्रारम्भ में गोस्वामी जी दोनों भाइयों का एक शौर्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं—

दो० पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन।।
अरुन नयन उर बाहु बिसाला।
नील जलज तनु स्याम तमाला।।
कटि पट पीत कसें बर भाथा।
रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।।
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई।
बिस्वामित्र महानिधि पाई।।

पुरुषसिंह दोनों बन्धु प्रसन्न मन से महर्षि विश्वामित्र के साथ चल पड़ते हैं। वीरता, कृपा, धैर्य आदि अनेक गुण इनमें विद्यमान हैं। वस्तुतः तो वे समस्त संसार के कारण और करण ही हैं। प्रभु के श्रीविग्रह का रंग नील कमल और श्याम तमाल के सदृश है। आँखों में अरुणिमा है। हृदय और भुजाएँ विशाल हैं। कटि में पीत पट के द्वारा अक्षय तूणीर कस कर बाँधा गया है। दोनों करकमलों में धनुष और बाण विद्यमान हैं। विश्वामित्र इस महान् निधि को पाकर पुलकित हो रहे हैं। उपर्युक्त पंक्तियों का यह सरल भावार्थ है। संक्षिप्त होते हुए भी इन पंक्तियों में भविष्य की सांकेतिक रूपरेखा महाकवि ने प्रस्तुत कर दी।

श्रीरघुबीर का पुरुषसिंह के रूप में चित्रण करते हुए गोस्वामी जी ने प्रभु के उस शौर्य का स्मरण दिलाया जो भविष्य की प्रत्येक लीला में पग-पग पर परिलक्षित होता है। सघन वन में जिस निर्भयता से श्रीराम चल रहे हैं उसे देख कर सिंह की स्मृति आना स्वाभाविक है। सिंह को वनराज कह कर पुकारते हैं। संस्कृत के एक प्रसिद्ध श्लोक में सिंह के राज्यत्व का बड़ा मार्मिक चित्र चित्रित किया गया है। साधारणतया जब किसी व्यक्ति को राज्य दिया जाता है, तब सिंहासन, छत्र और अभिषेक करने वाले आचार्य की आवश्यकता

होती है। किन्तु कवि प्रश्न करता है कि सिंह को वन के राज्य का उत्तराधिकार किससे प्राप्त हुआ? न तो उसके लिए किसी सिंहासन की व्यवस्था की गई, और न तो अभिषेक ही किया गया। फिर भी वह वनराज कहलाता है। किन्तु इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। सच्चे वीर सिंह को किसी दूसरे की कृपा से राज्य प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है? उसका यह राज्य, उसके अपने दिव्य पौरुष का पारणाम है।

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जित राज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता।।

ऋषि मुनियों की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है। जिस राजा के राज्य में उन्हें कष्ट प्राप्त होता है, वे विनष्ट हो जाते हैं।

मुनि तापस जिन्ह ते दुख लहहीं।
ते नरेस बिनु पावक दहहीं।।

तत्कालीन राजा अपने इस कर्त्तव्य की पूर्ति में असमर्थ रहे। उस कर्त्तव्य की पूर्ति पुरुषसिंह श्रीराघवेन्द्र करने को प्रस्तुत होते हैं। उनकी यह मृगेन्द्रता भी उनके पौरुष का ही परिणाम है। भौतिक दृष्टि से वह वन किसी भी राज्य की सीमा में रहा हो, उसके वास्तविक स्वामी श्रीकौशलेन्द्र राम ही थे। उनके इस सिंहत्व का समर्थन जनकपुर के दूतों ने महाराज श्रीदशरथ की सभा में शौर्य भरे स्वर में किया था, जनकपुर से जिस प्रकार की पत्रिका आई थी, उसमें श्रीराघवेन्द्र के जिन शौर्यपूर्ण क्रिया-कलापों का वर्णन था, वात्सल्य से भरा हुआ दशरथ का अन्तःकरण चाह कर भी उस पर विश्वास नहीं कर पा रहा था। स्नेह भरे हृदय से आश्चर्य भरे स्वर में उन्होंने दूतों से प्रश्न किया—"महाराज विदेह ने मेरे पुत्रों को कैसे पहचान लिया"?

कहहु बिदेह कवन बिधि जाने।
सुनि प्रिय बचन दूत मुसकाने।।

प्राचीन काल में यह परम्परा थी कि जब कहीं अनेक देश के राजा एकत्र होते थे, तब उनका परिचय देने के लिए उन राजाओं के बन्दी-चारण आगे आगे चलते हुए अपने महाराज का परिचय कवित्वपूर्ण

शब्दों में दिया करते थे। इससे दर्शकों को आगन्तुक राजाओं का परिचय तो प्राप्त होता ही था, यह आत्म विज्ञापन का भी अच्छा साधन था। बन्दी और चारणों को भी इसमें अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अच्छा सुअवसर प्राप्त होता था। एक दूसरे की होड़ में अपने-अपने संरक्षणों के गुणों के अतिरंजित वर्णन से लोगों को साहित्यिक मनोरंजन की उपलब्धि होती थी। यदि रामभद्र अयोध्या से स्वयंवर सभा में सम्मिलित होने के लिए गये होते तो महाराज दशरथ भी परम्परा के अनुकूल ऐसी व्यवस्था अवश्य करते। किन्तु तब इस नई परम्परा का सृजन कैसे होता जो श्रीरामचन्द्र की लीलाओं के द्वारा प्रतिष्ठापित होनी थी। ऐसी स्थिति में महाराज को यह आश्चर्य अवश्य हुआ कि जिस स्वयंवर सभा में सारे विश्व के राजा एकत्र थे, उनके राजकुमारों का परिचय कैसे प्राप्त हुआ होगा? जनकपुर के दूतों द्वारा बड़ा ही कवित्वपूर्ण और सार्थक उत्तर प्राप्त हुआ—"आपके पुत्रों के लिए किसी परिचय-पत्र की अपेक्षा नहीं है। वे तो पुरुषसिंह और त्रैलोक्य को प्रकाशित करने वाले हैं"।

पूछन जोग न तनय तुम्हारे।
पुरुषसिंघ तिहु पुर उजिआरे।।

'पुरुषसिंह' कह कर मानों दूतों ने यह जानना चाहा कि क्या अन्य राजाओं की भाँति वनराज सिंह का परिचय देने के लिए भी सिंह के आगे-आगे बन्दी अथवा चारण चला करते हैं? सिंह का परिचय तो स्वयं उसका शौर्य है।

इससे ही मिलती-जुलती वात एक भिन्न सन्दर्भ में सूर्पनखा ने कही थी। दण्डकारण्य के संघर्ष में चौदह हजार राक्षसों के विनष्ट होने के बाद सूर्पनखा ने लङ्का जाकर रावण की सभा में उस दुर्धर्ष योद्धा का परिचय देना प्रारम्भ किया जिसने कुछ ही क्षणों में खरदूषण और त्रिसरा की चौदह हजार सेनाओं को विनष्ट कर दिया था। लङ्काधिपति यह जानना चाहता था कि इस कार्य को सम्पन्न करने वाला यह व्यक्ति किस राज्य का स्वामी है। सूर्पनखा ने परिचय देते हुए अयोध्याधिपति दशरथ के पुत्र के रूप में जब उनका स्मरण किया तब रावण के मुख पर उपेक्षा के भाव उभर आए। वह सम्भवतः

यह कहना चाहता हो "क्या तुम उसी राजकुमार के विषय में वात कर रही हो, जिसकी अयोग्यता के कारण पिता ने उत्तराधिकार छीन कर वन में निष्कासित कर दिया?" रावण श्रीराघवेन्द्र के वन-गमन की यही व्याख्या किया करता था।

अगुन अमान जान तेहि दीन्ह पिता वनवास।
सो दुख अरु जुवती बिरह पुनि निसदिन मम त्रास।।

रावण के कुछ ऐसा कहने के पूर्व ही सूर्पनखा ने पुरुषसिंह कहकर उनका सच्चा परिचय दे दिया।

अवध नृपति दसरथ के जाये।
पुरुषसिंह बन खेलन आये।।
समुझि परै मोहि इन्ह कै करनी।
रहित निसाचर करिहहिं धरनी।।

सूर्पनखा का तात्पर्य था कि सिंह को राज्य का उत्तराधिकार पिता से नहीं अपितु शौर्य से प्राप्त होता है। स्वर्ण सिंहासन पर बैठ कर कोई भी सिंह कहला सकता है, किन्तु यह आसन की उत्कृष्टता का परिचायक है न कि उस पर आसीन व्यक्ति के पौरुष का। सिंह दूसरों के आखेट से अपनी क्षुधा शान्त नहीं करता। यह तो बन के अन्य पशुओं का कार्य है कि वे सिंह के आखेट का तुच्छ भाग प्राप्त कर स्वयं को तृप्त करें। यदि श्रीराम को पिता से राज्य की उपलब्धि नहीं हुई है तो यह उनके सिंहत्व के अनुरूप ही है।

दोहे में दोनों वीरों को पुरुषसिंह वताने के पश्चात् "हरषि चले मुनि भय हरन" में सिंह में निहित दोष को दूर करने का प्रयास किया गया है। सिंह शौर्य का प्रतीक होते हुए भी लोगों के अन्तःकरण में भय की सृष्टि करता है। किन्तु इस सिंह का वैलक्षव्य यह है कि वह भय के स्थान पर निर्भयता का दान देता है। वस्तुतः अवतार का मुख्य उद्देश्य जीव को भयमुक्त वनाना है। इसीलिए अवतार लेने की घोषणा करते हुए प्रभु ने निर्भयता का ही सन्देश दिया।

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।
निर्भय होउ देव समुदाई।।

'मुनि भय हरन' की यात्रा के लिए जाते हुए प्रभु दिए गये वचन की

पूर्ति का श्रीगणेश करते हैं। 'मुनि भय हरन' का तात्पर्य केवल एक वर्ग विशेष के भय को दूर करना ही नहीं है। मुनियों का भय कोई व्यक्तिगत भय नहीं है। उनके द्वारा किया जाने वाला यज्ञ लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित है। इस लिए मुनियों के यज्ञ से सारा ब्रह्माण्ड सम्बद्ध है।

सिंह के शौर्य के साथ उसके स्वभाव में क्रूरता भी विद्यमान रहती है। प्रभु की तुलना सिंह से करने के बाद क्रूरता के दोष का अभाव बताने के लिए 'कृपासिन्धु' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। शौर्य और कृपा का यह समन्वय ही रामचरितमानस का आदर्श है। प्रभु के चरित्र में कृपा के प्रसङ्ग पग पग-पर परिलक्षित होते हैं। प्रत्येक सहृदय व्यक्ति में कृपागुण विद्यमान होता ही है। पर संसार में व्यक्ति की कृपा की सीमाएँ होती हैं। वर्षा में जिधर दृष्टि डालें जल ही जल दिखाई देता है। किन्तु ग्रीष्म के प्रखर उत्ताप में सर्वत्र जल सूख जाता है या अल्प जल शेष रह जाता है। ठीक इसी तरह प्रसन्नता और आनन्द के क्षणों में अधिकांश व्यक्ति सहृदय और कृपालु प्रतीत होते हैं। किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में जब विद्वेष का तीव्र ताप अन्तःकरण में उदित होता है, तब उसी व्यक्ति का अन्तःकरण शुष्क मरूभूमि जैसा बन जाता है। वह तो समुद्र है जिसकी अथाह जलराशि पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कृपासिन्धु श्रीराम के चरित्र में इसी सत्य का साक्षात्कार होता है। जयन्त के प्रसङ्ग में चुनौती के स्वर में गोस्वामी जी प्रश्न करते हैं—

> कीन्ह मोह बस द्रोह यद्यपि तेहि कर बध उचित।
> प्रभु छाँड़ेहु कर छोह को कृपालु रघुबीर सम।।

जयन्त इन्द्र का पुत्र है। प्रभु के वनगमन का उद्देश्य देवताओं को राक्षसों के भय से मुक्त करना है। ऐसी परिस्थिति में जब प्रभु समस्त वैभव का परित्याग कर वन-वन भटक रहे हों, जब जनकनन्दिनी तपस्वनी के वेष में वन की समस्त असुविधाओं की उपेक्षा कर, देवताओं के कार्य में सहयोग देने के लिए स्वयं पधारी हों, तब देवराज के पुत्र का श्रीकिशोरी जी के चरणों में प्रहार कृतघ्नता की पराकाष्ठा थी। रावण जैसा व्यक्ति भी आद्याशक्ति के कठोर शब्दों को सुनने

के वाद ऊपर से क्रोध का अभिनय करता हुआ भी मन में श्री विदेह-नन्दिनी के पावन पादपद्मों की वन्दना ही करता है। उन चरणों में प्रहार कर जयन्त ने धृष्टता की पराकाष्ठा कर दी। अविवेकी जयन्त यदि प्रभु के शौर्य की परीक्षा लेना चाहता था तो उसके अन्य भी अनेक मार्ग थे। किन्तु पराभक्ति के चरणों में प्रहार कर वह सारी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर देता है। ऐसे व्यक्ति के लिए मृत्युदण्ड और नरक की प्राप्ति ही उचित दण्ड हो सकता था। यद्यपि प्रभु ने प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्ममन्त्र से प्रेरित सींकास्त्र को उसके पीछे लगा दिया, किन्तु वहाँ भी यह स्पष्ट है कि यदि जयन्त का वध अभीष्ट होता तो एक निमेष में ही उसका संहार हो सकता था। जयन्त के पीछे लगा हुआ वाण समस्त ब्रह्माण्ड में उसका पीछा करता हुआ भी जयन्त का वध क्यों नहीं करता? सन्त नारद ने इसी रहस्य का जयन्त के सामने उद्‌घाटन किया। देवर्षि नारद का दर्शन जयन्त को कैसे प्राप्त हुआ? जब कि मानस की मान्यता यह है कि महान् पुण्य के विना सन्त का साक्षात्कार नहीं होता।

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।
सत संगति संसृति कर अंता।।

जयन्त के समस्त पुण्य तो उसी समय विनष्ट हो गए जब उसने जगन्माता के चरणों में प्रहार किया। वस्तुतः सन्त की उपलब्धि के मानस में दो कारण वताए गये हैं—पुण्य और भगवत्कृपा।

जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा।
तौ तुम मोहि दरस हठ दीन्हा।।

विनय-पत्रिका में भी इसी पक्ष की पुष्टि की गई है।

जब द्रवहिं दीन दयाल राघव साधु संगति पाइए।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप पुन्ज नसाइए।।

जयन्त को संत की उपलब्धि कृपा के द्वारा ही सम्भव हुई। और इसका तात्पर्य यह है कि जव ऊपर से प्रभु परम कोप का प्रदर्शन कर रहे थे, तव भी अन्तःकरण में कृपा का समुद्र लहरा रहा था और इसीलिए सन्त को जयन्त के निकट भेज कर उसके लिए भी शरणागति

का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस तरह जयन्त जैसा अपराधी भी कृपासिन्धु प्रभु से क्षमा प्राप्त कर लेता है।

विश्वामित्र के साथ सम्पन्न होने वाली इस यात्रा में भी शौर्य के साथ-साथ महती कृपा का साक्षात्कार होता है। क्रूर-कर्मा-ताड़का को गुरुदेव की आज्ञा से वे एक क्षण में ही मृत्यु का ग्रास बना देते हैं; किन्तु उस तमोमयी राक्षसी को अपना धाम देकर अपनी कृपामयी अनुकम्पा का दर्शन कराते हैं।

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।।

इस पंक्ति में 'लीन्हा' और 'दीन्हा' दो शब्दों के माध्यम से उनके कृपामय स्वभाव का बड़ा ही मधुर परिचय प्राप्त होता है। कर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुकूल पापमयी ताड़का मुक्ति की अधिकारिणी नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रभु से यह पूछा जाता कि आप इसे मुक्ति या अपना पद किस कर्म के प्रतिदान में दे रहे हैं? तब प्रभु का यही उत्तर होता कि यदि किसी से कोई वस्तु ली जाए तो बदले में उसे कुछ न देना क्षात्रधर्म के प्रतिकूल है। जब ताड़का से मैंने संसार की सर्वाधिक प्रिय वस्तु ले ली (देह प्राण ते प्रिय कछु नाही) तब प्रतिदान में मुझे भी कुछ न कुछ देना ही चाहिए था। अतः निज-पद देकर मैंने सुधर्म का ही पालन किया है।

कृपासिन्धु के पश्चात् गोस्वामी जी ने प्रभु को 'मतिधीर' की उपाधि प्रदान की। मानो विजय-यात्रा के इस अभियान में महाकवि को धर्मरथ की स्मृति हो आई। धर्मरथ को गतिशील बनाने के लिए जिन पहियों की आवश्यकता है उनके नाम हैं शौर्य और धैर्य।

सौरज धीरज ते रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।

दोहे के प्रथम भाग में यदि उनके शौर्य का स्मरण दिलाया गया तो दोहे के द्वितीय भाग में 'मतिधीर' कह कर रथचक्र को पूर्णता प्रदान की। यों सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर धर्मरथ में ध्वजा और पताका के रूप में कथित सत्य और शील का भी संकेत इस दोहे में प्राप्त हो जाता है। 'मुनि भय हरन' में इसी सत्य का संकेत प्राप्त होता है।

"जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा" में प्रभु ने जो प्रतिज्ञा की थी, 'मुनि भय हरन में' इसी प्रतिज्ञा की पूर्ति की जा रही है। 'हरषि चले' में प्रभु के शील-गुण का संकेत प्राप्त होता है। महर्षि विश्वामित्र प्रभु के साथ किसी वाहन या सुविधा की व्यवस्था नहीं होने देते; जब कि बड़ी ही सरलता से यह प्रबन्ध किया जा सकता था। इस प्रक्रिया में किसी व्रत-भंग की सम्भावना भी नहीं थी। फिर भी महर्षि ने सम्भवतः अनुरोध किए जाने पर भी इसे स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के अन्तःकरण में क्षोभ उत्पन्न हो सकता था। किन्तु प्रभु को तो अपने शील-गुण के कारण गुरुदेव के प्रत्येक क्रिया-कलाप में प्रसन्नता ही होती है। प्रभु को प्रतीत हुआ कि महर्षि उसी नवीन परम्परा का प्रशिक्षण प्रदान कर रहे हैं जो भविष्य में 'रामराज्य' की स्थापना में सहायक बनेगी। आगे चल कर रावण के विरुद्ध अपने महान संघर्ष में भी प्रभु महर्षि के द्वारा प्रवर्तित इसी परम्परा का पालन करते हैं। अयोध्या की सेना बुला कर भी रावण से युद्ध किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यह युद्ध समान स्तर का माना जाता—किन्तु तब यह युद्ध भौतिकता के विरुद्ध भौतिकता का ही संघर्ष होता। परन्तु 'रामराज्य' का आदर्श है भौतिकता के विरुद्ध संघर्ष में आध्यात्मिक शक्तियों की विजय। इस आदर्श का श्रीगणेश महर्षि विश्वामित्र के साथ की गई प्रथम यात्रा में ही हो जाता है। जिन लोगों को यह आश्चर्य होता है कि समाचार मिलने पर भी श्रीभरत ने सेना लेकर प्रभु की सहायता क्यों नहीं की; उन्हें विश्वामित्र के साथ की गई इस प्रथम यात्रा से उत्तर प्राप्त हो सकता है। अगाध वात्सल्य से भरे हुए महाराज श्रीदशरथ श्रीराघवेन्द्र के साथ अयोध्या की विशाल सेना तो दूर, पहुँचाने के लिए एक रथ भी नहीं भेजते हैं। यदि महाराज-श्री के इस कार्य में कोई असंगति नहीं है, तब प्रभु के मनोभाव के परमानुरागी श्रीभरत से यह कैसे आशा की जा सकती है कि वे प्रभु के आदर्श के विरुद्ध सेना ले जाकर प्रेम-प्रदर्शन का प्रयास करते।

उचित निर्णय के लिए बुद्धि का स्थिर होना परमावश्यक है। रामचरित मानस में मति की तुलना पृथ्वी से की गई है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू।।

व्यक्ति के चरण गतिशील हैं। उस गति का सदुपयोग तभी किया जा सकता है जबकि चरण की आधार भूमि स्थिर हो। व्यक्ति के पुरुषार्थ के सारे प्रतीक नगर, जनपद, भवन, पृथ्वी की सुस्थिरता में ही सुरक्षित हैं। जब कभी भूकम्प आता है तब कुछ क्षणों का विचलन कैसा सर्वनाश कर सकता है यह इतिहास के पृष्ठों में अंकित है। व्यक्ति का सारा आन्तर जीवन, उसकी सुखशान्ति, बुद्धि की आधार भूमि पर ही स्थित है। बुद्धि के विचलित होते ही व्यक्ति की सारी सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है। जीवन में भय और प्रलोभन के रूप में बुद्धि को विचलित करने वाले अनेक अवसर आते हैं। ऐसे अवसरों पर न विचलित होना ही मतिधीरता का लक्षण है।

भगवान राम की इस यात्रा के प्रसङ्ग में भय और प्रलोभन दोनों ही प्रकार के अवसर आते हैं। किन्तु दोनों ही अवसरों पर उनकी मतिधीरता दर्शनीय है। महाराज श्रीजनक की स्वयंवर सभा में विश्व के विभिन्न भागों से आए हुए राजाओं ने जिस अधीरता का परिचय दिया उससे वे सर्वथा उपहासास्पद बन गए और अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ा।

सुनि पन सकल भूप अभिलाषे
भटिमानी अतिसय मन माखे।
परिकर बाँधि उठे अकुलाई
चले इष्ट देवन्ह सिर नाई।।

प्रतिज्ञा सुन कर जिस प्रकार सभा में भगदड़ मची वह किसी साधारण सभा की मर्यादा के भी प्रतिकूल थी। यह तो वह सभा थी, जो परम तत्त्वज्ञ जनक के द्वारा आमन्त्रित की गई थी और जिस सभा में अनेक तेजस्वी, शक्तिशाली शासक विद्यमान थे। उस सभा की यह अव्यवस्था यही सिद्ध करती है कि प्रलोभन बड़े से बड़े व्यक्ति की बुद्धि को भी विचलित कर देता है। विचलित लोगों के पराजय की प्रतिक्रिया महाराज जनक के अन्तःकरण पर भी होती है और लगता है कि जैसे वे भी विचलित हो उठे हों। रोष भरे स्वर में उन्होंने जिस

निराशा भरी वाणी का प्रयोग किया, वह उनकी तत्त्वज्ञता की मर्यादा के अनुरूप न थी। उनकी वाणी में विवेक और विचार के स्थान पर रोष और नैराश्य के ही दर्शन होते हैं।

नृपन्ह बिलोकि जनकु अकुलाने।
बोले बचन रोष जनु साने।।
दीप दीप के भूपति नाना।
आए सुनि हम जो पनु ठाना।।
देव दनुज धरि मनुज सरीरा।
बिपुल बीर आए रनधीरा।।
कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।।
कहहु काहि यहु लाभ न भावा।
काहुँ न संकर चाप चढ़ावा।।
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई।
तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई।।
अब जनि कोउ माखै भटमानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी।।
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू।।
सुकृतु जाइ जौं पन परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ।।
जौं जनतेऊँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पन करि होतेउँ न हँसाई।।

प्रतिज्ञा की घोषणा से राजाओं में व्याकुलता फैली थी और उसकी पूर्ति के अभाव में महाराज श्रीजनक व्याकुल थे। तत्त्वज्ञ जनक की वाणी में जो आक्षेप था उससे लक्ष्मण जी क्षुब्ध हो उठते हैं। और उन्होंने जिस ओजस्वी भाषा में जनक की वाणी का उत्तर दिया, उसमें उनके शौर्य का परिचय प्राप्त होता है; किन्तु साथ ही उसमें अधीरता का पुट भी विद्यमान है।

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले।।

राजाओं की व्याकुलता के पीछे उनका स्वार्थ ही प्रेरक रूप में विद्यमान है। महाराज की व्याकुलता में निराशा है और श्री लक्ष्मण की अधीरता में शौर्य। क्रमशः इन सारी परिस्थितियों में 'मतिधीरता' तो श्री रामभद्र के चरित्र में ही परिलक्षित होती है। महर्षि विश्वामित्र द्वारा धनुर्भङ्ग का आदेश प्राप्त करने के बाद उनकी सहज स्थिति का परिचय गोस्वामी जी इन शब्दों में देते हैं।

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा।।
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ।
ठवनि जुवा मृगुराजु लजाएँ।।

धनुर्भङ्ग के पश्चात् अधीरता की एक भिन्न परिस्थिति सामने आती है। धनुष टूटने के पश्चात् परशुराम के रूप में जो महान् भय उपस्थित हुआ, उसमें एक बार पुनः लोगों के धैर्य की परीक्षा हुई। दूसरी बार पुनः लोगों ने उसी अधीरता का परिचय दिया। विशेष रूप से पुनः उन्हीं राजाओं ने सबसे अधिक व्याकुलता का प्रदर्शन किया जो धनुर्भङ्ग के पहले व्याकुल हो उठे थे। यद्यपि परशुराम से तत्कालीन परिस्थिति में राजाओं के भयभीत होने का कोई कारण नहीं था किन्तु जिनका अन्तःकरण निर्बल होता है, वे काल्पनिक भय से भी अधीर हो जाते हैं। पर उस परिस्थिति में जिनके लिए सर्वाधिक भय उपस्थित था वे श्रीमद्राघवेन्द्र पूरी तरह प्रशान्त रहे और उनकी वाणी में उसी मतिधीरता की अभिव्यक्ति होती है जो धनुर्भङ्ग के पूर्व विद्यमान थी।

सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्री रघुबीर।।

इस तरह इस यात्रा में भगवान राम के चरित्र में केवल मतिधीरता का परिचय ही प्राप्त नहीं होता, अपितु मतिधीरता की पूर्ण परिभाषा भी उपलब्ध हो जाती है। बड़े से बड़े प्रलोभन और भय के अवसर पर भी बुद्धि का विचलित न होना ही सच्ची मतिधीरता है।

मतिधीरता के पश्चात् दोहे में भगवान राम का परिचय 'अखिल बिस्व कारन करन' कह कर दिया जाता है। किसी भी वस्तु के निर्माण में दो हेतु होते हैं। जैसे मिट्टी के घड़े को दृष्टान्त के रूप में लें। घट-निर्माण के लिए मिट्टी की आवश्यकता है, इसे हम 'कारण' कह सकते हैं। किन्तु मिट्टी के होते हुए भी कुम्हार और कुलाल (चक्र) के अभाव में घट-निर्माण की क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। घट-निर्माण में कुम्हार और कुलाल को हम 'करण' कह सकते हैं। विश्व के निर्माण के विषय में भी यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि इसके निर्माण में 'कारण' और 'करण' के रूप में किन वस्तुओं को स्वीकार किया जाए? इस दोहे में ''अखिल बिस्व कारन करन'' कह कर श्रीराम को ही कारण और करण दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। क्योंकि सृष्टि-निर्माण के पहले ईश्वर को छोड़कर कोई अन्य पदार्थ नहीं था कि जिससे विश्व का निर्माण किया जाता। अतः जैसे मकड़ी विना किसी वाह्य पदार्थ का आश्रय लिए हुए अपने ही शरीर से जाले का निर्माण कर लेती है ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी अपने आप में ही सृष्टि का निर्माण करता है। इसलिए 'कारण' और 'करण' दोनों ही रूपों में श्री राम को स्वीकार किया गया। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस विशेषण का प्रयोग विशेष उद्देश्य से किया गया है। इसी यात्रा में भगवान श्रीराघवेन्द्र के परिणय का पावन प्रसङ्ग आता है। श्री सीता का परिचय रामचरितमानस में सृष्टि के मूल कारण के रूप में दिया गया है।

उद्भवस्थिति संहार कारिणी क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

* * *

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।
सो अवतरिहि मोरि यह माया॥

श्रीसीता और भगवान राम तत्त्वतः अभिन्न होते हुए भी दो पृथक् व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इसीलिए वन्दना–प्रसङ्ग में उन्हें 'कहियत भिन्न न भिन्न कह कर स्तुति की गई है।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।
बन्दउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ।।

यदि 'कारण' और 'करण' के रूप में दो पृथक् पदार्थों की खोज अभीष्ट हो तो श्रीसीता और भगवान राम में इन्हें आरोपित कर सकते हैं। यदि श्रीसीता को कारण स्वीकार करें तो भगवान राम को करण कह कर पुकार सकते हैं। और चाहे तो 'कारण' और 'करण' की इस उपाधि को एक दूसरे में परिवर्तित भी कर सकते हैं। वस्तुतः तो वे अभिन्न ही हैं।

इस दोहे में जो विशेषण दिए गये हैं उन्हें इस पूरी यात्रा की विभिन्न क्रिया-कलापों के सूचीपत्र के रूप में देख सकते हैं। ताड़का प्रसङ्ग को श्रीराघवेन्द्र के पुरुषसिंहत्व के रूप में देखा जा सकता है। ताड़का जैसी दुर्जय राक्षसी को एक ही वाण के प्रहार से विनष्ट कर देना उनके सिंहत्व का परिचायक है। 'दोउ वीर' का विशेषण विश्वामित्र के यज्ञ-संरक्षण के प्रसङ्ग में दिखाई गई दोनों भाइयों की वीरता की ओर संकेत करता है।

सुनि मारीच निसाचर कोही ।
लै सहाय धावा मुनि द्रोही ।।
बिनु फर बान राम तेहि मारा ।
सत जोजन गा सागर पारा ।।
पावक सर सुबाहु पुनि मारा ।
अनुज निसाचर कटकु संघारा ।।

'मुनि भय हरन' की सार्थकता यज्ञ के सकुशल सम्पन्न हो जाने के बाद सिद्ध होती है।

मारि असुर द्विज निर्भयकारी ।
अस्तुति करहिं देव मुनि झारी ।।

कृपासिन्धु का विशेषण अहिल्या प्रसङ्ग की ओर इंगित करता है। शापग्रस्ता अहिल्या के उद्धार का अनुरोध करते हुए महर्षि विश्वामित्र ने श्रीराघवेन्द्र से कृपागुण का प्रयोग करने का आग्रह किया।

गौतम नारी साप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ।।

'मतिधीरता' का दर्शन धनुषयज्ञ के प्रसङ्ग में होता है जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

'अखिल बिस्व कारन करन' का विशेषण ब्रह्म और शक्ति के दिव्य परिणय की ओर इङ्गित करता है। लोक निर्माता ब्रह्मा जनकपुर में अपनी कोई कृति न देख कर चकित हो जाते हैं। उनकी इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए भगवान शंकर यह स्मरण करा देते हैं कि यह किनका विवाह हो रहा है?

बिधिहुँ भयउ आचरज बिसेषी।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी।।
दो० सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु।
हृदयँ बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिबाहु।।

"ताड़का बध"

रामचरित मानस में ताड़का के पूर्व चरित्र का कोई उल्लेख न होते हुए भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ताड़का का महत्त्व इसलिए भी वढ़ जाता है कि वह भगवान राम के वाण का प्रथम लक्ष्य वनी। राक्षसों की ओर से भगवान राम को सर्वप्रथम चुनौती देने वाली भी राक्षसी ताड़का ही है। महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ को ध्वंस करने वाले मारीच और सुवाहु इसी राक्षसी के पुत्र हैं।

अन्य रामायणों में महर्षि विश्वामित्र के द्वारा ताड़का के बध का आदेश दिए जाने के वाद श्रीराम के अन्तर्द्वन्द का उल्लेख प्राप्त होता है। उन ग्रन्थों के अनुकूल श्रीराघवेन्द्र रघुवंश की वीर परम्परा के अनुकूल किसी स्त्री पर वाण चलाने में संकोच का अनुभव करते हैं। महर्षि विश्वामित्र के द्वारा धर्म की व्याख्या से उनके अन्तर्द्वन्द का निराकरण होता है। रामचरित मानस के श्रीराम में धर्म के विषय में इस प्रकार की कोई दुविधा विद्यमान नहीं है। सहस्रों व्यक्तियों को मृत्यु का ग्रास बना देने वाली ताड़का केवल स्त्री होने के नाते ही अबध्या हो जाय; इस प्रकार की मान्यता के पीछे वहिरङ्ग भावुकता ही हो सकती है। विवेक की दृष्टि से इस प्रकार के तर्क में कोई वल प्रतीत नहीं होता। ताड़का के स्वरूप को हृदयङ्गम करने के लिए उसकी पूर्व गाथा पर विचार कर लेना आवश्यक है।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार ताड़का मूल रूप में यक्षिणी थी। यह सुकेतु नाम के यक्ष की कन्या थी। सुकेतु ने संतान की उपलब्धि के लिए तपस्या की। ब्रह्मा के वरदान से उसे एक ऐसी कन्या की प्राप्ति हुई जिसमें एक हजार हाथियों का वल था; यही ताड़का थी। सुकेतु ने अपनी कन्या ताड़का का विवाह सुन्द नाम के यक्ष से कर दिया। सुन्द महर्षि अगस्त से शापग्रस्त हो मृत्यु का ग्रास हुआ। क्रुद्ध ताड़का ने अपने पुत्रों सहित महर्षि अगस्त पर आक्रमण किया। महर्षि ने इन्हें राक्षस हो जाने का शाप दे दिया। परिणामस्वरूप ताड़का राक्षसी होकर अपने पुत्रों के साथ मुनियों का विनाश करने लगी। इसी के पुत्र मारीच और सुवाहु महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ का ध्वंस कर

देते थे। अयोध्या से आते हुए महर्षि उसी मार्ग से श्रीराघवेन्द्र को ले आये जहाँ ताड़का का निवास था। यह स्थान घोर वन था, ताड़का के नाम से ही इसका नाम ताड़का-वन हो गया था। इस मार्ग से भय के मारे कोई पथिक नहीं जाता था। मारीच और सुबाहु के पहिले ताड़का का वध महर्षि विश्वामित्र को अभीष्ट था। इसलिए श्री राघवेन्द्र को लेकर महर्षि इस मार्ग से आए। श्रीराघवेन्द्र की जिज्ञासा के उत्तर में विश्वामित्र ने ताड़का का उपाख्यान उन्हें सुनाया।

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम्।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम् ॥१॥

अपरिमित प्रभावशाली विश्वामित्र मुनि का यह उत्तम वचन सुनकर पुरुषसिंह श्रीराम ने यह शुभ बात कही—॥१॥

अल्पवीर्या यदा यक्षी श्रूयते मुनिपुङ्गव।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यवला वलम् ॥२॥

मुनि श्रेष्ठ! जब यह यक्षिणी एक अवला सुनी जाती है, तब तो उसकी शक्ति थोड़ी ही होनी चाहिए; फिर वह एक हजार हाथियों का बल कैसे धारण करती है ॥२॥

इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा राघवस्यामितौजसः।
हर्षयञ्श्लक्ष्णया वाचा सलक्ष्मणमरिंदमम् ॥३॥
विश्वामित्रोऽब्रवीद् वाक्यं श्रृणु येन बलोत्कटा।
वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यवला वलम ॥४॥

अमित तेजस्वी श्रीरघुनाथ के कहे हुए इस वचन को सुनकर विश्वामित्र जी अपनी मधुरवाणी द्वारा लक्ष्मण सहित शत्रु दमन श्रीराम को हर्ष प्रदान करते हुए बोले—रघुनन्दन! जिस कारण से ताटका (ताड़का) अधिक बलशालिनी हो गई है, वह बताता हूँ, सुनो। उसमें वरदान-जनित बल का उदय हुआ है; अतः वह अवला होकर भी वल धारण करती है (सवला हो गयी है)।

पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान्।
अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः ॥५॥

पूर्वकाल की बात है, सुकेतु नाम से प्रसिद्ध एक महान् यक्ष थे।

वे बड़े पराक्रमी और सदाचारी थे; परन्तु उन्हें कोई सन्तान नहीं थी; इसलिए उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की।

पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा।
कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः ॥६॥

श्रीराम! यक्षराज सुकेतु की उस तपस्या से ब्रह्मा जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सुकेतु को एक कन्यारत्न प्रदान किया, जिसका नाम ताटका (ताड़का) था।

ददौ नागसहस्रस्य बलं चास्याः पितामहः।
न त्वेव पुत्रं यक्षाय ददौ चासौ महायशाः ॥७॥

ब्रह्मा जी ने ही उस कन्या को एक हजार हाथियों के समान बल दे दिया, परन्तु उन महायशस्वी पितामह ने उस यक्ष को पुत्र नहीं दिया (उसके संकल्प के अनुसार पुत्र प्राप्त हो जाने पर उसके द्वारा जनता का अत्यधिक उत्पीड़न होता, यही सोचकर ब्रह्मा जी ने पुत्र नहीं दिया)।

तां तु बालां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम्।
जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम् ॥८॥

धीरे-धीरे वह यक्ष-बालिका बढ़ने लगी और बढ़कर रूप-यौवन से सुशोभित होने लगी। उस अवस्था में सुकेतु ने अपनी उस यशस्विनी कन्या को जम्भपुत्र सुन्द के हाथ में उसकी पत्नी के रूप में दे दिया।

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत।
मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद् राक्षसोऽभवद् ॥९॥

कुछ काल के बाद उस यक्षी ताटका ने मारीच नाम से प्रसिद्ध एक दुर्जय पुत्र को जन्म दिया, जो अगस्त मुनि के शाप से राक्षस हो गया।

सुन्दे तु निहते राम अगस्त्यमृषिसत्तमम्।
ताटका सहपुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति ॥१०॥

श्रीराम! अगस्त्य ने ही शाप देकर ताटकापति सुन्द को भी मार डाला। उसके मारे जाने पर ताटका पुत्र सहित जाकर मुनिवर को भी मौत के घाट उतार देने की इच्छा करने लगी।

भक्षार्थं जातसम्भा गर्जन्ती साभ्यधावत।
आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ॥११॥

राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः।
अगस्त्यः परमामर्षस्ताटकामपि शप्तवान् ।।१२।।
पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना।
इदं रूपं विहायाशु दारुणं रूपमस्तु ते ।।१३।।

वह कुपित हो मुनि को खा जाने के लिए गर्जना करती हुई दौड़ी। उसे आती देख भगवान अगस्त्य मुनि ने मारीच से कहा—तू देवयोनि-रूप का परित्याग करके राक्षस भाव को प्राप्त हो जा। फिर अत्यन्त अमर्ष में भरे हुए ऋषि ने ताटका को भी शाप दे दिया—तू विकराल मुखवाली नरभक्षिणी राक्षसी हो जा। तू है तो महायक्षी; परन्तु अब शीघ्र ही इस रूप को त्यागकर तेरा भयंकर रूप हो जाय।

सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्च्छिता।
देशमुत्सादयत्येनमगस्त्याचरितं शुभम् ।।१४।।

इस प्रकार शाप मिलने के कारण ताटका का अमर्ष और भी बढ़ गया। वह क्रोध से मूर्च्छित हो उठी और उन दिनों अगस्त्य जी जहाँ रहते थे, उस सुन्दर देश को उजाड़ने लगी।

एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम्।
गो ब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्ट पराक्रमाम् ।।१५।।

रघुनन्दन! तुम गौओं और ब्राह्मणों का हित करने के लिए दुष्ट पराक्रमवाली इस परम भयङ्कर दुराचारिणी यक्षी का वध कर डालो।

नह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान्।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन ।।१६।।

रघुकुल को आनन्दित करने वाले वीर! इस शापग्रस्त ताड़का को मारने के लिए तीनों लोकों में तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष समर्थ नहीं है।

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ।।१७।।

नरश्रेष्ठ! तुम स्त्री हत्या का विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्र को चारों वर्णों के हित के लिए स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो उससे मुँह नहीं मोड़ना चाहिए।

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ।।१८।

प्रजा पालक नरेश को प्रजाजनों की रक्षा के लिए क्रूरतापूर्ण या क्रूरतारहित, पातक युक्त अथवा सदोष कर्म भी करना पड़े तो कर लेना चाहिए। यह बात उसे सदा ही ध्यान में रखनी चाहिए।

राज्यभार नियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ अधर्मो ह्यस्यां न विद्यते ।।१९।।

जिनके ऊपर राज्य के पालनका भार है, उनका तो यह सनातन धर्म है। ककुत्स्थकुलनन्दन ! ताटका महापापिनी है। उसमें धर्म का लेशमात्र भी नही है; अतः उसे मार डालो।

श्रूयतेहि पुरा शक्रो विरोचन सुतां नृप।
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत् ।।२०।।

नरेश्वर ! सुना जाता है कि पूर्वकाल में विरोचन की पुत्री मन्थरा सारी पृथ्वी का नाश कर डालना चाहती थी। उसके इस विचार को जानकर इन्द्र ने उसका वध कर डाला।

विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता ।।२१।।

श्रीराम ! प्राचीन काल में शुक्राचार्य की माता तथा भृगु की पतिव्रता पत्नी त्रिभुवन को इन्द्र से शून्य कर देना चाहती थी। यह जानकर भगवान विष्णु ने उनको मार डाला।

एतैश्चन्यैश्च बहुभी राजपुत्रैर्महात्मभिः।
अधर्म सहिता नार्यो हता पुरुषसत्तमैः।
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा जहि मच्छासनान्नृप ।।२२।।

इन्होंने तथा अन्य बहुत से महामनस्वी पुरुषप्रवर राजकुमारों ने पापाचारिणी स्त्रियों का वध किया है। नरेश्वर ! अतः तुम भी मेरी आज्ञा से दया अथवा घृणा को त्यागकर इस राक्षसी को मार डालो।

आध्यात्मिक दृष्टि से ताटका दुराशा है। गोस्वामी जी नाम-वंदना-प्रसंग में ताड़का को इसी रूप एवं "निशा" रूप में प्रस्तुत करते हैं।

रिषि हित राम सुकेतु सुता की।
सहित सेन सुत कीन्ह विवाकी।।
सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा।।

निशा के रूप में ताड़का अविद्या का प्रतीक है। रामराज्य के प्रसङ्ग में रामप्रताप रूप सूर्य के उदय से जिसका सर्वप्रथम विनाश होता है, वह यही है।

जब ते रामप्रताप खगेसा।
उदित भयउ अतिप्रवल दिनेसा।।
जिन्हहिं सोक ते कहहुँ वखानी।
प्रथम अबिद्या निसा नासनी।।

उस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम अविद्या निशा के नष्ट होने की वात कही गई है। विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षा के प्रसङ्ग में भी सर्वप्रथम ताड़का पर प्रहार वस्तुतः अविद्या निशा पर ही प्रहार है। ताड़का के पुत्र के रूप में मारीच और सुवाहु द्वैत के प्रतीक हैं। अविद्या का स्वरूप है "मैं" और "तू"।

तेहिकर भेद सुनहु तुम दोउ।
विद्या अपर अबिद्या सोउ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा।
जा वस जीव परा भव कूपा।।
मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि वस कीन्हेसि जीव निकाया।।

मैं और मेरा का प्रतीक मारीच है, तू का प्रतीक है—सुवाहु। जव तक अविद्या विद्यमान है तव तक द्वैत पर विजय सम्भव नहीं है। अतः मारीच और सुवाहु के पहिले ताड़का पर ही प्रहार अपेक्षित है। ज्ञानियों के लिए यदि ताड़का अविद्या निशा का प्रतीक है तो भक्तों के लिए यह मूर्तिमती दुराशा है। यक्ष से राक्षसत्व में परिवर्तन दुराशा की ही व्याख्या है। यक्ष मूलतः धनप्रिय है और वे धन के रक्षक हैं। धनाधिप कुबेर इनके स्वामी हैं। यक्ष उन जातियों में नहीं हैं जिन्हें युद्धप्रिय कहा जाता है। रावण के भाग खड़े होना उनकी इसी

दुर्बलता का परिचायक है। स्वर्णमयी लङ्का की अपेक्षा प्राण उन्हें अधिक प्रिय हैं।

अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे।
रच्छक कोटि जच्छ पति केरे॥
दसमुख कतहुँ खबर असपाई।
सेन साज गढ़ घेरेन्हि जाई॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।
जच्छ जीव लै गए पराई॥

धनिक युद्धप्रिय नहीं होता। धनप्रिय होने पर भी धनिक प्राण-संकट उपस्थित होने पर धन का परित्याग कर देता है। उसे भली प्रकार ज्ञात है कि वह जीवित रहने पर पुनः धन प्राप्त कर लेगा। इसीलिए स्वर्णमयी लङ्का का परित्याग करने में यक्ष विलम्ब नहीं करते।

ताड़का का जन्म यक्ष जाति में हुआ था और उसमें भी वह अबला थी। किन्तु महर्षि अगस्त्य के द्वारा अभिशप्त होकर उसमें जो परिवर्तन होता है वह बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। ब्रह्मा के वरदान के द्वारा जन्म और महर्षि अगस्त्य के द्वारा शाप, वरदान और शाप के रहस्यों पर प्रकाश डालता है। सुकेतु राजा ने यद्यपि संतान की उपलब्धि के लिए ही तप किया था; किन्तु उसके अन्तःकरण में पुत्र के प्रति गौरव-वृत्ति रही हो यह स्वाभाविक ही था। ब्रह्मा ने सुकेतु के संतोष के लिए कन्या को विशिष्ट बल देकर उसके अबलात्व का निराकरण कर दिया; किन्तु यह अबला की सबलता ही उसके लिए घातक बन बैठी। सुकेतु ने सोचा था कि अपनी कन्या को योग्य वर को अर्पित कर मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा। पर उसका विवाह एक ऐसे यक्ष से कर दिया गया जो यक्ष होने से धनाधिप तो था ही, ताड़का का पति होने से बलान्वित भी हो उठा। फिर वह धन और बल के अहङ्कार से मुनियों का तिरस्कार करने लगा। महर्षि अगस्त्य विवेक के प्रतीक हैं, लोभ के समुद्र को उन्होंने पी लिया है।

कुम्भज लोभ उदधि अपार के।

उनके समक्ष धन और बल का अहङ्कार व्यर्थ है। अतः उनका

तिरस्कार करने के कारण सुन्द का विनष्ट हो जाना स्वाभाविक था। इस प्रकार लोभ की राजसिक प्रवृत्ति अहङ्कार के कारण राक्षसत्व में परिणत हो जाती है; यह उपाख्यान इसका दृष्टान्त है। धन और वल दोनों का सदुपयोग जीवन को राजसिकता से सात्विकता की ओर ले जाता है। ताड़का (वल) और सुन्द (धन) का समन्वय अगस्त्य (विवेक) की सेवाकर धन्य हो सकता था। विवेक के तिरस्कार के परिणाम स्वरूप धन तो दंडित ही हुआ; किन्तु फिर भी वल ने कोई शिक्षा न ली। उसे आशा थी कि मैं अपने बल से अगस्त्य को विनष्ट कर दूँगी। वस्तुतः यह आशा ही दुराशा के रूप में परिणत हो जाती है। बड़े-बड़े असुर जिन अगस्त्य का बाल बाँका नहीं कर सके; ताड़का ने उन्हें विनष्ट करने का प्रयास करते हुए स्वयं को यक्षिणी से राक्षसी वना डाला। हमारी अधिकांश भौतिक बल और धन से प्रेरित आशाएँ, हमारे अन्तःकरण में नई इच्छाओं का सृजन कर अंत में दुराशा के रूप में परिणत हो जाती हैं। फिर यह दुराशा पीछा नहीं छोड़ती। सुन्द की मृत्यु के पश्चात् भी ताड़का का जीवित रहना इसी धारणा की पुष्टि करता है। रामचंद्रिका में केशवदास ने इस दुराशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है।

कपै बर वानी, डिगै उर डीठि, त्वचा तिकुचै।
सकुचै मति बेली, नवै नवग्रीव थकै गति केशव
वालक ते संग ही संग खेली।।
लिए सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा की सहेली।।
भगै सब देह दशा जिय साथ रहै दुरि दौरि दुराशा अकेली।।

विनय-पत्रिका में भी गोस्वामी जी ने आशा को पिशाची कहकर पुकारा है।

कपि सुग्रीव विभीषन निसिचर को नहिं कियो अयाची।
अव तुलसिहि दुख देत दयानिधि दारुन आस पिसाची।।

इस दुराशा राक्षसी का वध ही, ताड़का का वध है। जव भक्त के अन्तःकरण में भगवान के प्रति सच्चे विश्वास का उदय हो जाता है, तव दुराशा की दुखद सृष्टि में रहने की कोई आवश्यकता उसके जीवन में शेष नहीं रह जाती।

प्रभु के एक ही बाण से ताड़का विनष्ट हो जाती है। यह एक ही बाण ज्ञानियों की दृष्टि में माया के मिथ्यात्व का निश्चय है। माया मिथ्या है; फिर भी वह व्यक्ति को यथार्थ प्रतीत होती है।

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोंपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।।

जो यथार्थ है उसको विनष्ट करने के लिए प्रयास और संघर्ष करना पड़ता है, किन्तु जो वस्तु अज्ञानजन्य है उसे नष्ट करने के लिए केवल ज्ञान की ही अपेक्षा है। नदी में यदि कोई सचमुच डूब रहा हो तो उसे बचाने के लिए नौका मल्लाह आदि कई उपकरण अपेक्षित हैं; किन्तु जो स्वप्न में स्वयं को नदी में डूबता हुआ अनुभव कर रक्षा के लिए पुकार रहा है, उसे वचाने के लिए केवल जगा देना ही यथेष्ट है।

हे हरि! यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-संदेह न जाई।।१।।
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाय मृगबारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे।।२।।
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै।।३।।
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-बिबेक ते, ब्यवहारी सुखकारी।।४।।
तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग, जदपि झूठ श्रुतिगावै।
रघुपति-भगति, संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै।।५।।

इसलिए ताड़का के बध के लिए केवल एक ही बाण का प्रयोग किया गया। भक्तों की दृष्टि में ताड़का दुराशा है। दुराशा का तात्पर्य ही है भविष्य की कोई सुखद कल्पना। जिस कल्पना के पीछे कोई तार्किक परिणति न हो, ऐसी दुराशा प्रारम्भ में सुखानुभूति की आशा दिलाती है और व्यक्ति को अंत में शोकातुर बना देती है। व्यक्ति के समक्ष भविष्य का कल्पित भय उसे आतंकित बना देता है। उससे छुटकारा पाने के लिए वह आशा के काल्पनिक चित्र का आश्रय लेता है। भक्त के समक्ष भविष्य का कोई भय

नहीं होता; क्योंकि उसका भविष्य पूरी तरह प्रभु के हाथों में सुरक्षित है; उसे प्रभु के मङ्गलमय विधान पर पूर्ण विश्वास है। इसलिए उसे किसी काल्पनिक आशा के सहारे स्वयं को संतुष्ट रखने की कोई आवश्यकता नहीं है, विश्वास ही उसका परम बल है।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
स्वाति सलिल रघुबंसमनि चातक तुलसीदास॥

इसलिए भक्तों के लिए यह "एकहि बाण" विश्वास है।

ताड़का-वध के तत्काल बाद गोस्वामी जी एक अनोखी पंक्ति प्रस्तुत करते हैं।

तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही।
बिद्या निधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥

पंक्ति का यह वाक्य आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि ताड़का वध के पश्चात् महर्षि ने प्रभु को पहचाना। क्योंकि महामुनि तो प्रभु के दर्शन से पहले ही उन्हें जान चुके थे, ऐसा स्पष्ट वर्णन किया जा चुका है।

तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।
प्रभु अवतरेहु हरन महि भारा॥

ऐसी स्थिति में अब पहचानने का क्या प्रश्न शेष रह जाता है? किन्तु गोस्वामी जी विरोधाभास की चिन्ता किए बिना यह लिखते हैं कि ताड़का-वध के पश्चात् महर्षि नें उन्हें पहचान कर समस्त विद्याएँ अर्पित कीं। इस प्रश्न का समाधान भिन्न स्तरों से किया जा सकता है। ताड़का-वध के पूर्व महर्षि का ज्ञान सैद्धान्तिक था, ताड़का-वध से वह ज्ञान पूरी तरह प्रमाणित हो गया। किसी भी सिद्धान्त की यथार्थता का परिचय उसकी व्यावहारिक परिणति पर ही निर्भर है। श्रीराम की ईश्वरता के ज्ञान का क्षणिक उदय तो रावण के अन्तःकरण में भी होता है।

सुर नर असुर नाग मुनि माहीं।
मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥
खर दूषन मो सम बलवंता।
तिन्हहिं को मारहि बिनु भगवंता॥

किन्तु सैद्धान्तिक ज्ञान की व्यावहारिक परिणति सर्वथा उल्टी हुई। स्वर्ण-मृग के पीछे भगवान राम को भागते देखकर रावण को यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यह तो कोई राजकुमार मात्र हैं। सिद्धान्त का स्वर्ण, परिणाम की कसौटी पर ही कसा जाता है। महर्षि विश्वामित्र ने अपने आश्रम में जो सिद्धान्त स्थिर किया था, ताड़का-वध से उसकी पूर्ण पुष्टि हो गई।

महाराज श्रीदशरथ की भावभूमि के संदर्भ में इसे भिन्न रूप में भी देखा जा सकता है। महर्षि विश्वामित्र ने महाराजश्री से वार्तालाप करते हुए उनसे अज्ञान का परित्याग करने का अनुरोध किया था। "तजहु मोह अग्यान" महर्षि का संकेत यह था कि राजन्, यह पहचानने की चेष्टा कीजिए कि आप जिन्हें पुत्र समझ बैठे हैं वे वस्तुतः कौन हैं? किन्तु यह अज्ञान अविवेकजन्य न होकर स्नेहजन्य था, इस अज्ञान का भी अपना एक अलौकिक सुख है। महर्षि को इस अज्ञानानन्द का कोई अनुभव न था। प्रभु ने महर्षि के साथ मार्ग में चलते हुए अपनी वालसुलभ लीलाओं से उन्हें ऐसी मनःस्थिति में ला दिया कि महर्षि अपने पुरातन भाव को भूलकर महाराजश्री के समान ही वात्सल्य रस में डूब गये। गीतावली रामायण में गोस्वामी जी ने इस वात्सल्य का बड़ा ही मधुर चित्र प्रस्तुत किया है।

ऋषी सँग हरषि चले दोउ भाई।
पितु-पद बंदि सीस लियो आयसु, सुनि सिष आशिष पाई ।।१।।
नील पीत पाथोज बरन बपु, बय किसोर बनि आई।
सर धनु-पानि, पीत पट कटि तट, कसे निखंग बनाई ।।२।।
कलित कंठ मनि माल, कलेवर चंदन खौरि सुहाई।
सुंदर बदन, सरोरुह-लोचन, मुख छवि बरनि न जाई ।।३।।
पल्लव, पंख, सुमन सिर सोहत क्यों कहौं वेब-लुनाई।
मनु मूरति धरि उभय भाग भइ त्रिभुवन सुन्दर ताई ।।४।।
पैठत सरनि, सिलन चढ़ि चितवत खग-मृग-बन रुचि राई।
सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई ।।५।।
एक तीर तकि हती ताड़का, विद्या विप्र पढ़ाई।
राख्यो जग्य जीति रजनीचर, भई जग-बिदित बड़ाई ।।६।।

चरन-कमल-रज-परस अहल्या निज पति लोक पठाई।
तुलसिदास प्रभु के बूझे मुनि सुरसरि कथा सुनाई ।।७।।

* * * *

मुनि के संग विराजत बीर।
काकपच्छ धर, कर कोदंड-सर, सुभग पीतपट कटि तूनीर ।।१।।
वदन इंदु, अंभोरुह लोचन, स्याम गौर सोभा सदन सरीर।
पुलकत ऋषि अवलोकि अमित छवि, उर न समाति प्रेम की भीर ।।२।।
खेलत, चलत, करम मग कौतुक, विलँबत सरित-सरोवर-तीर।
तोरत लता, सुमन, सरसीरुह, पियत सुधासम सीतल नीर ।।३।।
बैठत विमल सिलनि विटपनि तर, पुनि पुनि वरनत छाँह समीर।
देखत नटत केकि, कल गावत मधुप, मराल, कोकिला, कीर ।।४।।
नयननि को फल लेत निरखि खग, मृग, सुरभी, ब्रजवधू-अहीर।
तुलसी प्रभुहिं देत सब आसन निज-निज मन मृदु कमल कुटीर ।।५।।

महाराज श्रीदशरथ ने श्रीराघवेन्द्र को अर्पित करते समय महर्षि से भाव भरे शब्दों में कहा था? "महामुनि यह दोनों पुत्र मुझे प्राण के समान प्रिय हैं और आज से उनके एकमात्र पिता आप ही हैं।"

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ।।

महाराजश्री के शब्दों में जो अमित वात्सल्य था उसने सचमुच ही विश्वामित्र को अभिभूत कर दिया और वे महामुनि के स्थान पर वात्सल्य भरे पिता मात्र रह गये। फिर राघव ने वनमार्ग में वाल-लीला का जो कौतुक किया वह भी तो अनुपमेय था। किशोर राघव के लिए यह यात्रा सर्वथा नूतन प्रकार की अनुभूतियों से भरी हुई थी। राजकुल के वैभव और परिच्छद से दूर वनमार्ग में यह उन्मुक्त विहार उनके लिए प्रथम अवसर था और वे इस यात्रा का समग्र आनन्द लेते हुए चल रहे थे। पक्षियों के कमनीय कण्ठ से कूजित स्वरावली को अपने स्वर में उतार जब दोनों बन्धुओं की प्रतिद्वन्दिता प्रारम्भ हुई होगी, उस दिव्यानन्द की अनुभूति के अभि-व्यक्ति के लिए शब्द सही माध्यम नहीं हैं। महर्षि भावरस में विभोर

हो उठे, आँखों से प्रेमाश्रु छलक उठा, अनगिनत वर्षों से कर्मकाण्ड और ज्ञान की शुष्क साधना से समाहित अन्तःकरण नई अनुभूतियों से थिरक उठा। पुरुष पुरातन ही जव मयूर पक्ष-धर होकर नाच रहा हो तव वृद्ध ऋषि का अन्तःकरण वालक वनकर इनके साथ नाचने के लिए क्यों न मचल उठता? लता-कुञ्ज से पुष्पों के रंग विरंगे स्तवक तोड़कर जब दोनों किशोर परस्पर एक दूसरे का शृङ्गार करने लगे, तव क्या महर्षि के जटाजूट इस दिव्य शृङ्गार से वञ्चित रह जाते? श्रीराघवेन्द्र ने मंद-मंद मुस्कुराते हुए श्रीलक्ष्मण के कानों में धीरे से कहा——लक्ष्मण गुरुदेव के जटाजूट में इस रक्तिम पुष्प गुच्छ को सजा दो। उन्हें संकोच लग रहा है, श्रीलक्ष्मण दौड़कर महर्षि के स्वर्णिम जटाजूट में पुष्पों का शृङ्गार कर देते हैं। गुरुदेव की यह नई छवि देखकर दोनों वन्धु प्रेम-पुलकित होकर नाच उठते हैं। अगले ही क्षण किसी सरोवर में प्रफुल्लित पंकजों को देख उन्हें ले आने के लिए जव सरोवर के जल में कूद पड़े, महर्षि विश्वामित्र का अन्तःकरण भय से अभिभूत हो उठा, व्यग्रता भरे स्वर में पुकार उठे! राघव सुनो तो, सरोवर में जल गहरा है, डूवने का भय है, वापस लौट आओ। महर्षि की व्यग्रता पर प्रभु मन ही मन मुस्करा उठते हैं। ब्रह्म के डूवने का भय तो वात्सल्य राज्य में ही सम्भव है। क्या आश्चर्य है इस अनोखे कौतुक में? ब्रह्मर्षि का ज्ञान भी आँख-मिचौनी के खेल में छिपे हुए इस किशोर ब्रह्म को न ढूँढ पा रहा हो।

पर इस दृश्य पर पटाक्षेप हुआ। सामने उग्रकर्मा ताड़का थी और किशोर के मुख पर उद्दीप्त शौर्य था। एक ही वाण से ताड़का को मृत होते देख महर्षि का ज्ञान पुनः सजग हो उठा। उन्हें पहचानते देर न लगी कि साक्षात् ब्रह्म ही किशोर के रूप में उनके साथ चल रहा है और तव उन्होंने अपनी समग्र विद्याएँ प्रभु को अर्पित कर दीं। यह मानों नदियों का समुद्र की ओर प्रयाण था। सरिताओं के जीवन के दो रूप हमारे समक्ष आते हैं। एक ओर वे पर्वत की ऊँचाइयों से उतरकर विघ्न-वाधाओं को पार करती हुई जन-जन को जीवन का दान देकर स्वच्छता, शीतलता और तृप्ति का दान देती हैं। किन्तु

सरिता की लम्बी यात्रा यहीं नहीं समाप्त होती, वह उद्दाम गति से दौड़ती हुई कहाँ जा रही है ?

सरिता जल जलनिधि में जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।।

सरिता की समग्रता स्वयं को समुद्र में विलीन कर देने में है। विद्या की भी स्थिति यही है। विद्या के द्वारा लोगों की अधिकाधिक सेवा हो, वह लोगों के चरित्र को स्वच्छ बनावे; अज्ञानजन्य श्रम का निवारण करे, समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, इन सबमें उसकी उपयोगिता है। पर इसका अंतिम उद्देश्य स्वयं को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना है। महर्षि ने विद्या के दोनों स्वरूपों को सार्थक किया। लोक मङ्गलविधायिनी विद्या प्रभु में समर्पित होकर पूर्ण हो जाती है।

महर्षि द्वारा समर्पित की गई विद्या की विशेषता गोस्वामी जी ने इस पंक्ति में प्रस्तुत की है।

जाते लाग न छुधा पिपासा।
अतुलित बल तनु तेज प्रकासा।।

"इस विद्या के प्रभाव से भूख प्यास की अनुभूति नहीं होती साथ ही शरीर में अतुलित बल और तेज का प्रकाश होता था।" भूख और प्यास की निवृत्ति के लिए तो आवश्यक है ही; किन्तु साथही शरीर के वल और तेज के संरक्षण के लिए भी यह अपेक्षित है। महर्षि की इस विद्या में यह विलक्षणता थी कि वह व्यक्ति के शरीर को सर्वथा निरपेक्ष वना देती थी। किन्तु यह विद्या जिन्हें समर्पित की गई वे तो स्वयं ही इनसे निरपेक्ष थे। उन्हें अपनी तृप्ति, वल और तेज के लिए किसी वहिरङ्ग वस्तु की अपेक्षा नहीं है। वाल्मीकि के शब्दों में उनका शरीर सच्चिदानन्द रूप है।

चिदानंदमय देह तुम्हारी।
बिगत बिकार जान अधिकारी।।

फिर भी लोक-लीला में वे एक मनुष्य के समान ही आचरण करते हैं।

नर तनु धरेहु संत सुर काजा।
कहहु करहु जस प्राकृत राजा।।

इसलिए वे नरलीला में भूख और प्यास को भी स्वीकार करते हैं।

सजल नयन कछु मुख करि रूखा।
चितइ मातु लागी अति भूखा।।

प्रभु की बाल-लीला की इस झाँकी में इसी नाट्य का दर्शन होता है। अतः विश्वामित्र के द्वारा दी गई विद्या नाट्य की इस आवश्यकता की पूर्ति करती है। एक राजकुमार के रूप में राक्षसों से संघर्ष करने के लिए उन्हें वल और तेजस्विता की आवश्यकता है। वन में संघर्ष करते हुए उन्हें भोजन और जल की अपेक्षा हो सकती है, जो वहाँ सरलता से उपलब्ध नहीं होती। इसलिए महर्षि ने दिव्य विद्या के द्वारा प्रभु के संघर्ष में सहायता प्रदान की, मानो प्रभु के चरित्र का ही यह एक दिव्य दर्शन है; कि वे अपनी अलौकिकता के लिए भी दूसरों के ऋणी बनकर कृतज्ञता प्रगट करते हैं। पर सत्य तो यह है कि प्रभु के प्रति सर्मपित होकर महर्षि की विद्या ने ही अपनी अपूर्णता दूर की। महर्षि की विद्या में शरीर की भूख-प्यास जन्य अभाव को दूर करने की सामर्थ्य भले ही हो, पर काल के रूप में शरीर की सबसे बड़ी वाधा को दूर करने की सामर्थ्य इसमें नहीं है। भूख और प्यास की अनुभूति इस विद्या के प्रभाव से भले ही न हो, पर मृत्यु का द्वार तब भी अवरुद्ध नहीं होता। अतः महर्षि के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यही थी कि अपूर्ण पात्र में उनका यह विद्यामृत भी पात्र के टूटते ही विखर जाएगा। इस अपूर्णता का समाधान उन्हें प्रभु के चिन्मय श्रीविग्रह में प्राप्त हुआ। अतः महर्षि ने प्रभु को विद्या अर्पित कर अपनी विद्या को धन्य और पूर्ण वना लिया।

मंत्र-विद्या, के इस समर्पण के साथ-साथ महर्षि ने वे समग्र आयुध भी अर्पित कर दिये, जिनका उन्होंने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में निरर्थक समझकर परित्याग कर दिया था। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के साथ हुए संघर्ष में उनके ब्रह्म–दण्ड के समक्ष विश्वामित्र के सारे आयुध व्यर्थ हो गए थे। महर्षि विश्वामित्र पर इसकी वड़ी तीव्र

प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने आयुधों को छोड़कर ब्रह्मतेज को ग्रहण करने का प्रयास किया था। किन्तु इससे आयुधों की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती; वस्तुतः यह आयुधों के दुरुपयोग की निरर्थकता थी। शस्त्र के द्वारा शासक उन पर नियंत्रण रखता है जिनकी पशु-वृत्ति है; किन्तु शस्त्र का कार्य विवेक और विचार पर शासन करना नहीं है। अस्त्र-शस्त्रों को ही विवेक और विचार के अनुकूल संचालित होना चाहिए। आज महर्षि को अपनी आँखों के समक्ष शस्त्र की उपयोगिता का दर्शन हुआ, और तब उन्हें प्रतीत हुआ कि क्यों न उन आयुधों को भी प्रभु को समर्पित कर दिया जाय; जिन्हें मैंने व्यर्थ समझकर छोड़ दिया। इन हाथों में पहुँच कर वे अस्त्र-शस्त्र धन्य हो उठे।

आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आन।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगत हित जान।।

अस्त्र-समर्पण के पश्चात् महर्षि प्रभु को अपने आश्रम में ले आते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समर्पण की यह प्रक्रिया मार्ग में ही समाप्त हो गई। भावनात्मक दृष्टि से इस प्रक्रिया के द्वारा महर्षि ने समर्पण को सच्चा अर्थ प्रदान किया, समर्पण प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। आश्रम में ले आकर समर्पण करने पर यह आश्रमस्थ लोगों को ज्ञात हो जाता। महर्षि की दृष्टि में यह अपनी वस्तु का प्रभु के प्रति अर्पण न होकर उनकी ही वस्तु का उनके प्रति अर्पण था।

त्वदीयं वस्तु गोविद! तुभ्यमेव समर्पये।

"यज्ञ-संरक्षण"

प्रातःकाल होते ही प्रभु ने महर्षि विश्वामित्र से निर्भय होकर यज्ञ करने का अनुरोध किया। यज्ञ प्रारम्भ हुआ, मुनि-मण्डली उत्साहपूर्वक यज्ञ में आहुति देने लगी। श्रीमद् राघवेन्द्र स्वयं धनुष-बाण लेकर यज्ञ-संरक्षण के लिए प्रस्तुत हो गए। महात्माओं के मन्त्रोच्चारणपूर्वक उत्साह से दी जाने वाली आहुति से, मारीच और सुबाहु को यह समझते देर न लगी कि आज कोई विशिष्ट-शक्ति मुनियों को संरक्षण प्रदान कर रही है। इसलिए वे भी सदल-बल आक्रमण के लिए आ पहुँचे। मारीच को देखते ही प्रभु ने उस ऐसे बिना फलकी के बाण का प्रयोग किया जिसकी चोटसे वह समुद्र तट पर जा गिरा। पावकास्त्र के प्रयोग से प्रभु ने सुबाहु को भस्म कर दिया। इन्हीं क्षणों के बीच जब प्रभु इन दो राक्षसों से उलझे हुए थे तब वीराग्रगण्य लक्ष्मण ने सारी सेना को समाप्त कर दिया। राक्षस वीरों के विनष्ट होते ही मुनि लोग पूरी तरह निश्चिन्त और आनन्दमग्न हो गए। देवता और मुनि प्रभु की स्तुति करने लगे।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई।
निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई।।
होमकरन लागे मुनि-झारी।
आपु रहे मख की रखवारी।।
सुनि मारीच निसाचर कोही।
लै सहाय धावा मुनि द्रोही।।
बिनु फर बान राम तेहि मारा।
सतजोजन गा सागर पारा।।
पावक सर सुबाहु पुनि मारा।
अनुज निसाचर कटकु सँघारा।।
मारि असुर द्विज निर्भयकारी।
अस्तुति करहिं देव मुनि झारी।।

यद्यपि मारीच और सुबाहु दोनों ही ताड़का के पुत्र थे और यज्ञों को विनष्ट करने में दोनों की समान भूमिका प्रतीत होती है

फिर भी भगवान राम दोनों के प्रति पृथक् दण्ड-नीति का प्रयोग करते हैं। वे पावकास्त्र के द्वारा सुवाहु को भस्म कर देते हैं; किन्तु मारीच के लिए वे विना फलक का बाण उपयोग करना ही उचित मानते हैं। इस वाण से मारीच समुद्र तट पर जा गिरता है। समान अपराध पर दण्ड-विधान की यह पृथकता गंभीर रहस्यों की ओर इङ्गित करती है।

आध्यात्मिक अर्थों में मारीच और सुवाहु दोष और दुःख के प्रतीक हैं।

सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलहिं नाम जिमि रबि निसि नासा॥

मारीच दोष है और सुवाहु दुःख। दुःख का पूरी तरह विनाश ही व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य है। यों तो व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख का चक्र चलता ही रहता है, पर इस दुःख और सुख की क्रमिक अनुभूति से व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह तो ऐसा सुख चाहता है जिसमें दुःख का लेश भी न हो। सुस्वादु चावल के बीच एक कंकड़ी भी जैसे भोजन के आनन्द को किरकिरा कर सकती है, उसी तरह दुःख ही नहीं, उसकी स्मृति-मात्र व्यक्ति को व्यथित बना देती है। किन्तु दुःख को विनष्ट करने की बलवती आकांक्षा होते हुए भी व्यक्ति उसे पूरी तरह विनष्ट करने में सफल नहीं हो पाता। सुख और दुःख की परिभाषाएँ भी बदलती रहती हैं। आज जिन वस्तुओं और व्यक्तियों को वह सुखद समझकर एकत्र करता है वे ही कल दुःख और भारस्वरूप बन जाती हैं। अतः व्यक्ति और वस्तु के माध्यम से समग्र सुख प्राप्त करने की अभिलाषा दुराशा मात्र है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अनजाने में दुःख को ही सुख के रूप में वरण कर लेता है। इसलिए सुबाहु को दुर्दशा रूप ताड़का का पुत्र कहना बड़ा स्वाभाविक प्रतीत होता है। व्यक्ति और वस्तुओं से बार-बार दुःखानुभूति होते हुए भी हम यही आशा लगाए बैठे रहते हैं कि अब दूसरा व्यक्ति सम्भवतः ऐसा नहीं निकलेगा। वस्तुएँ जड़ हैं; वे स्वयं को वदलने में असमर्थ हैं। व्यक्ति की अभिलाषा के अनुरूप प्रतिक्षण स्वयं को परिर्वातत करते रहना उनके लिए

सम्भव नहीं है। जड़-प्रकृति में परिवर्तन की आकांक्षा प्रवञ्चना मात्र है। चन्द्रमा को देखकर यदि किसी के अन्तःकरण में कवित्व और राग का सञ्चार हो यह आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु वियोग और व्याकुलता की मनःस्थिति में वही व्यक्ति चन्द्रमा को दुःखदायी मानने लगे तो इसमें बेचारे चन्द्रमा का क्या दोष है? श्रीमद् राघवेन्द्र ने दो भिन्न अवसरों पर मानव-मन की इस विलक्षणता का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

जनकपुर की पुष्पवाटिका में सीता के सौन्दर्य का दर्शन करने के पश्चात् उनके अन्तःकरण में जिस कवित्व का स्फुरण होता है उसका बड़ा ही मनोरम चित्र गोस्वामी जी इन पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं।

बिगत दिवस गुरु आयसु पाई।
संध्या करन चले दोउ भाई।।
प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा।
सिय मुख सरिस देख सुख पावा।।
बहुरि विचार कीन्ह मन माहीं।
सीय बदन सम हिमकर नाहीं।।
जनम सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चंद्र बापुरो रंक।।
घटहिं बढ़हिं बिरहिन दुखदायी।
ग्रसहि राहु निसि संधी पायी।।
कोक सोक प्रद पंकज द्रोही।
अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।।
बैदेही मुख पटतर दीन्हे।
होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे।।
सिय मुख छवि बिधु ब्याज बखानी।
गुरु पर चले निसा बड़ जानी।।

सायंकाल सन्ध्या के समय पूर्ण चन्द्रमा को उदित देखकर श्रीरामभद्र को श्रीसीता के मुखचन्द्र की स्मृति हो आती है; किन्तु अगले ही क्षण तुलना में चन्द्रमा दरिद्र और दोषपूर्ण प्रतीत होने

लगा। वे उसे श्रीसीताजी की तुलना में दरिद्र और बेचारा कहकर नगण्य मान लेते हैं। किन्तु लङ्का के सुबेल शैल पर विरही राघव को चन्द्रमा सिंह के समान निःशङ्क और विजेता दिखाई देता है। वे अपनी मित्रमंडली के समक्ष चन्द्रमा का यह चित्र उपस्थित करते हैं।

पूरब दिशा विलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखउ ससिहि मृगपति सरिस असंक।।
पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी।
परम प्रताप तेज बल रासी।।
मत्तनाद तम कुंभ विदारी।
ससि केसरी गगन बन चारी।।
बिथुरे नभ मुक्ताहल तारा।
निसि सुन्दरी केलि सृंगारा।।

चन्द्रमा वही था; किन्तु संयोग की सुखद स्मृतियों में डूबे हुए श्रीराम को चन्द्रमा जैसा प्रतीत होता है, वियोगी श्रीराघवेन्द्र की मनः-स्थिति की भिन्नता से उसे आज सर्वथा पृथक् रूप में देखते हैं। दुःख और सुख की इस परिवर्तित धारणा को प्रकट करने के लिए ही प्रभु ने सुबेल शैल पर अपने मित्रों से प्रश्न किया—"मित्रों इस उज्ज्वल चन्द्रमा में यह श्यामता कैसी है? इस विषय में आपलोग अपने-अपने व्यक्तिगत विचार प्रगट करें।"

कहँ प्रभु ससि में मेचकताई।
कहउ काह निज निज मति भाई।।

प्रश्न का मुख्य उद्देश्य यह प्रगट करना था कि एक ही समय में समीप प्रतीत होने वाले व्यक्तियों में भी दृष्टिकोण की भिन्नता से पदार्थ में अलग-अलग भावों की अनुभूति होती है। जिन मित्रों और सेवकों से यह प्रश्न किया गया था वे थे सुग्रीव, विभीषण, अंगद और हनुमान। सुग्रीव की गोद में प्रभु का सिर था, विभीषण उनके कान के निकट बैठे हुए थे, अंगद और हनुमान जी की गोद में श्रीराघवेन्द्र के युगल चरण कमल सुशोभित हो रहे थे। पर मनःस्थिति की भिन्नता से इन लोगों के द्वारा दिये जाने वाले उत्तर सर्वथा विरोधी प्रतीत होते हैं।

इस प्रश्नोत्तर के लिए चन्द्रमा की श्यामता को केन्द्र बिन्दु बनाया जाना भी साभिप्राय है। पौराणिक मान्यता की दृष्टि से चन्द्रमा विराट के मन का प्रतीक है।

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज रूप सचराचर, रूप राम भगवान।।

उत्तरों का यह पार्थक्य यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि अपने ही मनश्चन्द्र को व्यक्ति विराट के चन्द्रमा में आरोपित कर लेता है। इन उत्तरों में कौन-सा उत्तर वास्तविक है यह विचार करना सर्वथा व्यर्थ है। वस्तुतः इन उत्तरों में उन पात्रों की मनोवृत्ति ही परिलक्षित हो रही है जो वहाँ प्रभु के सन्निकट बैठे हुए थे। चन्द्रमा में उज्ज्वलता और श्यामता दोनों के ही दर्शन होते हैं, चाहे इसे हम दोष और गुण के प्रतीक के रूप में देखें अथवा दुःख और सुख के रूप में। इसके द्वारा सृष्टि के सार्वभौम द्वन्द्व का परिचय प्राप्त होता है। दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात्रि का यह मिला जुला रूप ही तो संसार है। इसे देखकर तो संस्कृत का एक कवि कह उठा था कि--"न जाने यह संसार अमृतमय है अथवा विष से भरा हुआ है।"

क्वचिद्वीणावादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितं
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्त कलहः।
क्वचिद्रामा रम्याः क्वचिदपि गलत्कुष्ठवपुषो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः।।

चन्द्रमा की उज्ज्वलता को लेकर श्रीराघवेन्द्र ने कोई प्रश्न नहीं किया। यद्यपि उज्ज्वलता की तुलना में श्यामता की मात्रा सर्वथा नगण्य है। उज्ज्वलता सुख का प्रतीक है। व्यक्ति उसे सहज भाव से ग्रहण कर लेता है पर श्यामता के रूप में दुःख की क्षणिक अनुभूति भी उसे व्यथित बना देती है। वह सृष्टि निर्माता से यह जानना चाहता है कि इस सृष्टि में दोष, दुःख और पीड़ा के सृजन की क्या उपयोगिता है? चन्द्रमा की द्वन्द्वात्मक रचना का उद्देश्य क्या था, इसे तो विधाता ही जाने; किन्तु चन्द्रमा स्वयं को परिवर्तित करने में असमर्थ है। अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह स्वयं की दृष्टि को बदल पाता है या नहीं। अपने मित्रों के द्वारा दिये जाने वाले उत्तरों में जिस उत्तर ने

उन्हें उन्मुक्त आनन्द से हँस पड़ने की प्रेरणा प्रदान की, वह उत्तर था भक्ताग्रगण्य श्रीहनुमान का। वे अपने उत्तर के द्वारा विरह व्यथित राघवेन्द्र को आनन्दित कर सके यही उस उत्तर की चरम सार्थकता थी। प्रभु में यद्यपि अज्ञान का लेश भी नहीं है फिर भी नर नाट्य में उन्होंने स्वयं को एक ऐसे विरही व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया, जिसे चन्द्रमा में अमृत के स्थान पर विष की श्यामता का दर्शन होता है। जो स्वयं तो दुःखी है; किन्तु अपनी विषैली किरणों के द्वारा संसार के विरही प्राणियों को जलाता रहता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीहनुमान जी की भूमिका ऐसे तत्वज्ञ की है जो सोचने की दृष्टि को ही परिवर्तित कर देती है। चन्द्रमा की श्यामता का कारण ढूँढ़ते हुए जब अन्य उत्तरदाता आकाश और पाताल के चक्कर लगा रहे थे, तव ज्ञानियों में अग्रगण्य श्रीहनुमान ने श्रीराघवेन्द्र के श्यामवर्ण की ओर सङ्केत किया। श्यामता के इतने सन्निकट होते हुए भी यदि लोगों की दृष्टि दूर-दूर बाहर भटक रही है तो उसमें जीव की उस वहिर्मुखता का दर्शन होता है जिसे हम इन्द्रियों की वाध्यता कह सकते हैं। विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को जो ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं, उनकी सवसे वड़ी वाध्यता यही है कि वे केवल वाहर की ओर देख पाती हैं। नेत्र दूरस्थ ग्रह-नक्षत्रों को देख लेते हैं, किन्तु अपनी निकटस्थ आत्मा को देख पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता। सीमित विषयों को देखने के लिए उपलब्ध इन्द्रियों को यदि हम परमार्थ सत्य में लगाना चाहें तो हमें उसके लिए इन इन्द्रियों की असमर्थता स्वीकार करते हुए ज्ञान-दृष्टि से विचार करना होगा। प्रभु पूछते हैं---यह श्यामता कैसी और हनुमान कहते हैं– यह श्यामता तो प्रश्नकर्ता की अपनी ही है। यह श्यामता दुःख और दोष की श्यामता न होकर पूर्ण ब्रह्म की श्यामता है। पूर्ण ब्रह्म ! जिसमें न संयोग है और न तो वियोग। आद्या-शक्ति श्रीसीता से पृथक् न होने पर भी वह स्वयं में वियोग आरोपित कर आँसू वहाता दिखाई देता है।

कबहुँ जोग बियोग न जाके।
देखा प्रकट विरह दुःख ताके।।

उनकी ही श्यामता की ओर इङ्गित करके हनुमान जी ने प्रभु

को उनके स्वरूप की ही स्मृति दिला दी और परिणाम स्वरूप ब्रह्म का अखण्ड आनन्द उसकी हँसी के माध्यम से होठों पर थिरक उठा।

कहँ हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरत बिधु उर वसत, सोइ स्यामता अभास।।
पवन तनय के वचन सुनि, बिहँसे राम सुजान।
उत्तर दिसा बिलोकि पुनि, बोले कृपानिधान।।

व्यक्ति के माध्यम से प्राप्त होने वाले सुख के साथ दूसरी समस्या जुड़ी हुई है। जड़ पदार्थ भले ही हमसे किसी प्रतिदान की आशा न रखते हों, किन्तु चेतन व्यक्ति प्रतिदान की आशा ही नहीं रखता; अपितु वह कम से कम देकर उसके वदले में अधिक से अधिक सुख पाना चाहता है। ऐसी स्थिति में जव किसी व्यक्ति को यह प्रतीत हो कि वह अधिक देकर कम पा रहा है तव उसे घाटे की अनुभूति व्यथित वनाती रहे यह स्वाभाविक ही है। अतः व्यक्ति और वस्तु से समग्र सुख की अभिलाषा मृग-मरीचिका मात्र है। व्यक्ति और वस्तु से सुख पाने का एकमात्र उपाय यही है कि उससे प्रतिदान की आशा न रखकर अपनी ओर से ही वितरण के आनन्द का अनुभव किया जाय। अतः आशा के परित्याग के वाद दुःख का विनष्ट हो जाना ही स्वाभाविक है। दुराशारूपी ताड़का की मृत्यु के पश्चात् सुवाहु के विनाश का वर्णन इसी प्रक्रिया की ओर इङ्गित करने के लिए किया गया है।

"आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।"

किन्तु मारीच के साथ किया जाने वाला भिन्न व्यवहार दोष की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। दोषों का निराकरण एक गम्भीर समस्या है। केवल उनकी गणना अथवा निन्दामात्र से दोषों का निराकरण सम्भव नहीं है। मानस के उत्तरकाण्ड में दोष और गुण को लेकर एक विलक्षण वाक्य कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि दोष और गुण वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं।

सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखहिं, देखेहि सो अविवेक।।

इस पंक्ति की पृष्ठभूमि जान लेने पर यह वाक्य बड़ा ही विरोधा-

भासी सा प्रतीत होता है। श्रीभरत भगवान राम से संत श्रौर श्रसंतों का वर्णन सुनना चाहते थे। उनकी इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान राम ने विस्तार से संतों श्रौर श्रसंतों के गुण श्रौर दोषों की व्याख्या की। गुण श्रौर दोष की इस व्याख्या के पश्चात् उपसंहार में यह कहना कि गुण श्रौर दोष की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं है--श्राश्चर्यजनक--सा प्रतीत होता है। श्रान्तरिक दृष्टि से विचार करने पर विरोधाभासी प्रतीत होने वाला यह वाक्य सर्वथा तात्त्विक श्रौर यथार्थ जान पड़ता है। यदि दोष श्रौर गुण सचमुच ही एक दूसरे से भिन्न हों, तव यह कलङ्क उसके निर्माता ईश्वर पर ही श्राता है कि उसने दोष का निर्माण किया ही क्यों? किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी पदार्थ के लिए श्रच्छा श्रथवा बुरा कहना केवल व्यावहारिक सत्य् है। श्रमृत गुण है श्रौर विष दोष है इसे प्रत्येक व्यक्ति सरलता से कह सकता है; क्योंकि श्रमृत पीकर श्रमरता प्राप्त होती है श्रौर विष से मृत्यु होती है। समुद्र-मन्थन का उद्देश्य श्रमृत की उपलब्धि था। देवता भी श्रमरता के उद्देश्य से ही इस महत् प्रयत्न में संलग्न हुए थे, किन्तु समुद्र-मन्थन में निकले हुए विष से वे संत्रस्त होकर जलने लगे। पर हलाहल के प्राकट्य ने इस तथ्य को उजागर कर दिया कि श्रमृत श्रौर विष की उत्पत्ति का मूल केन्द्र एक ही है। एक ही तत्त्व से श्रभिव्यक्त होने वाले दो पदार्थों में इस प्रकार परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों की श्रभिव्यक्ति कैसे हुई? क्या विष सचमुच मारक ही है। भगवान शिव ने हलाहल विष का पान करके इस धारणा को ही झुठला दिया कि विष मारक है।

नाम प्रभाव जान सिव नीको।
काल कूट फल दीन्ह श्रमी को।।

यद्यपि व्यावहारिक जगत में विष श्रौर श्रमृत का भेद माना ही जाता रहेगा, किन्तु एक ऐसा स्तर श्राता है कि जब इनमें भिन्नता के स्थान पर एक पूर्ण तत्त्व का दर्शन होता है। ऐसी दृष्टि प्राप्त हो जाने पर न तो श्रमृत का प्रलोभन ही रहता है श्रौर न तो विष का भय। निर्गुण तत्त्व ही देश, काल श्रौर व्यक्ति के भेद से गुण श्रौर श्रवगुण के रूप में श्रलग-श्रलग प्रतीत होता है। एक व्यक्ति के जीवन में जिस

वस्तु को देखकर गुण का बोध होता है उसी को भिन्न प्रसङ्ग में अवगुण कहकर पुकारा जाता है। हिंसा की गणना निकृष्टतम पापों में की जाती है, किन्तु उसीको युद्ध में प्रयुक्त किये जाने पर शौर्य और वीरता का परिचायक माना जाता है। त्याग और अहिंसा की शास्त्रों में बार-बार सराहना की गई है; किन्तु महाभारत के प्रारम्भ में अर्जुन जब हिंसा से विरत होकर त्याग और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए प्रस्तुत होता है तब श्रीकृष्ण उसके इस मनोभाव को क्लीवता कहकर पुकारने में संकोच नहीं करते। शान्तिप्रिय श्रीराघवेन्द्र भी खरदूषण के सन्धि प्रस्ताव को कायरता के रूप में स्वीकार करते हैं।

रन चढ़ करहिं कपट चतुराई।
रिपु पर कृपा परम कँदराई।।

नदी जीवनदायिनी है। उसका जल व्यक्ति को शीतलता और तृप्ति का दान देता है। बाढ़ के समय नदी का वही जल मृत्यु का संदेशवाहक बन जाता है। ऐसी स्थिति में जल को भले ही शब्द-कोष में जीवन कहकर पुकारा गया हो। स्वयं अपने आप में न तो जीवन है और न ही मृत्यु। इसलिए दोष के विरुद्ध साधक का संघर्ष अद्भुत विरोधाभासों से भरा हुआ है। वस्तु का सदुपयोग ही गुण है और उसका दुरुपयोग अवगुण। इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तथाकथित दोषों को विनष्ट करने के स्थान पर उन्हें सही दिशा में उन्मुक्त किया जाना चाहिए।

भगवान राम के द्वारा मारीच के ऊपर बिना फलक के बाण का प्रयोग किया जाना इसी मनोभाव का सूचक है। बाण लगते ही मारीच समुद्र तट पर आ गिरता है। ऐसा लगता है मानो भगवान राम और उसके बीच में एक लम्बी दूरी आ गई है। किन्तु यथार्थ वह है—जब वह शरीर से श्रीराम के निकट था तब मानसिक दृष्टि से वह प्रभु से सर्वथा दूर था। पर दूर होते ही उसे सर्वत्र श्रीराम का दर्शन होने लगता है। रावण को अपने संस्मरण सुनाते हुए अपनी इस मनःस्थिति का वर्णन उसने इन शब्दों में किया

मुनि मख राखन गयउ कुमारा।
बिनु फल सर रघुपति मोहि मारा।।

सत जोजन आयउ न माहीं।
तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं।।
भई मति कीट भृंग कि नाई।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई।।

मारीच को हम दोष-युक्त मन का प्रतीक कह सकते हैं। मन प्रतिक्षण नए-नए रूप बदलता रहता है। वह किस समय क्या वन जायेगा यह बता पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है। विनय-पत्रिका में तुलसीदास मन के इस वहुरङ्गे चित्त का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ! मन जरत त्रिविध जुर, करत फिरत बौराई।।१।।
कवहुँ जोगरत, भोग-रत सठ हठ वियोग-वरु होई।
कवहुँ मोह वस द्रोह करत वहु, कवहुँ दया अति सोई।।२।।
कवहुँ दीन, मति हीन, रंकतर, कवहुँ भूप अभिमानी।
कवहुँ मूढ़ पंडित विडंवरत, कवहुँ धर्मरत ग्यानी।।३।।
कवहुँ देव! जग धनमय रिपुमय कवहुँ नारिमय भासै।
संसृति-संनिपात दारुन दुख विनु हरि कृपा न नासै।।४।।
संजम, जप, तप, नेम, धरम, व्रत वहु भेषज-समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग राम पद-प्रेम-हीन नहिं जाई।।५।।

प्रिय अथवा अप्रिय लगने वाले प्रत्येक पदार्थ से तद्रूप हो जाना ही मन का सहज स्वभाव है। मारीच भी रूप परिवर्तन की कला में अद्वितीय था। रावण श्रीसीता के हरण का निश्चय कर लेने के पश्चात् मारीच से इस संकल्प की पूर्ति में सहयोग चाहता है। विशेष रूप से उसे ऐसे स्वर्णमृग की आवश्यकता जान पड़ती है, जो अपने स्वर्णिम आकर्षण से जानकी जी को मुग्ध कर सके। पर साथ ही जो इतना चञ्चल हो, जो क्षण भर में ही दूर भागकर श्रीराम को पीछे दौड़ पड़ने के लिए बाध्य कर सके। यह चञ्चलता भी मन का ही स्वरूप है। ताड़का-रूपा दुराशा से ऐसे दोषयुक्त मन का मारीच के रूप में जन्म लेना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है; जो काल्पनिक स्वर्ण की सृष्टि करने में समर्थ हो। दुराशा (ताड़का) के द्वारा

उत्पन्न सुनहली कल्पनाओं वाला मन (मारीच), दुराशा की मृत्यु के पश्चात् यज्ञस्थली से दूर भले ही चला गया हो; किन्तु अखण्ड-ज्ञान-घन प्रभु को यह ज्ञात है कि उसका विनाश अभी नहीं हुआ है। मारीच के उपयोग का संकल्प एक साथ ऐसे दो पात्रों के मन में उदित होता है जो एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं। वे हैं भगवान राम और रावण।

श्रीसीता को अपहृत करने की योजना रावण के अन्तःकरण में विद्यमान है। सीता वेदान्तियों की भाषा में शान्तिस्वरूप हैं, उन्हें भक्त साक्षात् पराभक्ति के रूप में पहचानते हैं। पुरुषार्थियों के लिए वे शक्ति हैं तो असमर्थ वालकों की वात्सल्यमयी माँ। उनके अपहरण की योजना वनाने वाला रावण मूर्तिमान मोह है। मोह जीवन में तभी सफल हो पाता है, जव व्यक्ति मन की सुनहली कल्पनाओं को यथार्थ मानकर उन्हें पाने का प्रयास करे। जव स्वर्णमृग का प्रलोभन विवेक को इतना आच्छन्न कर ले कि संभव-असंभव का विचार किए विना ही विवेक उसके पीछे भाग खड़ा हो, तव जीवन से शान्ति का खो जाना स्वाभाविक है। अथवा जव कोई भक्त भगवान से भी मिथ्या स्वर्णिम मृग की याचना करे; ईश्वर को मिथ्या के पीछे भागने के लिए वाध्य करे, तव भक्ति का मोह के स्वर्ण-दुर्ग में वन्दी हो जाना स्वयं सिद्ध है। जव कोई पुरुषार्थी पुरुषार्थ का प्रयोग ऐसी वस्तु के लिए करे जो अवास्तविक हो, तव शक्ति का असमर्थ होकर विलाप करना कौन रोक सकता है। रावण चाहता है कि राम स्वर्णमृग के पीछे भागें तभी तो सीता का हरण कर सकेगा। इसलिए लङ्का के अनेक शक्तिशाली राक्षसों को छोड़कर वह एकान्तवासी मारीच के पास आकर अपना प्रस्ताव रखता है।

होउ कपट मृग तुम्ह छलकारी।
जेहि विधि हरि आनौं नृप नारी।।

दूसरी ओर समानान्तर योजना भगवान राम की है। मोह को विनष्ट करने के लिए ज्ञान में सक्रियता की आवश्यकता है। वैसे ज्ञान में स्वयं कर्म की प्रेरणा नहीं होती। "कर्म कि होइ स्वरूपहि चीन्हे"—कहकर इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यदि नाट्य में भी उसे कर्त्तव्य कर्म की भूमिका का निर्वाह करना हो तो

किसी अंश में कामना और कर्तृत्व की स्वीकृति देनी होगी। इसलिए यदि वे स्वर्ण-मृग के पीछे भागने का अभिनय करते हैं तो इसके द्वारा वे मोह को विनष्ट करने की भूमिका का ही निर्वाह कर रहे हैं। रावण इस सत्य को न समझ पाने के कारण अपनी सफलता से प्रसन्न हो जाता है। वह सोचता है कि स्वर्ण-मृग के पीछे राम का भागना उसके षड्यन्त्र की सफलता का परिणाम है। भगवान राम की इस योजना में मारीच की भूमिका बड़ी ही अद्भुत है। बाहर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मारीच सब कुछ रावण की आज्ञा से ही कर रहा है; किन्तु उस प्रसङ्ग को गम्भीरता से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह श्रीराम की ही आज्ञा का पालन कर रहा है। विश्वामित्र की यज्ञस्थली में श्रीराघवेन्द्र के बाण के माध्यम से वह उनके ईश्वरत्व को पहचान चुका था। इसीलिए रावण के द्वारा अपहरण की योजना सुनकर प्रारम्भ में मारीच उससे राघवेन्द्र से विरोध छोड़ देने का अनुरोध करता है।

तेहिं पुनि कहा सुनहु दससीसा।
ते नर रूप चराचर ईसा॥
तासों तात बयरु नहिं कीजै।
मारे मरिअ जिआएँ जीजै॥
मुनि मख राखन गयउ कुमारा।
बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं।
तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं॥
भइ मन कीट भृंग की नाईं।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥
जौ नर तात तदपि अति सूरा।
तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥
जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड।
खर दूषन तिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड॥

मारीच के उद्बोधन से रावण क्रुद्ध हो उठता है। रावण, मारीच से यह स्पष्ट बता देना चाहता है कि यदि वह उसकी

आज्ञा का पालन नहीं करेगा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जायेगा।

गुर जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।
कहु सठ मोहि समान को जोधा।।

मारीच को प्रतीत होता है कि आज उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है; किन्तु उसके समक्ष मृत्यु के दो द्वार खुले हुए हैं। या तो वह क्रुद्ध रावण की तलवार द्वारा मृत्यु का ग्रास बने या भगवान राम के बाणों के द्वारा शरीर-बन्धन को विच्छिन्न होने दे। उसे यह सोचकर अत्यन्त व्याकुलता होती है कि रावण के आदेश का पालन करने पर उसे राघवेन्द्र के समक्ष कपट वेष में जाना होगा और श्रीसीता जी के हरण का हेतु भी बनना पड़ेगा। इसी अन्तर्व्यथा की मन:स्थिति में वह मन ही मन प्रभु के शरणागत होता है। मन के द्वारा प्रभु के सन्निकट होते ही उसका सारा ही दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। उसे ऐसा लगा कि जैसे प्रभु उससे यह कह रहे हों—"क्या यह अद्‌भुत विरोधाभास नहीं है कि एक ओर तो तुम मुझे ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हो और दूसरी ओर तुम्हारी यह धारणा है कि तुम्हारे कपट वेष से मैं किसी भ्रान्ति में पड़कर सीता को खो बैठूँगा। वस्तुत: अनजाने में स्वयं रावण ही मेरे यन्त्र के रूप में कार्य कर रहा है। रावण के विनाश के लिए आद्याशक्ति सीता को लङ्का में जाना ही होगा। हरण की इस योजना के मुख्य पात्र एकमात्र तुम हो। तुम्हारे बलिदान से मेरे ही संकल्प की पूर्ति होगी।" बस यहीं से मारीच का अन्त:करण पूरी तरह परिवर्तित हो जाता है। उसे यह सोचकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि उसकी इस कपट-कला का कोई सदुपयोग प्रभु के चरित्र में हो सकता है और तब वह प्रसन्नता में भरकर प्रभु की ओर चल पड़ता है।

उभय भाँति देखेउ निज मरना।
तब ताकेसि रघुनायक सरना।।
उतर देत मोहि बधिय अभागे।
कस न मरउँ रघुपति सर लागे।।
मन अति हरष जनाव न तेही।
आजु देखहउँ परम सनेही।।

निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल कर फल पाइहौं।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं।।
निर्वान दायक क्रोध जाकर भगत अवसहिं वस करहिं।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधहि सुख सागर हरिहि।।
मम पाछे धर धावत धरे सरासन वान।
फिरि फिरि प्रभुहि विलोकिहों, धन्य न मो सम आन।।

भक्तिशास्त्र की यह मान्यता है कि अन्तःकरण के तथाकथित दोषों को भी यदि प्रभु के साथ जोड़ दिया जाय तो दूषण भी भूषण वन जाते हैं। मारीच की यह कपट-कला जो संसार में प्रयुक्त किए जाने पर केवल छलनामयी होती, प्रभु की लीला में उसी का उपयोग मारीच की मुक्ति का हेतु वन जाता है। अभी तक दोषयुक्त मन का सञ्चालन मोहरूप रावण के द्वारा होता था, अव वह वदलकर अखंड-ज्ञान-धन प्रभु के द्वारा सञ्चालित होने जा रहा है। भक्ति-रूपा सीता मारीच को देखकर वात्सल्य से भर उठती हैं और तव वे प्रभु को प्रेरित करती हैं कि ऐसे मन को वे स्वयं से एकाकार कर लें। दोषयुक्त मन प्रभु के सम्मुख पहुँचकर भी अपने दोषों की स्मृति से भयभीत होकर प्रभु के सामने से भाग खड़ा होता है। उसे प्रभु की उस वाणी का स्मरण होता है, जिसमें यह कहा गया है कि निर्मल मन वाला ही मुझे पा सकता है। मुझे कपट और छल-छिद्र प्रिय नहीं लगते।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

अतः उसका प्रभु के समक्ष आकर पुनः लौटने का प्रयास स्वाभाविक है। किन्तु भक्ति का वात्सल्यमय स्वभाव इसे नहीं सह पाता कि कोई प्रभु के इतने निकट पहुँचकर फिर उनसे दूर चला जाय। जीव का ईश्वर से मिलन करा देना ही उनकी करुणा का सर्वोच्च रूप है। इसीलिए वे मारीच को भागते हुए देखकर प्रभु से अनुरोध करती हैं कि वे मृग के पीछे दौड़ें और यदि उसे पकड़ना सम्भव हो तो जीवित पकड़ लावें नहीं तो उसका बधकर चर्म ही ला दें।

कपट-कुरंग कनक मनि मय लखि प्रिय सों कहति हँसि वाला।
पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला।।

दोषयुक्त मन की अन्तिम परिणति यही है कि या तो वह प्रभु के वाणों से बिद्ध होकर अपने आवरण को भङ्ग हो जाने दे अथवा मन, पालित मृग वनकर अपनी चञ्चलता भरी कुलाञ्च से भक्ति देवी को रिझाता रहे। अतः विश्वामित्र की यज्ञस्थली में मारीच को पूरी तरह विनष्ट न करके, दूषण के भूषण वन जाने का मार्ग प्रशस्त किया गया।

कृपा भलाई रावरी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजस चारु चहुँ ओर।।

भक्तिदर्शन का मुख्य उद्देश्य भी यही है।

विशेषज्ञ डाक्टरी

जिगर, दिल औ

है... और कभी-